राजस्व के सिद्धान्त

एवं

भारतीय वित्त-व्यवस्था

लेखक

रघुवीर सिंह जैन एम ए., एम. कॉम.

भू० पू० अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, दिगम्बर जैन कॉलिज, बड़ौत (मेरठ)

पूर्णतया संशोधित संस्करण

प्रकाशक

रस्तोगी एण्ड कम्पनी

मुद्रक तथा प्रकाशक, मेरठ.

१९५९]

मूल्य तीन रुपये
पिछत्तर नये पैसे

भूमिका

एक समय था जबकि आर्थिक विषयों में राजकीय हस्तक्षेप को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। परन्तु धीरे धीरे समय ने पलटा खाया और आर्थिक विषयों में राजकीय हस्तक्षेप बढ़ने लगा। १९४७ ई० की रूस की क्रान्ति के पश्चात तो यह बात सिद्ध हो गई कि राज्य अपनी कर आदि द्वारा आय प्राप्त करने तथा उसको जनता के लिए खर्च करने की नीति से सार्वजनिक हित पर बड़ा प्रभाव डाल सकता है। इसी कारण जन साधारण का ध्यान राजस्व के विषय की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि बहुत से विश्वविद्यालयों में राजस्व को अध्ययन का एक विषय रखा गया है। इस विषय के ऊपर अंग्रेजी में तो बहुत सामग्री उपलब्ध है परन्तु हिन्दी में इस पर अभी बहुत कम लिखा गया है। हिन्दी के राष्ट्र भाषा घोषित हो जाने के पश्चात बहुत से विश्वविद्यालयों ने विद्यार्थियों को अपने उत्तर हिन्दी में लिखने की सुविधा प्रदान की है। विद्यार्थी भी अधिकाधिक संख्या में इस अवसर से लाभ उठा रहे हैं और हिन्दी की पुस्तकों की अधिकाधिक मांग कर रहे हैं। मैंने इस पुस्तक को लिखकर विद्यार्थियों की इस मांग को पूरा करने का प्रयत्न किया है।

इस पुस्तक को दो खण्डों में विभाजित किया गया है। पहले खण्ड में राजस्व के सिद्धान्तों को समझाने का प्रयत्न किया है तथा दूसरे खण्ड में भारतीय राजस्व के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। इस पुस्तक के लिखने में मैंने इस बात का प्रयत्न किया है कि विद्यार्थियों को अपनी आवश्यकता की अधिक से अधिक सामग्री मिल सके तथा उस सामग्री को इतनी सरल भाषा में रखने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक पढ़ने वाला उसको बिना कठिनाई के समझ सके। आशा है मैं अपने प्रयत्न में सफल हो सकूंगा।

इस पुस्तक के लिखने में बहुत सी पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि से सहायता ली गई है जिनका उचित स्थानों पर उल्लेख किया गया है। जहां तक हो सका है वर्तमान आंकड़े देने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु कई स्थानों पर और विशेषत स्थानीय राजस्व में वर्तमान आंकड़ों के अभाव में कुछ पुराने आंकड़े ही दिए गए हैं।

इस पुस्तक में जिन विशिष्ट शब्दो (Technical Terms) का प्रयोग किया गया है उनको मैंने डा० रघुवीर के हिन्दी-अंग्रेजी के कोष से लिया है। बहुत से स्थानों पर मैंने इस कोष के कठिन शब्दो के स्थान पर अपने सरल शब्दों का ही प्रयोग किया है।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे अपने मित्र श्री भारतसिंह जी उपाध्याय एम० ए०, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, दिगम्बर जैन कालिज, बडौत से बहुत सहायता प्राप्त हुई है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हू।

दिगम्बर कालिज
बडौत
१०-९-५५

रघुवीर सिंह जैन

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

भारतीय राजस्व

राजस्व

PUBLIC FINANCE

अध्याय १

राजस्व क्या होता है ?

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह बिना दूसरे की सहायता लिए स्वय अपनी सब आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता। इसलिए उसको दूसरो की सहायता प्राप्त करना अनिवार्य है। इन आवश्यकताओ में से कुछ ऐसी हैं जिन की पूर्ति के लिए न तो कोई व्यक्ति स्वय प्रयत्न ही करता है और न ही वह यदि वह प्रयत्न भी करे, उनकी पूर्ति कर सकता है। ऐसी आवश्यकताओं में से कुछ यह हैं– विदेशियो के अत्याचारो से अपने आपको बचाना, आने जाने के लिए सडकें तथा रेलें बनवाना, चिकित्सा के लिए हस्पताल बनवाना, रात्रि के समय उन सब स्थानो पर जहा वह जाना चाहता है रोशनी का प्रबन्ध करना, चोर, डाकुओ से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए पुलिस का प्रबन्ध करना आदि। परन्तु फौज, सडक, रेल, हस्पताल, पुलिस आदि के बिना न तो व्यक्ति अपने जीवन को सुरक्षित ही समझ सकता है और न ही उसका उचित ढङ्ग का विकास ही हो पाता है। इसी कारण मनुष्यो ने मिल कर राज्य का निर्माण किया। प्रारम्भ में राज्य का मुख्य कार्य देश की बाह्य आक्रमणो से रक्षा करना और देश में आन्तिरिक शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना था। परन्तु धीरे धीरे राज्य के कार्य का विस्तार होता गया और आजकल जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र दृष्टिगोचर नही होता जहा कि राज्य का कुछ न कुछ हस्तक्षेप न हो।

राज्य के उचित कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में विभिन्न विचार मिलते हैं। अराजकतावादी (Anarchist) विचार धारा के लोगो का विश्वास है कि एक ऐसी दशा आएगी जब मनुष्य नैतिकता के इतने ऊचे स्तर पर पहुच जाएगा कि शासन की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। इसके विपरीत साम्यवादी (Communist) विचार धारा के लोगो का मत है कि देश के सब साधन राज्य के हाथ में होने चाहिए और उसको ही सब प्रकार के आर्थिक कार्यों का नियन्त्रण करना चाहिए। इन दोनो सीमाओ के बीच दो प्रकार की और विचार धाराए मिलती हैं। एक विचार धारा फ्रास के फिजियोक्रेट (Physiocrats) तथा इङ्गलैंड के मिल (Mill) तथा आदम स्मिथ

(Adam Smith) की है। इस विचार धारा के लोगो का विश्वास है कि हर व्यक्ति इस बात का प्रयत्न करता है कि उसका अधिक से अधिक हित हो और जब सब व्यक्ति इस प्रकार प्रयत्न करेंगे तो सारे समाज का अधिक से अधिक हित होगा। इसलिए राज्य को व्यक्तियो के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। दूसरी विचार धारा के लोग वह हैं जिनको समूहवादी या समाजवादी (Collectivist or Socialist) कहते है। इस विचार धारा के लोगो का कहना है कि मानव कल्याण के लिए राज्य सीमा रहित शक्तिया धारण कर सकता है।

इन सब विचार धाराओ में अन्तिम अर्थात समाजवादी विचार धारा ही आज कल सब से प्रबल है। आज कल प्राय सब देश इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि वह अपने देश को एक लोक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) बनायें। ऐसा करने के लिए राज्य अधिकाधिक शक्ति अपने हाथ में लेता जा रहा है। प्रथम महा-युद्ध के पश्चात से तो यह बात प्रत्यक्ष रूप में ही दिखाई पड रही है।

शासन को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राज्य के भिन्न भिन्न रूप होते है। उनमें से एक केन्द्रीय शासन होता है दूसरा प्रान्तीय और तीसरा स्थानीय। इन सब के कार्यक्षेत्र भिन्न भिन्न होते है, जैसे भारतवर्ष में केन्द्रीय शासन के हाथ में रक्षा, रेलें, डाक, तार, बड़ी बड़ी सडकें, बडी बडी सिंचाई की योजनाएं आदि है। प्रान्तीय (जिनको अब राज्य कहते है) शासन के हाथ में कृषि, शिक्षा स्वास्थ्य, सडकें, जङ्गलात, पुलिस आदि है। तथा स्थानीय शासन (जिसमें नगर पालिकाए तथा जिला बोर्ड सम्मिलित हैं) के हाथ में नगर अथवा ग्राम की सडकें बनवाने, प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करने, ग्राम में रोशनी, सफाई, स्वास्थ्य, आदि का प्रबन्ध करने का कार्य होता है। इन जनहित कार्यो के लिए इन सब प्रकार के शासनो को धन की आवश्यकता पडती है। यह धन कर (Tax) तथा और दूसरे साधनो द्वारा प्राप्त किया जाता है। भारतवर्ष में केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय शासनो के आय के साधन भिन्न है। इन सबकी आय तथा व्यय का हम राजस्व में अध्ययन करते है।

इस प्रकार राजस्व में हम यह सीखते है कि सरकार किस प्रकार व किन सिद्धान्तो के अनुसार अपनी आय प्राप्त करती तथा उसका व्यय करती है। राज्य की आय व व्यय के लक्षण व सिद्धान्त के अध्ययन को राजस्व कहते हैं।[1] डा० डाल्टन के अनुसार 'इसका सम्बन्ध सार्वजनिक पदाधिकारो (Public Authorities) की आय तथा व्यय तथा इन का एक दूसरे से सामन्जस्य स्थापित करने से है।"[2]

(1) "The investigation into the nature and principles of State Expenditure and Revenue is called Public Finance"— Adam Smith.

(2) Dalton—Principles of Public Finance—P 3.

राजकीय तथा व्यक्तिगत आय-व्यय का भेद
Distinction between Public and Private Finance

राजकीय तथा व्यक्तिगत आय-व्यय मे भेद करते समय हमें यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि जहा तक आय-व्यय के सिद्धान्तो का सम्बन्ध है दोनो मे कोई भेद नहीं है। दोनो के आय-व्यय पर एक ही प्रकार के सिद्धांत लागू होते है। परन्तु फिर भी दोनो में इस प्रकार के भेद है कि एक को दूसरे से अलग करना आवश्यक ही है। यह भेद निम्नलिखित है–

(१) आय और व्यय का सम्बन्ध— राजकीय तथा व्यक्तिगत आय व्यय में विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है। व्यक्ति सदा ही यह प्रयत्न करता है कि वह अपनी आय से अधिक खर्च न करे। इस प्रकार व्यक्ति का व्यय उस की आय से निर्धारित होता है। इस के विपरीत राज्य पहले यह निश्चित करता है कि उसको किस किस मद् पर कितना खर्च करना है। इस प्रकार कुल व्यय का अनुमान लगा कर राज्य यह देखता है कि वह निश्चित किए गए व्यय के लिए कैसे आय प्राप्त करें। इस प्रकार राज्य पहले व्यय निश्चित करता है और फिर आय।

परन्तु राजकीय और व्यक्तिगत आय-व्यय का यह भेद दृढ नहीं है क्योंकि बहुत से अवसरो पर राज्य तथा व्यक्ति दोनो ही इस बात का उलंघन कर देते है। बहुत से अवसरो पर जैसे विवाह, सन्तानोत्पत्ति, मृत्यु आदि अवसरो पर व्यक्ति को सामाजिक कुप्रथाओ के कारण अपनी आय से भी अधिक खर्च करना पडता है। भारतवर्ष में तो यह बात प्राय देखी जाती है। इस प्रकार खर्च करने के पश्चात व्यक्ति अपनी आय बढाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार राज्य के लिए भी सदा यह सम्भव नही है कि वह अपने व्यय के अनुसार आय प्राप्त करने में सफल हो जाए। बहुत से अवसरो पर राज्य को अपना व्यय पूरा करने में बडी कठिनाई का सामना करना पडता है, जैसे व्यापारिक मन्दी (Trade Depression) के समय सरकार को अपने बहुत से खर्च कम करने पडते है। यही बात भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति में भी सत्य है। आजकल भारत सरकार के सामने बहुत सी आर्थिक योजनाए है जिन को वह शीघ्र से शीघ्र पूरा देखना चाहती है परन्तु आय के साधनो की कमी के कारण इन योजनाओ के पूरा होने में बडी कठिनाई उत्पन्न हो रही है। यदि यह बात सदा ही सत्य होती कि राज्य व्यय के अनुसार अपनी आय प्राप्त कर लेता है तो इस प्रकार की कठिनाई के उत्पन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। इस प्रकार यह कहना उचित नहीं जान पडता कि व्यक्ति अपनी आय के अनुसार व्यय करता है और राज्य अपने व्यय के अनुसार आय प्राप्त करता है। वास्तव में यह भेद गुण (Kind) का नही वरन् मात्रा (Degree) का है।

उपर्युक्त कथन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि राजकीय और व्यक्तिगत आय-व्यय में कोई भेद नहीं है, अथवा इन दोनों में भेद करना लाभदायक नहीं है। वास्तव में इन दोनों में भेद करना आवश्यक है, क्योंकि साधारणतया व्यक्ति अपनी आय के अनुसार ही अपना व्यय निश्चित करता है और राज्य अपने व्यय के अनुसार अपनी आय निश्चित करता है और बहुत कम अवसरों पर ही ऐसा होता है कि यह बात ठीक नहीं होती।

ऋण प्राप्ति में भेद— व्यक्ति साधारणतया इस बात का प्रयत्न करता है कि वह अपनी आय तथा व्यय का सन्तुलन करे परन्तु ऐसा होना सदा सम्भव नहीं होता। यदि किसी वर्ष उसकी आय और व्यय बराबर नहीं होते और व्यय अधिक हो जाता है तो वह या तो अपनी भूतकाल की बचत में से उसको पूरा करने का प्रयत्न करता है और यदि उसने कोई बचत न की हो तो वह कहीं से ऋण प्राप्त करता है अथवा अपनी किसी सम्पत्ति को बेचकर धन प्राप्त करता है। इसी प्रकार राज्य के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रति वर्ष ही अपने बजट का सन्तुलन करे। यदि किसी वर्ष आय व्यय से अधिक बढ़ जाता है तो राज्य को भी भूतकाल की बचत में से खर्च करना पड़ता है अथवा अपनी किसी सम्पत्ति को बेचना पड़ता है अथवा कहीं से ऋण लेना पड़ता है। यहां तक तो राज्य तथा व्यक्तिगत आय-व्यय में कोई विशेष भेद नहीं है। हां, इतना भेद अवश्य है कि व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपना बजट बनाए। बहुत से व्यक्ति बजट बनाना तो दूर रहा अपना हिसाब किताब भी नहीं रखते। परन्तु राज्य के लिए बजट का बनाना अनिवार्य है। व्यक्तिगत तथा राजकीय आय व्यय में जो दूसरा भेद है वह ऋण प्राप्ति के सम्बन्ध में है। ऋण दो प्रकार का होता है—(१) बाह्य तथा (२) आन्तरिक। बाह्य ऋण अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति से प्राप्त किया जाता है। परन्तु आन्तरिक ऋण अपने से ही प्राप्त किया जाता है। व्यक्ति केवल बाह्य ऋण ही प्राप्त कर सकता है। वह आन्तरिक ऋण प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि वह अपने आप से कैसे ऋण प्राप्त कर सकता है। परन्तु राज्य बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार ऋण प्राप्त कर सकता है। बाह्य ऋण वह विदेशों से प्राप्त करता है और आन्तरिक ऋण अपने ही देश के लोगों से प्राप्त करता है।

अपने व्यय को पूरा करने के लिए सरकार के पास एक ऐसा साधन है जो व्यक्ति के पास नहीं होता। सरकार को नोट छापने का अधिकार है। इन नोटों को देश के हर व्यक्ति को लेना पड़ता है। जब सरकार का व्यय बहुत बढ़ जाता है जैसे युद्ध काल में अथवा किसी आर्थिक संकट के समय तो वह नोट छाप कर उस खर्च को पूरा कर लेती है। परन्तु व्यक्ति के प्रतिज्ञा-पत्र का कोई मूल्य नहीं होता और न ही वह नोट छाप सकता है। इसलिए उसको बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(३) सीमान्त उपयोगिता का समीकरण— अपनी आय को खर्च करते समय व्यक्ति का यह प्रयत्न रहता है कि वह उसको इस प्रकार खर्च करे जिससे कि उसको हर उपयोग से समान उपयोगिता प्राप्त हो क्योंकि ऐसा होने पर ही वह धन का अधिकतम लाभ उठा सकेगा। व्यवहार में व्यक्तियों को इस प्रकार खर्च करते नहीं देखा जाता, परन्तु यह बात सत्य है कि उनमें से प्रत्येक का, सिवाय उनके जिन को ऐसा करने की बुद्धि नहीं है, इस ओर प्रयत्न अवश्य रहता है। राज्य व्यक्ति से भिन्न होता है। राज्य के लिए यह बात सम्भव नहीं है कि वह विभिन्न उपयोग में किए गए खर्च का ठीक अनुमान लगा सके। परन्तु यहाँ भी इस बात का प्रयत्न अवश्य किया जाता है कि धन का उपयोग इस प्रकार से किया जाए कि उससे प्राप्त उपयोगिता उस हानि से अधिक हो जो कि कर देने वालों को होती है। इस प्रकार यहा भी अधिकतम लाभ का सिद्धान्त सामने रखा जाता है।

व्यक्तिगत आय-व्यय में व्यक्ति यह भी प्रयत्न करता है कि वह अपने धन को इस प्रकार खर्च करे जिससे कि उसको वर्तमान और भविष्य में अपने धन से समान उपयोगिता प्राप्त हो। परन्तु व्यक्ति भविष्य पर सट्टा लगाता है वह वर्तमान को ही अधिक महत्व देकर अधिक धन वर्तमान में खर्च करता है। परन्तु राज्य के सामने खर्च करते समय वर्तमान उतना महत्वपूर्ण नहीं होता जितना कि भविष्य। वित्त मंत्री अपना बजट बनाते समय कभी यह ध्यान नहीं रखता कि वह वर्तमान में अधिक धन खर्च करके अपने युग के लोगों को सुखी बनाए चाहे आगे आने वाली पीढ़ी को इस सुख के लिए बड़े बड़े बलिदान ही क्यों न करने पड़ें। इसके विपरीत बजट बनाते समय वह अपने आपको भविष्य की पीढ़ी का विश्वास भाजन (ट्रस्टी) समझता है और वह सदा यह प्रयत्न करता है कि आगे वाली पीढ़ी को देश की बागडोर सौंपते समय वह इस बात का गर्व करे कि वह देश को उससे अच्छी स्थिति में सौंप रहा है जिस में कि उसने उसको स्वयं लिया था। इस भावना के कारण ही व्यक्तिगत आय-व्यय तथा राजकीय आय-व्यय में बड़ा अन्तर हो जाता है।

(४) आधिक्य बजट में अन्तर— व्यक्ति का सदा ही यह प्रयत्न रहता है कि वह इस प्रकार खर्च करे कि उसके पास कुछ न कुछ बच जाए। यदि बचत न हो तो वह उसको अच्छा नहीं समझता, परन्तु राजकीय बजट में यदि बचत दिखलाई जाती है तो उस पर बड़ा वाद विवाद होता है क्योंकि बचत का अर्थ लोग यह लगाते हैं कि उन पर अधिक कर लगाए गए हैं और अधिक कर देने के लिए कोई भी तैयार नहीं होता। परन्तु यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हीन बजट को भी अच्छा नहीं समझा जाता। इसके विपरीत उस बजट को अच्छा समझा जाता है जो सन्तुलित हो।

(५) व्यक्ति के आय साधन सीमित तथा राज्य के असीमित—व्यक्ति के साधन बहुत ही सीमित होते है। यदि किसी कारण उसका व्यय अचानक ही बढ जाय तो वह उसको पूरा करने के लिए अपनी आय के साधन नही बढा सकता परन्तु राज्य के आय के साधन बहुत से होते है। यदि किसी समय व्यय बढ जाता है तो सरकार आय प्राप्ति के बहुत से ढङ्ग निकाल लेती है।

(६) राज्य के लिये अधिक धन का व्यय कभी कभी लाभप्रद पर व्यक्ति के लिये नहीं—हर व्यक्ति को अपना व्यय अपनी आय के अनुसार ही रखना चाहिए अधिक व्यय उसके लिए लाभप्रद नही होता। परन्तु राज्य के लिए कभी कभी अधिक व्यय बहुत ही आवश्यक है। यदि राज्य अधिक धन का व्यय राष्ट्र के प्राकृतिक साधनो का उपयोग करने के लिए करता है तो उससे देश का धन व सम्पत्ति बढती है और बेरोजगारो को रोजगार मिलता है। यह बात देश हित के लिए आवश्यक है।

(७) व्यक्तिगत आय भेदपूर्ण परन्तु राजकीय ऐसा नहीं—हर व्यक्ति इस बात का प्रयत्न करता है कि वह किसी को भी अपनी आय व्यय का पता न होने दे। इसके लिए वह बडी सावधानी से काम लेता है। परन्तु राज्य अपनी आय तथा व्यय की सूचना खूब फैलाने का प्रयत्न करता है। ऐसा करने से उसकी साख घटने के बदले बढती है।

(८) राजकीय बजट मे परिवर्तन सुगम—एक व्यक्ति के लिए यह बडा कठिन है कि वह अपनी आय तथा व्यय को अपनी इच्छानुसार बढा घटा सके। यदि वह चाहे भी कि उसकी आय पहले से दुगनी अथवा तिगुनी हो जाए तो भी (सीमित साधनो के कारण) वह कभी भी अपनी आय को एक सीमा से अधिक नही बढा सकेगा। इसी प्रकार व्यय को कम करना भी उसके लिए बडा कठिन है क्योंकि जीवन-स्तर के नीचा होने पर व्यक्ति को कष्ट होता है। परन्तु राज्य अपनी इच्छानुसार अपनी आय तथा व्यय में परिवर्तन करता रहता है। वह एक काफी बडी सीमा तक अपनी आय भी बढा सकता है और आवश्यकता पडने पर उसको कम भी कर सकता है। ऐसा करने पर उसको व्यक्ति के समान कष्ट नही होता।

अधिकतम समाज-हित सिद्धान्त—(Principle of Maximum Social Advantage)

अब से लगभग डढ सौ वर्ष पूर्व लोगो का यह विश्वास था कि सरकार को कम से कम कर वसूल करके कम से कम धन व्यय करना चाहिए। जे० बी० से (J B Say) इसी मत के थे। उनका कहना था कि राजस्व की सबसे अच्छी योजना कम खर्च करना है और सबसे अच्छा कर वह है जो मूल्य में सबसे कम हो। इस प्रकार की विचार धारा के दो कारण थे। एक तो यह था कि उस समय लोगो

में व्यक्तिवाद (Individualism) की भावना बड़ी प्रबल थी। वे समझते थे कि सबसे अच्छा शासन वह है जो लोगों की स्वतन्त्रता तथा उनके धन पर कम से कम आघात पहुंचाए। दूसरा कारण यह था कि उस समय के लोगों का विश्वास था कि सरकार का सब रुपया अनुत्पादक कार्यों में खर्च होता है। इसके विपरीत व्यक्ति अपना धन उत्पादक कार्यों पर खर्च करता है। इसी कारण ग्लैडस्टन (Gladstone) का कहना था कि धन व्यक्तियों के पास बढ़ने के लिए छोड़ देना चाहिए।

अब हमको यह विचार करना चाहिए कि उपर्युक्त विचार धारा कहां तक सत्य है। यह सोचना कि हर प्रकार का कर बुरा होता है बिल्कुल गलत है। इसके विपरीत यह सोचना भी उतना ही गलत है कि हर प्रकार का राजकीय व्यय अच्छा होता है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि मदिरा पर लगाए गए कर से उसके मूल्य में वृद्धि होती है और उसके उपभोग में कमी होती है इसलिए वह कर अच्छा कहा जा सकता है। इसके विपरीत सरकार का जो व्यय अनावश्यक युद्धों के लड़ने में खर्च होता है उसको बुरा कहा जायगा परन्तु जो धन गरीबों अथवा बेरोजगारों को आर्थिक सहायता देने में खर्च किया जाएगा वह अच्छा व्यय ही कहा जाएगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि न सब कर बुरे हैं और न सब राजकीय व्यय ही। दोनों ही जनता के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं।

अब हम दूसरी बात पर विचार करेंगे कि कहां तक सरकार द्वारा किया गया व्यय अनुत्पादक तथा व्यक्ति द्वारा किया गया व्यय उत्पादक होता है। आदम स्मिथ तथा रिकार्डो का मत था कि व्यक्तियों द्वारा किया गया व्यय उत्पादक तथा राज्य द्वारा किया गया व्यय अनुत्पादक होता है। इस बात का निर्णय करने के लिए हमको यह देखना पड़ेगा कि उत्पादक तथा अनुत्पादक व्यय कौनसा होता है? वह खर्च जिससे जनता को लाभ पहुंचता है उत्पादक कहा जा सकता है और शेष को अनुत्पादक। यदि इस कसौटी पर हम राज्य द्वारा शिक्षा, चिकित्सा आदि पर किए गए व्यय को कसें तो हम यह कह सकते हैं कि यह उत्पादक खर्च है क्योंकि इस व्यय से जनता की कार्यकुशलता तथा योग्यता बढ़ती है। इसके विपरीत अब कोई व्यक्ति मदिरा अथवा घुड़दौड़ पर अपना धन खर्च करता है तो इससे उसको किसी प्रकार का भी हित नहीं होता। इसलिए उस व्यय को अनुत्पादक ही कहा जाएगा। इस बात से यह सिद्ध हुआ कि जनता तथा राज्य दोनों के द्वारा खर्च किया गया धन उत्पादक भी हो सकता है और अनुत्पादक भी।

अस्तु, राजस्व का सही सिद्धांत यही है कि राज्य को अपने आय-व्यय का प्रबन्ध ऐसा करना चाहिए जिससे कि अधिकतम समाज हित हो। राज्य के बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जिनसे इस उद्देश्य की पूर्ति होती है। सरकार करों के रूप में धनी लोगों से धन एकत्र करती है तथा उस धन को विभिन्न ढङ्गों से फिर जनता

को लौटा देती है, जैसे कुछ तो ठेकेदारों को दे देती है, कुछ सरकारी कर्मचारियों को उनकी सेवाओं के बदले दे देती है और कुछ पेंशन, बेरोजगारी आदि के बीमे के रूप में दे देती है और कुछ शिक्षा, चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करके खर्च कर देती है। इन सब का प्रभाव धन की उत्पत्ति तथा वितरण पर पड़ता है।

राजकीय व्यय का उत्पत्ति पर जो प्रभाव पड़ता है वह उत्पादन शक्ति बढ़ने से पड़ता है। उत्पादन-शक्ति बढ़ने पर कम से कम परिश्रम द्वारा अधिक से अधिक उत्पत्ति प्राप्त करली जाती है। इस के कारण आर्थिक साधनों का कम से कम दुरुपयोग होता है। वितरण पर पड़ा हुआ प्रभाव समाज में धन की असमानता को कम करता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों तथा परिवारों को इस बात का अवसर प्राप्त होजाता है कि वे समय समय पर होने वाली आय की असमानता को कम कर सकें। यह असमानता बुढ़ापे की पेन्शन तथा पारिवारिक भत्तों द्वारा कम हो जाती है। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि राजकीय व्यय द्वारा अधिकतम समाज हित होता है।

यह जानने के लिए कि राष्ट्रीय आय-व्यय के द्वारा अधिकतम समाज हित हुआ कि नहीं हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होगा। प्रथम हमें, यह देखना चाहिए कि अमुक राजकीय व्यय किस उद्देश्य से किया गया है। यदि कोई व्यय किसी बड़ी आर्थिक योजना को सफल बनाने अथवा किसी विदेशी आक्रमण को रोकने के लिए किया गया है तो वह उचित है चाहे उस पर खर्च की गई धन-राशि मात्रा में कितनी भी क्यों न हो। उससे सामाजिक हित की वृद्धि होती है। परन्तु यदि कोई राजकीय व्यय इन उद्देश्यों के लिए नहीं किया गया है तो वह समाज हित को कम करता है चाहे उस पर खर्च किया गया धन कम ही क्यों न हो। दूसरे, कर-पद्धति के स्वरूप और उसकी प्रणाली पर भी ध्यान रखना पड़ेगा। भिन्न भिन्न प्रकार के करों द्वारा समान आय प्राप्त की जा सकती है, परन्तु कुछ करों का भार दूसरों से अधिक प्रतीत होता है। इस कारण समाज-हित उस कर द्वारा बढ़ता है जिसका भार करदाता पर कम से कम पड़े। तीसरे, हमें यह भी देखना पड़ेगा कि करों का देश की उत्पादन शक्ति पर कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि कर प्रणाली का यह प्रभाव होता है कि उसके कारण लोगों की धन बचाने की इच्छा तथा उनकी शक्ति कम होती है तो उससे सामाजिक हित नहीं बढ़ता।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजकीय व्यय का सिद्धांत अधिकतम सामाजिक हित होना चाहिए। यह उचित ढङ्ग से कर लगाने तथा प्राप्त किए गए धन को उचित ढङ्ग से व्यय करने से प्राप्त हो सकता है।

राजस्व के विभाग—

अध्ययन की सुविधा के लिए राजस्व को हम चार भागों में बाट सकते है —

राजकीय व्यय (Public Expenditure) इसके अन्तर्गत राजकीय व्यय की रीतियो तथा सिद्धान्तो का अध्ययन होता है और यह निश्चित किया जाता है कि राज्य को किन कार्यों पर कितना व्यय करना चाहिए।

(२) राजकीय आय (Public Revenue) इस के अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते है कि राजकीय आय कैसे प्राप्त होती है और राज्य को किन किन रीतियो और सिद्धान्तो से वह आय प्राप्त करनी चाहिए।

(३) राजकीय ऋण (Public Debt)—इसके अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते है कि ऋण किन कार्यों के लिए लेना चाहिए, ऋण लेने का सिद्धान्त क्या है और ऋण कैसे चुकाया जाये।

(४) राजस्व का प्रबन्ध (Financial Administration)—इसके अन्तर्गत हम राजकीय आय व्यय और ऋण समस्याओ के वास्तविक प्रबन्ध का अध्ययन करते है। इसमें हम यह भी अध्ययन करते है कि राज्य का बजट किस प्रकार तैयार किया जाता है और किस प्रकार उसके अनुसार ही वह अपना आय व्यय करता है। इसके अन्तर्गत हिसाब की जाच (Audit) भी आती है।

अध्याय २

राजकीय व्यय

(PUBLIC EXPENDITURE)

राजकीय अर्थ-व्यवस्था के दो मुख्य अंग हैं—(१) राजकीय व्यय तथा (२) राजकीय आय। पिछली शताब्दी के अर्थशास्त्रियों ने राजकीय व्यय की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था क्योंकि राज्य के कार्यों का क्षेत्र बहुत ही सीमित था। उस समय के लोगों का मत था कि राज्य को पुलिस राज्य के समान केवल न्याय तथा रक्षा का कार्य ही करना चाहिए और किसी प्रकार के आर्थिक कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। परन्तु तब से अब तक लोगों के विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। अब लोगों का विश्वास है कि राज्य को रक्षा तथा न्याय के अतिरिक्त सामाजिक उन्नति की ओर भी ध्यान देना चाहिए। इस कारण आज कल राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है और उसका महत्त्व अब बहुत बढ़ गया है।

राजकीय व्यय में वृद्धि के कारण—राजकीय व्यय में वृद्धि के निम्नलिखित कारण हैं —

(१) क्षेत्र तथा जन संख्या में वृद्धि—जैसे जैसे समय बीतता गया वैसे ही वैसे राज्यों के क्षेत्रों में वृद्धि होती गई क्योंकि या तो राज्यों ने नए नए देशों को जीत कर उनको अपने अन्दर सम्मिलित कर लिया या उन्होंने देश के उन भागों की ओर भी ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया जो पहले अवनत दशा में थे। इस के अतिरिक्त हर देश की जन सख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। बढ़ते हुए क्षेत्र तथा बढ़ती हुई जन सख्या के कारण राज्य के लिए अधिक कार्य तथा व्यय करना आवश्यक हो गया है।

(२) मूल्यों में वृद्धि—राजकीय व्यय की वृद्धि का दूसरा कारण मूल्यों में वृद्धि है। कहा जाता है कि भारतवर्ष में चाणक्य के समय में (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) वस्तुओं का जो मूल्य था आज उसमें उसकी अपेक्षा सैकड़ों गुनी वृद्धि हो गई है।* अभी पिछले चौदह, पन्द्रह वर्षों में ही मूल्यों में कई गुनी वृद्धि हो गई है। मूल्यों में वृद्धि के कारण राज्य का व्यय बढ़ जाता है क्योंकि एक तो उसको अपने कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि करनी पड़ती है और दूसरे उसको अपनी आवश्यकता के लिए अधिक मूल्य पर वस्तुएं मोल लेनी पड़ती हैं।

*उस समय चावल ।), तेल ॥), घी ॥।), दाल ।), नमक -)॥, शक्कर ।≈) मन थे।

(३) राष्ट्रीय धन व रहन-सहन के दर्जे में उन्नति—संसार प्रगतिशील है। विज्ञान में उन्नति के कारण नई नई चीजों का आविष्कार होता जा रहा है। इन आविष्कारों के कारण कृषि तथा उद्योग धन्धों की बेहद उन्नति हो गई है। और उसके कारण राष्ट्रीय आय भी खूब बढ़ गई है। राष्ट्रीय आय बढ़ने के कारण लोगों के जीवन स्तर तथा राजकीय आय में भी वृद्धि हो गई है। इन बातों के कारण राज्य का व्यय भी बढ़ गया है।

(४) प्रजातन्त्र का भार—प्रजातन्त्र के कारण भी राजकीय व्यय बहुत बढ़ गया है। प्रजातन्त्र में देश के हर कोने के प्रतिनिधि राज्य के कार्यों में भाग लेते हैं और अपने-अपने भाग की आर्थिक कठिनाइयों को दूर कराने का प्रयत्न करते हैं। इन सब कठिनाइयों को दूर करने में सरकार को बहुत अधिक साधन जुटाने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त विधान सभा के सदस्यों का वेतन उन के राजधानी में ठहरने का खर्च तथा उनके यात्रा-व्यय पर भी राज्य को बहुत-सा धन खर्च करना पड़ता है।

(५) दोष पूर्ण अर्थ-प्रबन्ध—राजकीय व्यय इसलिए भी बढ़ जाता है क्योंकि राज्य के अधिकारी देख भाल कर खर्च नहीं करते। हमारे देश में युद्ध से पहले केन्द्र में जितने मन्त्री थे आज उससे लगभग दुगने हैं। राज्य के कर्मचारियों तथा चपरासियों की संख्या भी पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। बहुतसा अनावश्यक खर्च कर दिया जाता है। यही नहीं बहुत सी आर्थिक योजनाओं पर आवश्यता से अधिक खर्च हो जाता है। इन सब बातों के कारण राजकीय व्यय बढ़ना स्वाभाविक ही है।

(६) युद्ध के रोकने का व्यय—प्रथम महा युद्ध के पश्चात् से संसार एक भीषण आपत्ति में को हो कर गुजर रहा है। संसार में सदा युद्ध का भय बना रहता है। द्वितीय महा युद्ध के पश्चात् भी यह भय कम नहीं हुआ है। इस कारण संसार के प्राय सभी देशों को बाह्य आक्रमण का सामना करने के लिए एक बड़ी सेना रखनी पड़ती है। भारतवर्ष में रक्षा सम्बन्धी खर्च लग भग दो सौ करोड़ रुपए है जो कुल व्यय का लगभग ५० प्रतिशत है। रक्षा के लिए इंगलैंड, अमरीका, रूस आदि देशों को भी खूब खर्च करना पड़ता है। इसके कारण राजकीय व्यय बहुत बढ़ गया है।

राजकीय व्यय तथा व्यक्तिगत व्यय का भेद—राजकीय व्यय तथा व्यक्तिगत व्यय में निम्नलिखित अन्तर हैं —

(१) व्यक्तिगत व्यय व्यक्ति की आय से निश्चित होता है परन्तु राजकीय व्यय राज्य की आय पर निर्भर नहीं होता। यहां पहले व्यय का अनुमान लगाया जाता है और फिर आय के साधन खोजे जाते हैं। परन्तु कभी कभी राज्य को भी व्यक्ति के समान मितव्ययिता करनी पड़ती है।

(२) राजकीय व्यय करना आवश्यक है, परन्तु व्यक्तिगत व्यय किया भी जा सकता है और नही भी।

(३) राजकीय व्यय में इतनी मितव्ययिता का ध्यान नही रखा जाता जितना कि व्यक्तिगत व्यय में रखा जाता है।

(४) राजकीय व्यय कभी कभी कुछ लोगो के हित में, जिन का शासन कर्ताओ पर प्रभाव होता है, करना पडता है परन्तु व्यक्तिगत व्यय किसीके प्रभाव के कारण नही किया जाता।

(५) व्यक्ति किसी खर्च को करने से पूर्व यह अच्छी प्रकार देख लेता है कि उसको उससे कुछ लाभ है या नही। जहा उसको लाभ नही होता वहा वह खर्चा करता ही नही। परन्तु राजकीय व्यय में यह बात नही देखी जाती। राज्य को कभी कभी उस समय भी खर्च करना पडता है जबकि उसके करने से राज्य को लाभ न हो, जैसे राज्य को पिछडे हुए भागो में सडक, रेल, डाक, तार, शिक्षा, चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करना पडता है। ऐसे स्थानो पर कोई भी व्यक्ति रुपया खर्च करना नहीं चाहेगा परन्तु राज्य को वह खर्च करना ही पडता है।

राजकीय व्यय के सिद्धात

(Canons of Public Expenditure)

राजकीय व्यय को बिना सोचे समझे नही करना चाहिए। यह व्यय करते समय निम्नलिखित सिद्धातो का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) लाभ का सिद्धात (Canon of Benefit), (२) मितव्ययिता का सिद्धात (Canon of Economy), (३) स्वीकृति का सिद्धात (Canon of Sanction), (४) आधिक्य-सिद्धात (Canon of Surplus), (५) लोच का सिद्धात (Canon of Elasticity)

(१) लाभ के सिद्धांत—राजकीय व्यय का यह सिद्धात है कि जनता का अधिकतम हित होना चाहिए। राजकीय व्यय के द्वारा समाज की उन्नति होनी चाहिए तथा इसके कारण देश में उत्पत्ति बढनी चाहिए। इस व्यय के द्वारा देश बाह्य आक्रमणो तथा आन्तरिक अव्यवस्था से बचना चाहिए। इसके द्वारा देश में आय की असमानता भी दूर हो जानी चाहिए।

लाभ के सिद्धात का अर्थ यह नही है कि कुछ मदों को दूसरो से अधिक महत्वपूर्ण समझकर उन पर सदा ही अधिक धन खर्च किया जाए। कभी कभी रक्षा का व्यय काटकर शिक्षा और स्वास्थ्य पर अधिक खर्च करना पडता है। इस प्रकार राजकीय व्यय इस प्रकार करना चाहिए जिससे कि हर उपयोग से समान उपयोगिता प्राप्त हो। यह बात थोडी कठिन है परन्तु यह सिद्धात के रूप में अवश्य सामने रखनी चाहिए।

लाभ के सिद्धान्त का अर्थ यह भी है कि उसके द्वारा समाज के किसी विशेष व्यक्ति या वर्ग को लाभ नही होना चाहिए जब तक कि (अ) व्यय की धन राशि बहुत कम न हो, (ब) वह धन न्यायालय के द्वारा वसूल न किया जा सके, (स) व्यय किसी एक निश्चित नीति अथवा रिवाज के अनुसार न हो। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार स्कूल, कालिजो तथा हस्पतालो को तो अर्थ-सहायता दी जा सकती है परन्तु मन्दिर या मस्जिद आदि नही बनाये जा सकते।

(२) मितव्ययिता का सिद्धान्त—जनता से प्राप्त किए हुए धन को खर्च करते समय उसी प्रकार की मितव्ययिता से काम लेना चाहिए जिस प्रकार कि व्यक्तिगत धन को खर्च करते समय की जाती है। इस रुपये को धरोहर के रूप में मानना चाहिए और उसको बड़ी सावधानी से खर्च करना चाहिए। इस प्रकार की सावधानी सार्वजनिक कार्यों (Public works) में विशेषत काम में लानी चाहिए। इन कार्यों पर खर्च किया गया रुपया आवश्यक होना चाहिए तथा कार्य उचित दर पर कराना चाहिए। कर्मचारियों का तबादला सोच समझकर करना चाहिए जिससे कि उनके इधर उधर भेजने मे अनुचित खर्च न हो। भारतवर्ष में इस सिद्धान्त का बहुत कम पालन होता देखा जाता है। यहां पर आवश्यकता से अधिक कर्मचारी रखे हुए है, बहुत से कार्य प्रारम्भ करके छोड दिए जाते है और उन पर किया गया व्यय बेकार हो जाता है। 'अधिक अन्न उपजाओ योजना' पर सैकडो करोड रुपया खर्च हुआ परन्तु उससे कोई विशेष लाभ नही हुआ। इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस प्रकार से जनता के रुपये का दुरुपयोग अवश्य रोकना चाहिए।

(३) स्वीकृति का सिद्धान्त—इसका अर्थ यह है कि राजकीय व्यय उस समय तक नही करना चाहिए जब तक कि उसको करने की उचित आज्ञा प्राप्त न कर ली जाये। यदि कोई व्यय बिना स्वीकृति के कर दिया जाए तो व्यय करने वाला कर्मचारी इसके लिए स्वय जिम्मेदार ठहराया जाये। इस सिद्धान्त में निम्नलिखित नियम भी सम्मिलित है —

(अ) किसी भी सरकारी अफसर को उससे अधिक खर्च करने की आज्ञा नही देनी चाहिए जितना कि उसको स्वय स्वीकार करने का अधिकार है।

(ब) ऋण केवल उन्ही चीजो पर खर्च करना चाहिए जिनके लिए धन उधार लिया जा सके और उस ऋण को लौटाने का भी प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए।

(स) स्वीकृति की रीति से सम्बन्धित एक नियम लेखा-परीक्षण (Auditing) का है। सार्वजनिक व्यय के लिए उसकी पूर्व स्वीकृति ही आवश्यक नही है वरन् व्यय करने के पश्चात् उसकी परीक्षा भी उतनी ही आवश्यक है। सभी सार्वजनिक खातो

की प्रति वर्ष जाँच होनी चाहिए जिससे कि अनुचित ढङ्ग से रुपया खर्च न किया जा सके और विभिन्न अधिकारी अपने अधिकारों की सीमा का उल्लंघन न कर सकें।

(४) आधिक्य सिद्धान्त—राजकीय व्यय इतना अधिक नहीं होना चाहिए जिससे कि हीन बजट बने। हीन बजट बनाने से जनता का ऋण-भार बढ़ जाता है और लोगों का देश की अर्थ-व्यवस्था पर से विश्वास उठ जाता है। इसके कारण विदेशों में भी देश की साख कम हो जाती है। हीन बजट की अवहेलना करते हुए ब्रूसेल्स स्थित अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ सम्मेलन ने कहा था, 'जो देश कि हीन बजट की नीति अपनाता है वह फिसलने वाले मार्ग पर चल रहा है जो कि विनाश की ओर ले जाता है, इस मार्ग से बचने के लिए किसी प्रकार का बलिदान भी बहुत अधिक नहीं है।" इस कारण यह आवश्यक है कि हीन बजट न बनाया जाय। बजट बनाते समय वित्त मन्त्री को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह उस व्यय को जो कि पूंजी-व्यय (Capital expenditure) है लाभ-व्यय (Revenue expenditure) न माने अथवा इसके विपरीत न करे नहीं तो बजट द्वारा ठीक स्थिति का ज्ञान न हो सकेगा।

जहाँ तक हो वित्त मन्त्री को सन्तुलित बजट (Balanced Budget) बनाना चाहिए, अर्थात् आय और व्यय प्रायः समान ही रखने चाहियें। ऐसा करने पर ही देश की अर्थ-व्यवस्था ठीक रह सकेगी।

यहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि वित्त मन्त्री को प्रति वर्ष ऐसा बजट नहीं बनाना चाहिए जो कि आधिक्य दिखाये। यदि वह ऐसा बजट बनायेगा तो देश के लोग उस पर यह कह कर आपत्ति उठायेंगे कि उनके ऊपर कर-भार आवश्यकता से अधिक है। इसलिए न तो हीन बजट बनाना चाहिए और न आधिक्य बजट वरन् सन्तुलित बजट बनाना चाहिए।

(५) लोच सिद्धान्त—सार्वजनिक व्यय का लोचदार होना बहुत ही आवश्यक है। खर्च को तभी बढ़ाना चाहिए जबकि स्थायी रूप से आय बढ़ जाये। यदि आय के अस्थायी रूप से बढ़ जाने पर व्यय बढ़ा दिया जाता है तो उससे भविष्य में कठिनाई हो सकती है क्योंकि खर्च का बढ़ाना तो सरल है और उसके बढ़ने पर बहुत से लोगों को रोजगार मिलता है तथा बहुत से लोगों की आय बढ़ती है इसलिए उस पर कोई विशेष आपत्ति नहीं करता परन्तु जब व्यय घटाया जाता है तो उस पर बड़ी आपत्ति की जाती है, जैसे कि भारतवर्ष में बहुत से लड़ाई के दफ्तर बन्द होने पर जब बहुत से कर्मचारी हटा दिए गए तो उन्होंने आपत्ति की। इसलिए व्यय को बढ़ाते समय सावधानी से काम लेना चाहिए।

राजकीय व्यय का वर्गीकरण (Classification of Public Expenditure)—अर्थ शास्त्रियों में इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। प्रत्येक ने अपने ही ढङ्ग से राजकीय व्यय का वर्गीकरण किया है।

उन्नीसवी शताब्दी के अर्थ शास्त्रियो ने राजकीय व्यय का वर्गीकरण, उस व्यय से समाज को होने वाले लाभ के आधार पर या उस व्यय या सेवा के उपलक्ष में जो आय प्राप्त होती है, उसके आधार पर किया है। कुछ लेखको ने राज्य के कार्यो के आधार पर भी वर्गीकरण किया है।

जर्मन लेखक कोह्न (Cohn) तथा अमरीकन लेखक प्लैह्न (Plehn) ने समाज को होने वाले लाभ के आधार पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण किया है। प्लैह्न का वर्गीकरण इस प्रकार है —

(१) वह उस व्यय को सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझता है जो समान रूप से सबको लाभ पहुचाता है, जैसे रक्षा, सडक, शिक्षा आदि का व्यय।

(२) वह व्यय जो कि कुछ व्यक्तियो को विशेष रूप से लाभ पहुचाता है, किन्तु जो सबके लिए समान लाभ कहा जा सकता है, जैसे बेकारो, गरीबो तथा बूढे व्यक्तियो को आर्थिक सहायता देना।

(३) वह व्यय जो कुछ व्यक्तियो को तो विशेष लाभ पहुचाता है परन्तु उससे प्राय सारे समाज ही को लाभ पहुचता है, जैसे न्याय व्यवस्था।

(४) वह व्यय जो कि कुछ ही व्यक्तियो को लाभ पहुचाता है, जैसे राज्य द्वारा सचालित धन्धे।

उपर्युक्त वर्गीकरण असन्तोष जनक प्रतीत होता है क्योंकि यह वैज्ञानिक तथा ठीक नही है। राजकीय व्यय जो कि जनता के हित मे होता है, उसका इस प्रकार वर्गीकरण करना बडा कठिन है। रक्षा व्यय से सभी को समान लाभ तो अवश्य होता है परन्तु उससे धनी लोगो को विशेष लाभ होता है।

निकलसन (Nicholson) का वर्गीकरण इस आधार पर किया गया है कि उस व्यय से राज्य को कितनी आय प्राप्त होती है। उसका वर्गीकरण इस प्रकार है —

(१) वह व्यय जिससे राज्य को कोई भी आय प्राप्त नही होती, जैसे निर्धनो तथा बेकारो को आर्थिक सहायता देना अथवा युद्ध पर व्यय करना।

(२) वह व्यय जिससे राज्य को कोई आय प्रत्यक्ष रूप से तो न होती हो परन्तु उसका परोक्ष रूप मे लाभ पहुचता हो, जैसे शिक्षा व्यय, क्योकि राज्य को शिक्षित लोगो पर अशिक्षित अपराधियो की अपेक्षा कम खर्च करना पडता है।

(३) वह व्यय जिससे राज्य को आशिक आय प्राप्त हो, जैसे वह शिक्षा जिसमे शुल्क लिया जाता हो अथवा वह रेल जिसको राज्य आर्थिक सहायता देता हो परन्तु जो कुछ आय देती हो।

(४) वह व्यय जिससे राज्य को व्यय जितनी आय प्राप्त हो जाये, जैसे डाक खाने, रेल अथवा राजकीय उद्योग धन्धो पर किया गया व्यय।

इस वर्गीकरण को भी सही नहीं माना जा सकता क्योंकि एक श्रेणी का व्यय दूसरी श्रेणी में रखा जा सकता है।

ऐडम स्मिथ ने राजकीय व्यय का वर्गीकरण राज्य के कार्यों के अनुसार किया है। उसने निम्नलिखित श्रेणियाँ तथा उप-श्रेणियाँ दी हैं —

रक्षात्मक कार्य—(अ) सेना, (ब) पुलिस, न्यायालय, (स) सामाजिक रोग (जेलखाने, पागलखाने, निर्धनता, सफाई आदि)।

(२) व्यापारिक कार्य, तथा

(३) विकास सम्बन्धी कार्य—इनमें शिक्षा, सार्वजनिक खोज का कार्य, जैसे अङ्क शास्त्र (Statistics), सार्वजनिक मनोरंजन, निजी व्यापार के चलाने में सहायता देना, सार्वजनिक कार्य, जैसे बन्दरगाह, रोशनी घर आदि बनाना, सम्मिलित हैं।

इस वर्गीकरण का भी यही दोष है कि हम यह निश्चित नहीं कर सकते कि कौन सा व्यय कौन सी श्रेणी में रखें, जैसे आंकड़ों के एकत्र करने का व्यय विकास व्यय भी माना जा सकता है और व्यापारिक भी।

कुछ लेखकों ने यह वर्गीकरण राज्य के स्वरूप के आधार पर किया है। वह राजकीय व्यय को एकात्मक राज्य (Unitary State) का व्यय केन्द्रीय तथा स्थानीय व्यय में विभाजित करते हैं तथा संघीय का केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय में बाटते हैं।

परन्तु इस वर्गीकरण का भी यह दोष है कि इसमें हम स्पष्ट रूप से यह निश्चित नहीं कर सकते कि कौन सा कार्य केन्द्र को, कौन सा प्रान्तों को और कौन सा स्थानीय संस्थाओं को करना चाहिये, जैसे भारतवर्ष में सड़कों, शिक्षा, नहरों आदि का कार्य केन्द्र प्रान्तों तथा स्थानीय सरकारों के हाथ में है। इस प्रकार बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है।

कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जिन्होंने इस व्यय को उत्पादक तथा अनुत्पादक दो श्रेणियों में विभाजित किया है। परन्तु इस वर्गीकरण में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि कौन से व्यय को उत्पादक और कौन से को अनुत्पादक माना जाये। यदि हम लाभ की दृष्टि से यह निर्णय करते हैं तो अधिकतर व्यय अनुत्पादक ही माना जायेगा, जैसे दक्षिणी भारत में बनाई गई नहरों का व्यय यद्यपि आवश्यक है परन्तु उनमें सरकार को प्रायः घाटा ही रहता है। इस सम्बन्ध में 'शिराज' का मत ठीक मालूम पड़ता है। उसका कहना है कि उत्पादक-व्यय उसको मानना चाहिए जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से राष्ट्र के प्राकृतिक साधनों या मानवीय साधनों की उन्नति करता है अथवा उसके द्वारा उन साधनों का अधिक मितव्ययिता पूर्ण उपयोग होता है जिससे अन्त में राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा राष्ट्रीय समृद्धि में वृद्धि होती है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा, यातायात, स्वास्थ्य आदि पर किया गया व्यय उत्पादक कहा जायेगा।

डा० डाल्टन (Dalton) ने राजकीय व्यय को केवल दो भागों में विभाजित किया है—(१) सार्वजनिक सुरक्षा, जैसे भीतरी व बाहरी आक्रमणों से बचाव के साधनों पर व्यय, (२) सामाजिक उन्नति जैसे स्वास्थ्य चिकित्सा आदि पर किया गया व्यय। परन्तु इस वर्गीकरण में यह दोष है कि कुछ मदों को छोड़कर शेष को चाहे जिस श्रेणी में रखा जा सकता है।

प्रो० शिराज (Shirras) ने भी राजकीय व्यय को दो ही भागों में बाटा है—(१) मुख्य (Primary) तथा (२) गौण (Secondary)। मुख्य व्यय में वह सब व्यय सम्मिलित होता है जो कि राज्य की रक्षा, शान्ति तथा व्यवस्था तथा ऋण के चुकाने में करना पड़ता है। गौण व्यय में सामाजिक व्यय, सार्वजनिक व्यवसायों पर किया गया व्यय तथा दूसरे विविध प्रकार के व्यय सम्मिलित हैं। मुख्य व्यय में सब प्रकार की रक्षा, न्याय, पुलिस, नागरिक शासन कर एकत्र करने का व्यय, सब प्रकार के ऋण—चाहे वह उत्पादक हों, चाहे अनुत्पादक—आदि सम्मिलित हैं। गौण व्यय में शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य गरीबों की सहायता, बेरोजगारी सहायता, अकाल सहायता, रेलवे, सिंचाई सड़कें तार तार, टेलीफोन, कृषि अनुसन्धान, पेन्शन खर्च आदि सम्मिलित हैं।

यहां भी यह कठिनाई उत्पन्न हो सकती है कि हम किस व्यय को मुख्य मानें और किसको गौण। एक प्रकार का व्यय एक व्यक्ति की दृष्टि में मुख्य हो सकता है और दूसरे की दृष्टि में गौण।

प्रो० पीगू (Pigou) ने भी राजकीय व्यय को दो श्रेणियों में ही बाटा है। एक को वह हस्तान्तरित होने वाला व्यय (Transfer Expenditure) कहते हैं और दूसरे को हस्तान्तरित न होने वाला व्यय (Non-Transfer Expenditure) कहते हैं। हस्तान्तरित न होने वाला व्यय वह है जिसमें उत्पत्ति के साधन सरकारी काम में आ जाते हैं और इस कारण उन साधनों का उपयोग देश के नागरिकों द्वारा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के व्यय में सेना, जहाजी बेड़ा, वायु शक्ति, नागरिक शासन, शिक्षा न्यायालय, डाकखाना, नगर पालिका की टामवे आदि का व्यय सम्मिलित होता है। इसके विपरीत हस्तान्तरित होने वाले व्यय में वह व्यय सम्मिलित होता है जिसमें उत्पत्ति के साधनों का उपयोग केवल सरकारी काम के लिए ही नहीं होता वरन् नागरिकों के लिए भी होता है। इसमें सरकार द्वारा लिए गए ऋण पर ब्याज, पेंशन, बीमारी काल की सहायता, बेरोजगारी का लाभ, कुछ वस्तुओं के उत्पादन पर दी हुई अर्थ-सहायता, सरकारी ऋण का चुकाया जाना अथवा सरकारी प्रतिभूतियों (Securities) का पुन खरीदना आदि का खर्च सम्मिलित होता है।

इस प्रकार के वर्गीकरण में भी, जैसा प्रो० पीगू ने स्वयं ही माना है, कुछ कठिनाईयां आ सकती हैं जैसे विदेशी ऋण पर दिया गया ब्याज तो हस्तान्तरित न होने वाली श्रेणी में रखा जाएगा क्योंकि उससे देश के नागरिकों को कोई लाभ नहीं होता परन्तु देशी ऋण का ब्याज हस्तान्तरित होने वाला व्यय कहा जाएगा।

राजकीय व्यय के वर्गीकरण के वाद विवाद में न पड़ कर हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक राज्य साधारणतया निम्नलिखित बातों पर खर्च करता है—

(१) रक्षा, शान्ति तथा देश की व्यवस्था का खर्च— इसमें सेना, पुलिस, जल सेना, हवाई सेना आदि का खर्च सम्मिलित है।

(२) न्याय का प्रबन्ध करना— इसमें सब प्रकार की अदालतों का खर्च सम्मिलित है।

(३) नागरिक शासन पर खर्च— इसमें विधान सभा का खर्च, मन्त्रियों का वेतन, सरकारी कर्मचारियों, राजदूतों आदि का खर्च सम्मिलित है।

(४) सार्वजनिक ऋण का खर्च— ऋण पर ब्याज, उसके हिसाब रखने का खर्च, उसके लौटाने का व्यय।

(५) व्यापारिक कार्यों पर किया गया खर्च— इसमें रेल, तार, डाक, मुद्रा, बैंक, बिजली, गैस आदि पर किया गया खर्च सम्मिलित है।

(५) सामाजिक कार्यों पर किया गया खर्च— इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क पेन्शन बेरोजगारी सहायता, आदि सम्मिलित हैं।

इनके अतिरिक्त हर देश का अपना कोई न कोई विशेष प्रकार का खर्च हो सकता है जैसे इङ्गलैंड में राज्य घराने का खर्च अथवा कोई अकस्मात खर्च जैसे भारतवर्ष में १५ अगस्त १९४७ ई० को रोशनी आदि पर खर्च किया गया।

राजकीय व्यय के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Public Expenditure)

राजकीय व्यय का उत्पत्ति पर प्रभाव—

कुछ लोगों का विचार है कि राजकीय व्यय का उत्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके विचार में राजकीय व्यय अनिवार्य अनुत्पादक होता है, किन्तु यह सर्वथा ठीक नहीं है। ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि राजकीय व्यय का बहुत सा भाग केवल धन का स्थानान्तरकरण मात्र है। राज्य कुछ लोगों से रुपया लेकर दूसरों को देता है, जैसे राज्य जब ऋण पर ब्याज देता है अथवा बूढ़े लोगों को पेन्शन देता है तो वह एक श्रेणी के लोगों से रुपया लेकर दूसरी श्रेणी के लोगों को देता है अथवा जब राज्य कर लेकर शिक्षा, चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करता है तो वह उन

लोगों की कार्य क्षमता बढाता है जिनको कि इन सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता। इसी प्रकार जब राज्य रेलों, सड़कों, सिंचाई, बिजली आदि का प्रबन्ध करता है तो वह देश की उत्पादन शक्ति को बढाता है।

परन्तु कुछ ऐसा व्यय है जिसको निश्चित रूप से अनुत्पादक कहा जाता है और वह है युद्ध पर किया गया व्यय। उनके इस विचार का एक निश्चित आधार है क्योंकि देश के नवयुवकों तथा देश की बहुत सी सामग्री जैसे कोयला तेल, रबड़ लोहा, कपड़ा, आदि को जो कि उत्पादन कार्य में आते हैं उत्पादन से हटा कर युद्ध कार्य में लगा दिए जाते हैं और वहां वह नष्ट हो जाते हैं। देखने में यह बात ठीक ही जान पड़ती है पर तु यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाए तो पता लगेगा कि युद्ध पर किया गया व्यय अनुत्पादक होतेहुए भी आवश्यक होता है। यदि युद्ध दूसरे देशों की स्वतन्त्रता छीनने तथा कुछ लोगों की शक्ति बढ़ाने की इच्छा की पूर्ति करने के लिए लड़ा जाता है तो वह अनुत्पादक तथा अनावश्यक कहा जा सकता है परन्तु यदि युद्ध देश की बाह्य आक्रमण से रक्षा करने के लिए लड़ा जाता है तो वह देखने में अनुत्पादक भले ही हो परन्तु वह आवश्यक है क्योंकि इस प्रकार का युद्ध देश का सम्मान बचाने तथा अपने आपको दूसरों का दास न होने देने के लिए लड़ा जाता है। यदि यह युद्ध न लड़ा जाता तो देश विदेशियों द्वारा लूट लिया जाता तथा नष्ट भ्रष्ट कर दिया जाता और दास होने पर वह भविष्य में उतनी आर्थिक उन्नति न कर सकता जितनी कि वह स्वतन्त्र रहकर कर सकता है। इस कारण इस प्रकार के युद्ध पर किया गया व्यय अनुत्पादक होते हुए भी आवश्यक है

सार्वजनिक व्यय का उत्पत्ति पर जो प्रभाव पड़ता है उसको हम तीन दृष्टियों से विचार कर सकते हैं*—

(१) कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति पर प्रभाव,
(२) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव,
(३) भिन्न भिन्न जगहों और नियोजनों में साधनों के स्थानान्तरकरण का प्रभाव।

(१) कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति पर प्रभाव— राजकीय व्यय राज्य के लोगों की कार्य क्षमता बढ़ाने में बहुत सहायक होता है। यह बात तो सत्य है कि यह उन लोगों की जिनको सहायता मिलती है, कार्य क्षमता को उतना नहीं बढ़ाता जितना कि उनके बच्चों की कार्य क्षमता को बढ़ाता है परन्तु यह बात तो देश के लिए और भी लाभ प्रद है और इसीलिए विधवा स्त्रियां बड़े बड़े परिवारों आदि को

* Dalton— Principles of Public Finance— P 212

आर्थिक सहायता दी जाती है तथा बच्चो के लिए शिक्षा आदि का प्रबन्ध किया जाता है।

(२) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—राजकीय व्यय का लोगो की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर भी प्रभाव पडता है। कुछ राजकीय व्यय जैसे युद्ध पेन्शन तथा लडाई के ऋण पर ब्याज आदि का उसको पाने वाले के कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता परन्तु जो व्यय शर्त वाला होता है जैसे बीमारी तथा बेरोजगारी का लाभ, उससे कार्य करने की इच्छा कम नही होती वरन् कभी कभी बढती है। इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति को उसकी आय तथा बचत पर सरकार से आर्थिक सहायता मिलती है तो उससे कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा बढती है। जब सरकार किसी उद्योग को आर्थिक सहायता देती है तो उसमे उत्पत्ति बढ जाती है।

(३) भिन्न २ जगहों और नियोजनों में साधनों का स्थानांतरकरण—राजकीय व्यय का उत्पादन पर भी बहुत प्रभाव पडता है। सरकार को व्यय करते समय मितव्ययिता का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। यदि वह देखती है कि रुपए को एक स्थान पर खर्च न करके यदि दूसरे स्थान पर खर्च किया जाए तो उससे अधिक लाभ होगा तो उसको दूसरे स्थान पर ही रुपया लगाना चाहिए। सरकार सहायता देकर ऐसे उद्योगो को उन्नत कर सकती है जो अभी तक अवनत रहे हैं। इसी प्रकार सरकार सहायता देकर ऐसे स्थानों पर भी उद्योग धन्धे चला सकती है जो इस दृष्टि से पिछडे हुए हैं। बुद्धिमानी से सचालित सार्वजनिक ऋण लेने की रीति से उन वर्गो को पूंजी लगाने व बचत करने की प्रेरणा मिल सकती है जो कि उत्पादन के लिए निश्चित रूप से लाभदायक है। साथ ही साथ सरकार अपने साधनो का इस प्रकार उपयोग कर सकती है जिससे कि राष्ट्रीय धन की वृद्धि हो सरकार को चाहिए कि वह ऐसे उद्योगो में रुपया लगाए जिनमें कि पूजीपति अपना रुपया लगाने को तैयार नही है जैसे ऋण का चुकाया जाना (यह फिर उद्योग धन्धो मे लग जाता है) रेलो, नहरों आदि का बनाना तथा जङ्गलो का लगाना, आविष्कारो का करना, शिक्षा तथा स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना तथा बेरोजगारी का बीमा कराना आदि। इन सब पर किया गया व्यय आवश्यक है। इनसे भविष्य में देश की उत्पादन शक्ति अवश्य बढती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह भली भाति विदित हो गया है कि राजकीय व्यय का उत्पत्ति पर अच्छा ही प्रभाव पडता है।

राजकीय व्यय का वितरण पर प्रभाव—राजकीय व्यय का धन के वितरण पर भी बहुत प्रभाव पडता है। न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज में धन का

समान वितरण हो। परन्तु समान वितरण का कभी भी यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि हर व्यक्ति के पास धन की समान मात्रा होनी चाहिए वरन उसका यह मतलब है कि हर व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार अथवा उसकी आय को खर्च करने की योग्यतानुसार धन मिलना चाहिए। परन्तु समाज के सब लोगों को इस प्रकार भी धन नहीं मिलता। इस कारण इस बात की आवश्यकता है कि समाज की इस आय की विषमता को मिटाया जाए।

धन का समान वितरण करने के लिए सरकार ऋण या धनी लोगों से कर के रूप में लेकर उस धन से गरीब लोगों को उन की आय के अनुसार आर्थिक सहायता दे। सहायता सबसे अधिक सबसे कम आय वाले को और सबसे कम सबसे अधिक आय वाले को। यही बात दूसरे ढङ्ग से भी प्राप्त की जा सकती है। सरकार जनता के लिए शिक्षा चिकित्सा आदि का प्रबन्ध कर सकती है। इन चीजों का द्रव्य के रूप में लाभ आंकना तो कठिन है परन्तु इनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इनके कारण लाभ पाने वालों का आर्थिक लाभ अवश्य बढ़ता है। सरकार इसी बात को तीसरे ढङ्ग से भी प्राप्त कर सकती है। वह लोगों को रोटी दूध आदि पर आर्थिक सहायता देकर इन चीजों को सस्ते दामों पर बेच सकती है। यदि सरकार इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध करे जिससे कि नवयुवक कम वेतन वाले पेशों से अधिक वेतन वाले पेशों में जा सकें तो इसमें भी परोक्ष रूप से धन के वितरण की असमानता कम होती है।

इस प्रकार यह कहना ठीक ही है कि राजकीय व्यय द्वारा धन के वितरण की असमानता कम होती है।

राजकीय व्यय के अन्य प्रभाव

राजकीय व्यय द्वारा श्रम की माग निरन्तर रखी जा सकती है और इस प्रकार राष्ट्रीय उत्पादक साधनों का अच्छा उपयोग किया जा सकता है और आर्थिक लाभ बढ़ाया जा सकता है।

आपत्ति काल में जबकि निजी व्यापारों में लगे श्रमिकों की माग घट जाती है तब सरकार रेल सड़क नहर आदि बनाकर अथवा कुछ उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर श्रमिकों की माग को बनाए रख सकती है। इस कार्य के लिए सरकार या तो करों से या ऋण लेकर धन प्राप्त कर सकती है। करों द्वारा प्राप्त किए गए धन से इतना अधिक लाभ नहीं होता जितना ऋण द्वारा धन प्राप्त करके होता है क्योंकि कर द्वारा क्रय शक्ति एक हाथ से निकल कर दूसरे हाथ में चली जाती है। वह बढ़ती नहीं परन्तु ऋण से क्रय-शक्ति बढ़ती है और इस कारण नए उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है तथा बेरोजगारी कम होती है।

बेरोजगारों तथा उनके बच्चों को सीधी आर्थिक सहायता देने के बदले उनको सार्वजनिक कामों में लगाना चाहिए। इससे बेरोजगारों की सहायता हो जाती है और साथ साथ उन पर किया गया व्यय कम हो जाता है। इस प्रकार के कार्य में उत्पादन-शक्ति का जो ह्रास व्यापारिक मन्दी के कारण होता वह भी नहीं होने पाता। परन्तु इस कार्य का सोच समझ कर शीघ्र ही करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजकीय व्यय का उत्पत्ति, वितरण तथा श्रम पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसके द्वारा देश की उत्पादन-शक्ति बढ़ती है। वितरण की असमानता कम होती है तथा बेरोजगारी दूर होती है और इस प्रकार देश की उत्पादन-शक्ति नष्ट होने से बच जाती है।

अध्याय ३

राजकीय आय

(Public Revenue)

सरकार को अपना कार्य चलानें के लिए कुछ वस्तुओं तथा सेवाओं की आवश्यकता होती है। प्राचीन काल में सरकार को यह दोनों चीजें राज्य के लोग दे दिया करते थे। परन्तु जैसे जैसे राज्य की जिम्मेदारी बढ़ती गई वैसे ही वैसे सरकार को कार्य करने के लिए पृथक लोगों की आवश्यकता पड़ने लगी जो अपना सारा समय राज्य का कार्य चलाने के लिए ही दे सकें। इन लोगों को वेतन देने की आवश्यकता पड़ी। मध्यकालीन युग में अफसरों का वेतन उनको कुछ सम्पत्ति देकर जिसकी आय उनको मिलती रहे, दिया जाने लगा। परन्तु कुछ समय पश्चात् वह सम्पत्ति उनकी निजी सम्पत्ति बन गई और इस प्रकार सरकार को अफसरों को वेतन देने की आवश्यकता पड़ने लगी। इसके साथ साथ राज्य के लोगों ने स्वयं इच्छा से राज्य की सेवा करनी भी कम कर दी। प्रजातन्त्र के पश्चात् तो यह बात खूब जोर से होगई। इसी कारण सरकार को आय प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ी। यह आय विभिन्न साधनों द्वारा प्राप्त की जाती है।

राजकीय आय का वर्गीकरण (Classification of Public Revenue–विभिन्न लेखकों ने राजकीय आय का वर्गीकरण अपने अपने ढङ्ग से किया है।

आदम स्मिथ (Adam Smith) ने राजकीय आय को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बांटा है –

प्रत्यक्ष आय (Direct Revenue)–इसमें राज्य की निजी आय जैसे सार्वजनिक कार्य, सार्वजनिक उद्योग, उपहार (Gratuity), जब्ती और हर्जाने सम्मिलित हैं।

(१) व्युत्पन्न आय (Derivative Revenue) इस में आय लोगों से प्राप्त की जाती है। इस आय में कर, फीस, जुर्माने, दण्ड आदि सम्मिलित हैं।

(२) प्रत्याशित आय (Anticipatory Revenue)–इसमें भावी आय का अनुमान लगाया जाता है। इसमें राजकोष विपत्रों (Treasury Bills) तथा दूसरे ऋण के साधनों से प्राप्त आय सम्मिलित की जाती है।

परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋणों से प्राप्त आय सार्वजनिक आय का अङ्ग नहीं मानी जाती।

बैस्टेबिल (Bastable) ने राजकीय आय को दो भागों में विभाजित किया है–

(१) वह आय जो कि राज्य को अपने विभिन्न कार्यों द्वारा प्राप्त होती है, जैसे जब राज्य एक बड़े व्यापारी के रूप में कार्य करता है अथवा जब वह एक न्यायधीश के नाते कार्य करता है तो उसको जो आय मिलती है वह इसमें सम्मिलित की जाती है।

(२) वह आय जो कि राज्य की शक्ति द्वारा समाज से प्राप्त की जाती है।

परन्तु इस वर्गीकरण में नजराने जुर्माने, विशेष कर निर्धारण (special assessment) आदि सम्मिलित नहीं हैं।

प्रो० सैलिगमैन (Seligman) ने राजकीय आय को तीन भागों में बाटा है।

(१) स्वयं इच्छा से दी गई, जैसे नजराने,

(२) सौदे द्वारा प्राप्त की गई, जैसे मूल्य,

(३) आवश्यक (compulsory), जैसे राज्यों से शोषण से, जुर्माने तथा दण्डों से, फीस, विशेष करो तथा आय करो से।

इसके अतिरिक्त एक और प्रकार का वर्गीकरण भी किया गया है जिसमें केवल दो श्रेणियाँ हैं —(१) कर-आय (Tax revenue) तथा गैर कर-आय (Non Tax revenue)

परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि ,इस प्रकार के वर्गीकरण के प्रयत्नों में विशुद्ध शैक्षिक हित होता है जिसका व्यावहारिक मूल्य बहुत कम होता है।

राजकीय आय के विभिन्न साधन

(Different sources of Public Revenue)

राजकीय आय निम्नलिखित साधनों से प्राप्त हो सकती है–

(१) कर (Tax)–प्लैहन (Plehn) ने कर की परिभाषा इस प्रकार की है— 'कर धन के रूप में दिया गया सामान्य अनिवार्य अंश दान है जो राज्य के निवासियों को सामान्य लाभ पहुचाने के लिए किए गए व्यय को पूरा करने के लिए लोगों से लिया जाता है। कर सामान्य लाभ पहुचाने के कारण न्यायसंगत कहा जा सकता है परन्तु उसम मापा नही जा सकता।"* इस परिभाषा से कर की कुछ विशेषताओं का पता चलता है। यह निम्नलिखित हैं –

* Plehn– Introduction to Public Finance—P. 59.

(१) कर अनिवार्य होता है। यदि सरकार किसी व्यक्ति के ऊपर कर लगा देती है तो उसको इच्छा न होते हुए भी देना पड़ता है। और कर के सम्बन्ध में कुछ ऐसी विशेष बात दिखाई पड़ती है कि बहुत ही कम ऐसे व्यक्ति होंगे जो कि इस को बिना महसूस किए देते होंगे। पर यहां यह बात बताने योग्य है कि यद्यपि कर अनिवार्य रूप में देना पड़ता है परन्तु विभिन्न प्रकार के करों का प्रकार भिन्न होता है। कुछ कर ऐसे होते है जिनको हम अदा भी न करें जैसे तम्बाकू कर को तम्बाकू की खरीद बन्द कर देने से मना कर सकते है।

(२) कर के सम्बन्ध में दूसरी विशेषता यह है कि वह सामान्य लाभ के लिए लिया जाता है अर्थात् जो व्यक्ति कर देता है उसके बदले सरकार उसको विशेष सुविधा नहीं देती। जो भी सुविधा करदाता को प्राप्त होगी वह दूसरे लोगों के साथ ही हो जाए तो हो जाए अन्यथा न भी हो। इसी कारण प्रो० टाजिग ने कर के सम्बन्ध मे कहा है 'सरकार द्वारा लिए गए अन्य प्रकार के अतिरिक्त कर का सार करदाता तथा सरकार के बीच किसी जैसे को तैसा' (*quid pro quo*) का न होना है।' इसको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। सरकार कर बड़े-बड़े अमीर लोगों से लेती है और गरीबों से कुछ भी नहीं लेती। इस कर का कुछ भाग वह शिक्षा के ऊपर खर्च करती है। जिन स्कूलों में सरकार कर का रुपया लगाती है उनमें उन अमीर लोगों के बच्चे भी पढ़ते हैं जिन्होंने कर दिया है और गरीबों के बच्चे भी पढ़ते हैं जिन्होंने कोई कर नहीं दिया। परन्तु स्कूलों में अमीर और गरीब आदमियों के बच्चों को एकसी दृष्टि से देखा जाता है। अमीर आदमी के बच्चों को कोई इस कारण विशेष सुविधा नहीं देता कि उसका बाप कर दे रहा है जिसकी सहायता से यह स्कूल चल रहा है। जो सुविधा मिलेगी वह सब बच्चों को समान ही मिलेगी। यद्यपि कर के सम्बन्ध में यह बात साधारणतया लागू होती है परन्तु कभी-कभी किसी कर का लाभ केवल कुछ ही लोगों को पहुंचता है जैसे पेट्रोल कर का लाभ मोटर वालों को अच्छी सड़कों के रूप में पहुंचता है।

(२) फीस (Fees) —जब किसी व्यक्ति से किसी उस लाभ के बदले जो कि सरकार द्वारा उसको पहुंचता है पूरी अथवा आंशिक लागत वसूल कर ली जाती है तो इस प्रकार के अनिवार्य भुगतान को फीस कहा जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि फीस भी कर के समान अनिवार्य होती है परन्तु उसमें और कर में एक विशेष भेद है और वह यह कि फीस किसी एक उस विशेष लाभ के बदले देनी पड़ती है जो सरकार द्वारा किसी व्यक्ति को दिया जाता है परन्तु कर बिना इस प्रकार की सेवा किए ही लिया जाता है। फीस के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि यह सेवा के मूल्य से अधिक नहीं होती। जो फीस सेवा के मूल्य से अधिक होती है उसमें फीस तथा विशेष कर सम्मिलित होता है। प्लैहन ने फीस की परिभाषा इस प्रकार की

है, "फीस धन के रूप में एक अनिवार्य अंशदान है जो कि किसी व्यक्ति को चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा मिलकर बनाया हुआ, सार्वजनिक शक्ति (Public authority) की आज्ञानुसार सरकार के किसी कार्य में लगे खर्च के किसी अंश अथवा सब का भुगतान करने के लिए देनी पड़ती है यह जहां सामान्य लाभ पहुंचाती है वहां एक विशेष प्रकार का लाभ भी पहुंचाती है।"† जैसे सरकार हमसे रजिस्ट्री फीस लेती है अथवा कोर्ट फीस लेती है। इस प्रकार के भुगतान से मकान अथवा जमीन खरीदने तथा न्याय चाहने वालों को लाभ पहुंचता है।

मूल्य (Price)—प्लेहन का कहना है कि मूल्य को दर' (Rates) कहना अधिक उचित होगा। मूल्य सरकार को उस वस्तु के बदले दिया जाता है जो कि वह एक व्यापारिक के नाते जनता को देती है। यह वस्तु सरकार उसी प्रकार देती है जिस प्रकार कि कोई पूंजीपति उसको देता है। सरकार बहुत से उद्योगों को चलाती है जैसे रेल डाक तार बिजली, गैस आदि। इन सब उद्योगों की सेवाओं अथवा वस्तुओं को सरकार किसी न किसी मूल्य पर जनता को बेचती है। सरकार साधारणतः उन्हीं उद्योगों को अपने हाथ में लेती है जो कि राष्ट्र के जीवन के लिए आवश्यक हैं अथवा जिनमें निजी पूंजी नहीं लगाई जाती। परन्तु जिस उद्योग को भी सरकार प्राप्त कर लेती है उस पर उसका एकाधिकार होता है।

इस प्रकार मूल्य कर के समान अनिवार्य नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति रेल गाड़ी में यात्रा न करे अथवा डाकखाने से टिकट न खरीदे तो उसको सरकार टिकट लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। इस कारण जो व्यक्ति सरकार द्वारा प्रदान की हुई सेवा तथा वस्तु को नहीं खरीदता उसके ऊपर मूल्य का कोई बोझा नहीं पड़ता।

मूल्य और फीस का अन्तर भी समझ लेना आवश्यक है। सरकार जिस सेवा के बदले फीस लेती है उससे केवल उसी व्यक्ति को लाभ नहीं पहुंचता वरन् प्रायः सभी लोगों को उस सेवा का लाभ होता है जैसे न्यायालयों से केवल मुकदमे वालों को ही लाभ नहीं होता वरन् राज्य के सभी लोगों को उसका लाभ पहुंचता है। परन्तु मूल्य द्वारा खरीदी जाने वाली सेवा का लाभ केवल उसी व्यक्ति को पहुंचता है जो उसको खरीदता है सब को नहीं पहुंच सकता। इस प्रकार फीस में जनहित मूल्य से बहुत अधिक होता है।

विशेष कर निर्धारण (Special Assessment)—जब सरकार अथवा सुधार मण्डल (Improvement Trust) किसी स्थान पर कोई सड़क बना देता है अथवा गाड़ी निकाल देता है तो इससे उस भूमि का मूल्य बहुत बढ़ जाता है। जितना लाभ भूमि वालों को सड़क अथवा रेल के बनने पर होता है उस को भूमि की बिना कमाई हुई आय (Unearned Income) कहेंगे और इस आय पर

† Introduction to Public Finance P. 60

सरकार जो कर लगाएगी उसको विशेष कर निर्धारण कहेंगे। यह अनिवार्य होता है। इसकी निम्नलिखित विशेषतायें है —

(१) यह किसी विशेष उद्देश्य से लगाया जाता है।

(२) यह अनुपातिक होता है।

(३) यह किसी स्थानीय सुधार के कारण लगाया जाता है।

(४) उस सुधार से होने वाले लाभ को नापा जा सकता है।

जुर्माना व दण्ड (Fines and Penalties)—जो लोग देश के कानूनों का उल्लंघन करते है उनसे राज्य जुर्माना वसूल करता है। इसका उद्देश्य आय नहीं होता वरन् लोगो को कानून न तोडने देना है। परन्तु यह आय का एक बहुत ही मामूली साधन है।

भेट (Gift)—कुछ लोग राज्य को अपना धन या सम्पत्ति इस लिए भेट में दे देते हैं जिससे कि वह उसको जनता के हित में खर्च करे जैसे बहुत से लोग राज्य को शिक्षा चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करने के लिए धन दे देते हैं। भेंट की विशेषता यह है कि वह दान करने वाले की स्वय इच्छा से दी जाती है। उस पर किसी प्रकार का भी दबाव नहीं होता।

सरकारी सम्पत्ति (Government property)—सरकार के पास बहुत सी सम्पत्ति होती है जैसे जमीन, जङ्गल, खान, वन आदि। इन को बेच कर अथवा इनको पट्टे पर देकर सरकार बहुत आय प्राप्त करती है।

उपहार (Tribute)—यह एक हारा हुआ देश जीते हुए देश को देता है अथवा एक छोटा राजा अपने से बडे किसी राजा को देता है।

परन्तु यहा यह बात बताने योग्य है कि हम राजकीय आय के विभिन्न साधनो में कोई विशेष भेद नही कर सकते और कभी कभी तो एक साधन दूसरे मे जा मिलता है जैसे यदि किसी स्थान पर पानी के नलो पर मीटर न लगा हो तो वहा मूल्य और कर में अन्तर करना कठिन हो जाएगा। इसी प्रकार जुर्माने तथा कर में केवल उद्देश्य का भेद है। कर आय के लिए लिया जाता है परन्तु जुर्माना अन्यायो को रोकने के लिए होता है। इसी प्रकार जब सरकार किसी सेवा के लिए उसकी लागत से अधिक दाम वसूल करती है तो उसमें फीस के अतिरिक्त कर भी सम्मिलित है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राजकीय आय के साधनो को किसी विशेष मद् के अन्तर्गत रखना बडा कठिन है।

कर क्यों लगाया जाता है ? (Objectives of Taxation)—कर लेने के तीन उद्देश्य हैं—(१) धन एकत्र करना, (२) नियन्त्रण करना, (३) राष्ट्रीय आय के स्तर का नियन्त्रण करना।

(१) धन एकत्र करना (To raise revenue)—कर लगाने का मुख्य उद्देश्य राज्य का कार्य सचालन करने तथा दूसरे राजकीय कार्य करने के लिए धन एकत्र करना है। इस कारण कर लगाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि लगाए गए कर से राज्य को कितनी आय प्राप्त होगी। इसलिए सरकार केवल वही कर लगाती है जिनसे राज्य को अधिक आय की प्राप्ति होती है। आय का ध्यान रखते समय सरकार कुछ और बातो का भी ध्यान रखती है और उसको रखना भी चाहिए, जैसे सरकार यह देखती है कि अमुक कर का नैतिक प्रभाव क्या होता है अथवा उस कर का भार केवल उन्ही लोगो पर पडता है या नही जो उसको दे सकते हैं। हमारे देश में बम्बई तथा मद्रास राज्यो ने मद्य निषेध कानून पास करने में आय का कोई ध्यान नही रखा वरन् इस बात का ही ध्यान रखा है कि उनका लोगो के नैतिक स्तर पर अच्छा प्रभाव पडेगा। इसी प्रकार चीन को जाने वाली अफीम के निर्यात पर पाबन्दी लगाने में भी भारत सरकार कुछ इसी प्रकार के उद्देश्य से प्रेरित हुई थी।

(२) नियन्त्रण करना (Regulation or Control)—कर लगाने का दूसरा उद्देश्य नियन्त्रण करना है। यदि कोई देश किसी वस्तु के प्रयोग का निषेध करना चाहता है अथवा किसी दूसरे देश की आयात को कम करना चाहता है तो वह कर द्वारा अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है। जैसे यदि भारतवर्ष अपने किसी उद्योग की उन्नति करना चाहता है तो उसको विदेशो से उस वस्तु की आयात कम करनी पडेगी जिससे कि देशी वस्तु की माग बढे और वह उद्योग उन्नत हो सके। इसके लिए सरकार को आयात-कर लगाना पडेगा। इसी प्रकार यदि भारत सरकार चाहे कि देश में मद्य तथा तम्बाकू का उपभोग कम से कम हो तो वह उत्पत्ति-कर (Excise duty) लगा कर ऐसा कर सकती है।

नियन्त्रण करने के हेतु जो कर लगाए जाते है उनका मुख्य उद्देश्य नियन्त्रण करना होता है यद्यपि उनसे सरकार की आय भी बढती है, परन्तु आय प्राप्ति इस प्रकार के कर का गौण उद्देश्य होता है।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब इस कर का उद्देश्य आय प्राप्ति नही है तो फिर किसी और ढग से इस कार्य को क्यो नही किया जाता। इसका मुख्य कारण यह है कि नियन्त्रण के किसी दूसरे ढङ्ग को अपनाने से एक विशेष प्रकार की मशीनरी तैयार करनी पडती है परन्तु कर-मशीनरी देश में पहले ही तैयार होती है। और जब दोनो से एक ही उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है तो फिर नई मशीनरी तैयार करने से क्या लाभ है?

(३) राष्ट्रीय आय के स्तर का नियन्त्रण करना (Regulation of the level of national income)—कर लगाने से आय, व्यक्तियों से सरकार के पास

चली जाती है और इसके कारण उनके उपभोग तथा विनियोग की रूप रेखा बदल जाती है। इसका प्रभाव राष्ट्रीय आय पर भी पड़ता है। इसलिए सरकार को चाहिए कि जब देश में आय की कमी हो और विनियोग कम होने की आशंका हो तो वह कर कम लगाए। कर कम लगाने से व्यक्तियों की बचाने की शक्ति बढ़ जायेगी और विनियोग अधिक होंगे। इसके विपरीत जब देश में मुद्रा स्फीति हो और आय खूब तेजी से बढ़ रही हो तो सरकार को चाहिए कि वह कर बढ़ा दे। इससे बचत कम होगी और विनियोग भी कम होंगे। इस प्रकार कर के द्वारा राष्ट्रीय आय के स्तर का नियन्त्रण किया जा सकता है।

लर्नर (Lerner) साहब के विचार में कर लगाते समय सरकार को आय की ओर ध्यान न देकर राष्ट्रीय आय को एक पर्याप्त स्तर पर कायम रखने का ध्यान रखना चाहिए। उनका कहना है कि कर के दो प्रकार के प्रभाव हो सकते है— (१) कर-दाता के पास कम धन रह जाए (२) सरकार के पास अधिक धन हो जाए। उनके विचार में इन दोनो में से पहला प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण है और दूसरा कम, क्योंकि सरकार के पास आय के इतने साधन हैं कि वह करदाताओं से कर वसूल किए बिना ही अपनी आय बढ़ा सकती है। इस कारण उनका कहना है कि सरकार को कभी भी अपनी आय बढ़ाने के लिए कर नही बढ़ाने चाहियें। कर केवल उसी दशा मे लगाने चाहिये जब कि या तो सरकार किसी प्रकार के व्यापारिक सौदे न होने देना चाहे या जब वह कर दाताओं को निर्धन बनाना चाहे।

कर सिद्धांत (Canons of Taxation)—अपनी पुस्तक 'Wealth of Nations' मे आदम स्मिथ ने कर सम्बन्धी चार सिद्धात दिए है। परन्तु उसके समय से आज तक विद्वानो ने इनमें कुछ और सिद्धात भी जोड दिए। इस प्रकार आज कल निम्नलिखित कर-सिद्धात माने गए है —

(१) समता सिद्धात (Canon of Equality)—आदम स्मिथ का कहना था कि 'प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपनी शक्तिनुसार सरकार को सहयोग के लिए योग-दान देना चाहिए, अर्थात् उस आमदनी के समानुपात में जो राज्य द्वारा दी गई सुरक्षा के अन्तर्गत उसे प्राप्त होती है।'

आदम स्मिथ के इस सिद्धात पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। एक प्रकार के विद्वान् कहते हैं कि कर सिद्धात का आधार नैतिकता होना चाहिए। समानता शब्द का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को बराबर कर देना चाहिए अथवा उसे समान अनुपात में कर देना चाहिए। यह दोनों ही बात गलत है क्योंकि न तो निर्धन और धनी समान कर दे सकते है और न ही वह समान अनुपात में कर दे सकते हैं। इस कारण समानता शब्द कर-दाता की कर देने की योग्यता के अर्थों में प्रयोग किया जाना चाहिए, अर्थात् यदि कर-दाता बहुत धनी है तो वह बहुत अधिक कर दे सकता

है इस कारण उससे अधिक कर लेना चाहिए। इसके विपरीत निर्धन व्यक्ति के समक्ष यह प्रश्न रहता है कि वह अपना जीवन चलाने के लिए कहाँ से धन जुटाए। तब फिर यदि उसे कर देने के लिए कहा जाए तो क्या यह अनुचित न होगा ? अपने तर्क के समर्थन में वह आदम स्मिथ का ही हवाला देते हैं जहाँ उसने कहा है कि "अमीरों द्वारा न केवल आमदनी के समान अनुपात में वरन् उससे अधिक सार्वजनिक व्यय में योगदान देना बहुत अधिक अनुचित न होगा।"[1] इस प्रकार समता सिद्धान्त का अर्थ है कर दाता की कर देने की शक्ति के अनुसार कर का लिया जाना। इसके विपरीत, कुछ विद्वानों का यह मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय के अनुपात में ही कर देना चाहिए। पर यह बात अनुचित है क्योंकि एक लखपति को एक रुपए की सीमान्त उपयोगिता वही नहीं है जो कि उसकी है जिस के पास केवल सौ रुपये हैं। तो फिर हम एक अनुपात में कर लेकर कर-पद्धति में कैसे समता ला सकते हैं ? इसी कारण प्रथम प्रकार के विद्वानों का तर्क न्यायसङ्गत जान पड़ता है।

(२) निश्चितता का सिद्धांत (Canon of Certainty)— कर पद्धति की दूसरी विशेषता कर की निश्चितता है। कर में कई प्रकार की निश्चितता की आवश्यकता होती है। प्रथम तो यह कि कर दाता को यह निश्चय रूप में मालूम होना चाहिए कि उसको कितना कर धन के रूप में देना है। दूसरे उसे यह भी मालूम होना चाहिए कि उसे वह धन किस समय अदा करना है जिससे कि वह उस समय तक उसका प्रबन्ध कर सके। तीसरे उसे यह भी मालूम होना चाहिए कि उसे कर किस ढङ्ग से देना चाहिए अर्थात् एक ही बार देना है अथवा दो किस्तों में अथवा दो से अधिक किस्तों में।

आदम स्मिथ का विचार है कि कर निर्धारण में अनिश्चितता से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। वह इस नियम को बहुत ही आवश्यक समझता है क्योंकि उसके विचार में असमानता की अधिकता इतनी बड़ी बुराई नहीं है जितनी कि अनिश्चितता की बुराई है। डाल्टन भी इसी अति महत्वपूर्ण नियम को मानता है। क्योंकि उसके विचार में समानता के सारे प्रयत्न कर के निश्चित हुए बिना भ्रमात्मक सिद्ध होंगे।[2]

निश्चितता के सिद्धान्त से ही यह सिद्धान्त भी निकलता है कि पुराना कर कोई कर नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह निश्चित होता है। इसी कारण कर दाता उसका अपनी सुविधानुसार प्रबन्ध कर लेता है और कर भार उसको मालूम भी नहीं होता।

---

1 *The Wealth of Nations, Book V, Vol II, P 32-*Adam Smith*

2 *मिलाइये—डैल्टन ह्यू डाल्टन—अर्थशास्त्र के सिद्धान्त—पृष्ठ ६४१

कर की निश्चितता कर-दाता के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् राज्य के लिए भी है। राज्य कर का अनुमान लगा कर ही अपना व्यय निश्चित करता है। यदि राज्य को अनुमान की हुई धन राशि नहीं मिलती तो उसका कार्य पूरा नहीं हो सकता। इसलिए राज्य के लिए भी निश्चितता आवश्यक है। इस प्रकार की निश्चितता लाने के लिए ही लार्ड कार्नवालिस ने बङ्गाल में स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement) चलाया था।

(३) सुविधा का सिद्धान्त (Canon of Convenience)— आदम स्मिथ का कहना है कि 'प्रत्येक कर को ऐसे समय और इस ढङ्ग से लगाना चाहिए जिससे कि कर-दाता को अधिक से अधिक सुविधा मिले।'

प्रत्येक कर ऐसे समय और इस ढङ्ग से एकत्र करना चाहिए जिससे कि कर दाता को कर देने में कठिनाई न हो। यदि कर ऐसे समय और ऐसे ढङ्ग से वसूल किया जाएगा जिससे कि कर दाता को असुविधा होती है तो कम से कम कर का भार भी बहुत अधिक प्रतीत होगा। इसके विपरीत यदि कर ऐसे समय और ढङ्ग से लिया जाएगा जिससे कर दाता को सुविधा होती है तो वह अधिक से अधिक कर को भी महसूस न करेगा। इसी कारण कर ऐसे समय एकत्र करना चाहिए जबकि कर दाता को व्यापार से खूब आय हो रही हो। ऐसे समय कर दाता को कर का भार कम महसूस होता है। यदि हो सके तो कर को दो या तीन किस्तों में वसूल करना चाहिए। एक बड़ी किस्त का भार कई छोटी छोटी किस्तों से कम महसूस होता है।

(४) मितव्ययिता का सिद्धान्त (Canon of Economy)— प्रत्येक कर इस प्रकार से लगाना चाहिए जिससे कि सरकारी खजाने में इससे जितना धन आए उससे जितना भी अधिक लोगों की जेबों से निकले वह कम से कम हो। दूसरे शब्दों में कर के एकत्र करने का खर्च कम से कम होना चाहिए। कर लगाने का उद्देश्य आय प्राप्ति का है। परन्तु कर एकत्र करने में खर्च भी करना पड़ता है। यदि एकत्र करने में बहुत से व्यक्तियों को लगाया जाएगा और इस प्रकार एकत्र करने का खर्च बढ़ा दिया जाएगा तो सरकार की आय स्वाभाविक रूप से ही कम हो जाएगी इसी कारण आदम स्मिथ ने कहा था कि कर वसूल करने का खर्च कम से कम होना चाहिए।

आदम स्मिथ के समय से आज तक संसार ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। यद्यपि आदम स्मिथ के उपर्युक्त चारों सिद्धान्त आज भी इसी प्रकार ठीक माने जाते हैं जिस प्रकार कि वह उसके समय में माने जाते थे परन्तु उसके पश्चात आने वाले अर्थशास्त्रियों ने कुछ और भी सिद्धान्त इनमें जोड़ दिए हैं जो निम्नलिखित हैं—

(५) उत्पादकता का सिद्धांत (Canon of Productivity)— कर-लगाते समय सरकार को यह देख लेना चाहिए कि जो कर लगाया जा रहा है वह

उत्पादक है या नहीं अर्थात् उससे सरकार को पर्याप्त आय मिलती है या नहीं। यह बात तो स्वाभाविक ही है कि कर एकत्र करने में कुछ खर्च करना पड़ता है। यदि कर-धन कम है तो खर्च निकाल कर इस खर्च से राज्य को कोई विशेष लाभ नहीं होगा, परन्तु यदि कर का धन अधिक है तो खर्च निकाल कर अधिक धन सरकार को मिल जाएगा। इसी कारण कई छोटे छोटे करों की अपेक्षा एक बड़ा कर उचित समझा जाता है।

(६) लोच का सिद्धांत (Canon of Elasticity)– सरकार की धन की आवश्यकता सदा एक सी नहीं होती। युद्ध जैसे सङ्कट के समय तो वह बहुत बढ़ जाती है परन्तु शान्ति के समय वह कम होती है। इसी कारण इस बात की आवश्यकता है कि कर-पद्धति लोचदार हो अर्थात् अधिक जरूरत के समय अधिक आय प्राप्त हो सके और कम आवश्यकता के समय कम आय। यदि कर-पद्धति में यह गुण न होगा तो सरकार को बड़े सङ्कट का सामना करना पड़ेगा। भारत में आय-कर इस सिद्धान्त की पूर्ति करता है क्योंकि अधिक आवश्यकता पड़ने पर उसकी दर बढ़ा दी जाती है। इसके विपरीत भूमि की मालगुजारी बेलोच है। उसको बहुत काल तक बढ़ाया घटाया नहीं जा सकता और बङ्गाल में तो वह स्थायी है। इसी कारण राज्य सरकारों के व्यय बढ़ जाने पर उनको आय के नए नए साधन खोजने पड़े।

(७) सरलता (Simplicity)– आरमीटेज स्मिथ के शब्दों में 'कर प्रथा सीधी सादी और सर्वसाधारण की समझ में आने वाली होनी चाहिए।" इसके कारण भ्रष्टाचार बहुत कम हो जाता है। यदि कोई कर-पद्धति इतनी सीधी सादी है कि वह सबकी समझ में आ जाती है तो फिर कोई क्या कर एकत्र करने वाले को घूस आदि देगा। कर एकत्र करने वाला तभी घूस आदि ले सकेगा जब कर-दाता की यह समझ में नहीं आता कि उसको कितना और क्यों कर देना है।

यहाँ एक बात बताने योग्य है और वह यह कि किसी देश की कर पद्धति इन सब सिद्धान्तों को पूरा नहीं कर सकती। इस कारण वही कर पद्धति अच्छी कही जाएगी जो इनमें अधिकाधिक सिद्धान्तों के अनुसार होगी।

करों का वर्गीकरण (Classification of Taxes)— करों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। इनमें से कुछ नीचे दिए जाते हैं–

पहले वर्गीकरण के अनुसार कर चार प्रकार के होते हैं—
१ अनुपातिक (Proportional), २ वर्द्धमान (Progressive), ३ प्रतिगामी (Regressive) तथा ४ अधोगामी [Degressive]।

दूसरे वर्गीकरण के अनुसार कर दो प्रकार के होते हैं– १ प्रत्यक्ष (Direct) तथा २ अप्रत्यक्ष (Indirect)।

तीसरे वर्गीकरण में भी कर दो ही प्रकार के होते हैं— १ विशिष्ट (Specific) तथा मूल्यानुसार (Ad Valorem)।

अनुपातिक कर— इस प्रकार के कर में इस बात की परवाह नहीं की जाती कि कर दाता की आय कम है अथवा अधिक। कर सब प्रकार की आय पर एक ही अनुपात में लिया जाएगा। जैसे यदि कर की दर ५ प्रतिशत रखी गई है और एक व्यक्ति की आय १००० रुपए है और दूसरे की १०,००० रुपये तो पहले व्यक्ति को ५० रुपया कर देना पड़ेगा और दूसरे को ५०० रुपये।

लाभ— इस प्रकार के कर का लाभ यह है कि इसके कारण समाज में धन वितरण पूर्णत ही रहता है क्योंकि ऊपर के दोनों व्यक्तियों के पास पहले की ९५ प्रतिशत आय रह जाएगी। इसके अतिरिक्त इसका यह भी लाभ है कि यह पद्धति बहुत सरल है। इसके द्वारा कोई भी अपने कर का अनुमान बड़ी सुगमता से लगा सकता है। जे० बी० से (J. B. Say) ने इस सम्बन्ध में कहा है।" अनुपातिक कर की परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं है यह सादा त्रैराशिक (Rule of three) है।

हानि— परन्तु राजस्व का उद्देश्य केवल कर पद्धति की सरलता नहीं है। इसके द्वारा सामाजिक न्याय होना चाहिये। परन्तु अनुपातिक कर में न्याय नहीं होता। यदि हम उपर्युक्त उदाहरण को ही लें तो हमको पता चलेगा कि जिस व्यक्ति की आय १,००० रुपये है उसके लिए रुपये की सीमान्त उपयोगिता दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा जिसकी आय १०,००० रुपये है बहुत अधिक है। इस कारण यदि दोनों व्यक्तियों के १०० रुपया में से ५ ५ रुपये लिए जाते हैं तो १००० रुपये की आय वाले व्यक्ति पर अवश्य ही अधिक भार पड़ेगा और १०,००० रुपये वाले व्यक्ति पर कम। इस लिए हम कह सकते हैं कि अनुपातिक कर न्याय सङ्गत नहीं होते।

वर्द्धमान कर— जब कर की दर आय के बढ़ने पर बढ़ती रहती है तो इस प्रकार के कर को वर्द्धमान कर कहते हैं। इस प्रकार के कर को लगाते समय आय को कुछ विभागों में बाँट दिया जाता है जैसे ५००१ रुपए तक की आय ५००० से १०,००० रुपये तक की आय, १०,००० से २०,००० रुपये तक की आय। इसके पश्चात प्रत्येक विभाग की एक कर-दर निश्चित करदी जाती है जैसे ५०००, से कम आय पर ३ पैसे रुपया, ५००० से १०००० रुपये की आय पर ५ पैसे रुपया, १०००० से २०,००० रुपये तक की आय पर ८ पैसे रुपया। कर लगाते समय आय के इस प्रकार के विभाग कर के प्रत्येक विभाग पर उस विभाग की दर के हिसाब से कर लगा दिया जाता है और फिर सब विभागों के करों को जोड़ कर किसी व्यक्ति का कर-भार मालूम कर लिया जाता है। आय को विभागों में बाटने के कारण इस कर को विभाग कर (Graduated Tax) भी कहते हैं।

लाभ— अनुपातिक कर के अवगुणों के कारण वर्द्धमान कर को संसार के बहुत से देशों ने अपनाया है। यद्यपि आदम स्मिथ ने 'कर देने की योग्यता' में अनुपातिक करों का ही वर्णन किया है परन्तु आगे चल कर जब उसने यह कहा कि अमीर लोगों को इससे कुछ अधिक देना चाहिए तब इसमें यह स्पष्ट हो गया कि वह अनुपातिक कर की अपेक्षा वर्द्धमान कर को अच्छा समझता था। वर्द्धमान कर के सम्बन्ध में बहुत से लेखकों ने अपने विचार प्रकट किए हैं जिनमें उन्होंने इस कर को ही ठीक बताया है।

कुछ लोगों का कहना है कि वर्द्धमान कर द्वारा 'समान बलिदान का सिद्धान्त' पूरा होता है। हम सभी जानते हैं कि जैसे जैसे किसी व्यक्ति की आय बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे उसके लिए रुपये की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। इसी कारण अधिक आय वाले लोगों से अधिक कर तथा कम आय वाले लोगों से कम कर लिया जाये तो दोनों को समान बलिदान करना पड़ेगा। इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि यह बात गलत है। प्रो० पीगू ने कहा है कि उपयोगिता ह्रास नियम से केवल इस बात का पता चलता है कि १००० पौंड वाली आय के अन्त के एक पौंड की उपयोगिता १०० पौंड वाली आय के अन्त के एक पौंड की उपयोगिता से कम है। परन्तु वर्द्धमान कर को न्याय संगत ठहराने के लिए यह जानना आवश्यक है कि १००० पौंड वाली आय के अन्त के १० पौंड की १०० पौंड वाली आय के अन्त के एक पौंड से कम उपयोगिता है। यह बात उपयोगिता ह्रास नियम से पता नहीं चलती।

प्रो० हाबसन (Habson) ने वर्द्धमान कर को दूसरे ढङ्ग से उचित बताया है। उनका कहना है कि हर व्यक्ति की आय के दो अङ्ग हैं—एक लागत का अङ्ग और दूसरा बचत का अङ्ग। लागत वाले अङ्ग पर कर लगाना कठिन है क्योंकि ऐसा करने से आय ही समाप्त हो जायेगी। इसी कारण सब प्रकार के कर बचत के ऊपर ही लगाने चाहिए। प्रो० हाबसन का यह कहना है कि कम आय में लागत अङ्ग अधिक सम्मिलित होता है परन्तु अधिक आय में बचत का अङ्ग अधिक होता है। इसी कारण कर वर्द्धमान रीति से लगाना चाहिए क्योंकि आय के बढ़ने से बचत वाला अङ्ग बढ़ता जाता है। परन्तु इस प्रकार की विचार धारा के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यह बात कहनी कि कम आय में लागत वाला अङ्ग अधिक होता है और अधिक आय में बचत वाला अङ्ग अधिक होता है गलत है। इस बात का ठीक अनुमान लगाना कठिन है।

प्रो० मार्शल ने वर्द्धमान कर को इसलिए उचित बताया है कि इसके द्वारा वितरण में समानता आती है। उनका कहना है कि पूँजीवाद के कारण समाज में पूञ्जी का बटवारा असमान हो जाता है। इस असमानता को दूर करने का एक अच्छा साधन वर्द्धमान कर है जिससे धनी लोगों की सम्पत्ति निर्धन लोगों के पास

चली जाती है। परन्तु यह कहना बड़ा कठिन है कि वर्द्धमान कर द्वारा धन का असमान वितरण कहां तक ठीक हो सकता है। प्रो० पीगू ने भी इसी कारण वर्द्धमान कर को उचित बताया है।

लार्ड कीन्स ने अपनी समस्त साधनों के उपयोग की नीति (Policy of Full Employment) के लिए यह बात आवश्यक बताई है कि कर की पुनर्वितरण नीति को अपनाया जाये। यदि समस्त साधनों के उपयोग की नीति' को अपनाया जाये तो उसके लिए यह आवश्यक है कि लोगों के उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति बहुत अधिक हो। उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति को तभी अधिक बनाया जा सकता है जबकि अमीर लोगों से, जिनकी उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति कम होती है गरीब लोगों को, जिनकी उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति अधिक होती है वर्द्धमान करो द्वारा सम्पत्ति का हस्तान्तर किया जाये। इस कारण यदि समस्त साधनों के उपयोग की नीति' को अपनाया जाता है तो वर्द्धमान कर लगाना आवश्यक है।

अन्त में कुछ लोगों का यह कहना है कि वर्तमान राज्य मनुष्य शरीर के समान है। मनुष्य का नैतिक कर्तव्य यह है कि वह अपने से निर्धन लोगों की सहायता करे, यह नि सदेह सत्य है कि सबसे शक्तिशाली कधा को सबसे भारी बोझा उठाना चाहिए। इस युक्ति से यह बात सिद्ध होती है कि धनी लोगों को अधिक कर-भार उठाना चाहिए और निर्धन लोगों को कम। दूसरे शब्दों में कर वर्द्धमान होना चाहिए।

हानि—यद्यपि वर्द्धमान कर को प्राय सभी लोग पसन्द करते हैं परन्तु इस कर के लगाने में एक बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है और वह यह कि हम यह ठीक अनुमान नहीं लगा सकते कि कर की दर कितनी ऊंचाई तक जा सकती है। मक कलच (Mc Culloch) ने ठीक ही कहा है कि यदि हम अनुपातिक कर को छोड़ते हैं तो हम अपने आपको समुद्र में बिना पतवार और कुतुबनुमा के पाते हैं। प्रो० सेलिगमैन (Seligman) ने भी वर्द्धमान कर के ऊपर सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक दृष्टि से विचार करने के पश्चात् यह परिणाम निकाला था, "यदि इस प्रकार, हम सारे वादविवाद का परिणाम निकालें, तो हम देखते हैं कि, जबकि वर्द्धमान कर को हम एक सिद्धान्त के रूप में किसी सीमा तक उचित कह सकते हैं, और व्यक्ति की योग्यता के अनुसार कर नीति को बनाने की सैद्धान्तिक माग का कथन कह सकते है, यह बात तय करनी बड़ी कठिन हो जाती है कि किस सीमा तक और किस प्रकार व्यवहार में इस सिद्धान्त को कार्यान्वित किया जाये।"

इसके अतिरिक्त यह बात निश्चित करनी भी बड़ी कठिन है कि बड़ी आय की प्रति इकाई उपयोगिता छोटी आय की प्रति इकाई उपयोगिता से कम होती है।

वर्द्धमान कर को यदि बढ़ाते जाते हैं तो एक ऐसी सीमा आ जाती है जबकि सारी आय कर के रूप में चली जाती है। इस प्रकार कर लगाना युद्ध काल में भले ही उचित हो परन्तु शान्तिकाल में इससे पूँजी एकत्र होने में बाधा उपस्थित होती है।

प्रतिगामी कर—यह कर वर्द्धमान कर का ठीक उल्टा होता है। इसमें कम आय वाले व्यक्तियों के ऊपर कर की दर अधिक होती है और अधिक आय वालों पर कम। इस प्रकार का कर सदा ही अनुचित माना जाता है। साधारणतया ऐसा कर जान बूझकर नहीं लगाया जाता। वह या तो अचानक ही लग जाता है या इस कारण लग जाता है कि अधिक कर-दाता कर से किसी न किसी प्रकार बच जाता है। इस प्रकार के करों का उद्देश्य कभी भी धन एकत्र करना नहीं होता।

यहाँ एक बात बताने योग्य है कि वर्द्धमान कर भी हर एक विभाग में प्रतिगामी होता है क्योंकि इसमें एक विभाग के हर व्यक्ति के ऊपर कर की एक सी दर लगाई जाती है। इस प्रकार कर उन लोगों के लिए अधिक होता है जो कि न्यूनतम सीमा के समीप होते हैं और उनके लिए कम होता है जो अधिकतम सीमा के पास होते हैं।

अधोगामी कर—इस प्रकार का कर वह होता है जो आय के बढ़ने पर बढ़ता तो है परन्तु कर की दर आय के बढ़ने पर कम हो जाती है। इस प्रकार का कर एक सीमा तक तो वर्द्धमान होता है, परन्तु उसके पश्चात् वह अनुपातिक हो जाता है।

इन सब करों को निम्न तालिका द्वारा समझाया जा सकता है।

आय	अनुपातिक		वर्द्धमान		प्रतिगामी		अधोगामी	
	दर	धन	दर	धन	दर	धन	दर	धन
३०००	५%	१५०	५%	१५०	५%	१५०	५%	१५०
५,०००	५%	२५०	६%	३००	४%	२००	६%	३००
१० ०००	५%	५००	१०%	१०००	२%	२००	६%	६००

प्रत्यक्ष कर—इस प्रकार के कर वह होते हैं जिनका भार उन्हीं लोगों पर पड़ता है जिनके ऊपर वह लगाये जाते हैं। इस प्रकार के करों का बोझा किसी दूसरे व्यक्ति पर हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। आय कर इस प्रकार के कर का एक उदाहरण है। आय कर का बोझा कर देने वाले पर ही पड़ता है, वह किसी दूसरे के ऊपर इस भार को नहीं डाल सकता।

लाभ—इस प्रकार के करो के निम्नलिखित लाभ है —

(१) इस प्रकार के कर वर्द्धमान होते है। इनको इस प्रकार लगाया जा सकता है कि निर्धन लोगो पर इनका बोझा कम पडे और धनी लोगो पर अधिक पडे। इस प्रकार के करो में कुछ छूट भी दी जाती है। इस प्रकार यह कर कर के समानता सिद्धान्त के अनुसार हैं।

(२) इस प्रकार के करो में मितव्ययिता भी बहुत होती है क्योकि इनके एकत्र करने का व्यय बहुत कम होता है। इन करो का बहुत सा धन तो आय के स्रोत पर ही वसूल करके सरकारी खजाने मे जमाकर दिया जाता है।

(३) यह कर निश्चित होते हैं। कर-दाता यह जानता है कि उसको किस दर पर तथा किस प्रकार कर देना है।

(४) इन करो का चौथा लाभ यह है कि यह लोचदार होते है। जब सरकार को अधिक धन की आवश्यकता होती है तब इन करो की दर को बढाकर अधिक धन प्राप्त कर लिया जाता है और आवश्यकता न रहने पर दर को घटाकर आय को कम कर दिया जाता है।

(५) यह कर उत्पादक भी है क्योकि जन सख्या के बढने तथा देश के धन मे वृद्धि होने पर यह कर स्वय ही आय को बढा देते है। इस प्रकार के कर बहुत बडे मूल्य के मदो पर ही लगाये जाते हैं।

(६) इस प्रकार के करो के द्वारा ही लोगो मे नागरिकता की भावना उत्पन्न होती है तथा वे राज्य के बहुत से कार्यों म भाग लेना आरम्भ कर देते हैं।

हानियां—पर जहा इन करो के इतने लाभ है वहा निम्नलिखित हानिया भी हैं —

(१) इन करो के कारण कर-दाता को बडी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। पहले तो उसको अपने हिसाब का पूरा विवरण आय-कर विभाग को भेजना पडता है। यदि आय-कर अफसर हिसाब से सन्तुष्ट न हो तो वह कर दाता को अपना बही-खाता लेकर अपने सामने बुलाता है। इस प्रकार आने जाने मे रुपया भी खर्च होता है तथा कठिनाई भी होती है। इसके अतिरिक्त कर के देने मे भी कठिनाई होती है क्योकि आय एकत्र तो होती है थोडी थोडी करके परन्तु कर के रूप में दी जाती है वह एकदम। इससे कर-दाता को कठिनाई होती है।

(२) यह कर मनुष्य की सच्चाई पर लगाया जाता है। जो व्यक्ति सच्चे होते हैं या जो अपनी आय को छुपा नही सकते जैसे नौकरी करने वाले लोग उनको अधिक कर देना पडता है। परन्तु जो लोग सच्चाई से काम नही लते और अपनी आय का झूठा हिसाब भर कर भेजते है वह कर से बच जाते है। व्यवहारिक जीवन में देखने मे आता है कि बहुधा व्यापारी दोप्रकार के बही-खाते रखते है—एक वह

(६) एक कर में लोग कर से बच सकते हैं परन्तु बहुत से करों से वह नहीं बच सकते।

आय कर के बदले कुछ लोगों का कहना है कि सम्पत्ति के पूंजी मूल्य (Capital Value) पर कर लगाना चाहिये। परन्तु इस कर का क्षेत्र बहुत सीमित है क्योंकि जबकि आय कर प्राय सभी प्रकार की आयों पर लगाया जाता है, यह कर केवल सम्पत्ति की आय पर लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का उचित मूल्य जानना भी सरल बात नहीं है। इस पर साधारणतया बडा मतभेद रहता है। इसलिए यह कर भी उचित नही जान पडता।

एक कर प्रणाली के यह दोष बहु-कर-प्रणाली में दूर हो जाते हैं। बहु-कर-प्रणाली म विभिन्न श्रेणी के लोगो पर कर भार ठीक प्रकार से बाटा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में कोई भी व्यक्ति कर से नहीं बच सकता।

यद्यपि बहु-कर प्रणाली में कुछ गुण पाए जाते हैं परन्तु बहुत अधिक कर लगाने की नीति भी अनुचित है। आर्थर यङ्ग (Arthur Young) का विश्वास बहुत से छोटे छोटे करो में था। उसका यह कहना था, 'कि यदि मुझे एक अच्छी कर पद्धति की परिभाषा करनी पडे, तो यह वह होनी चाहिए जिसमें अनन्त बिन्दुओ पर हल्का भार पडे, किसी पर भारी न पडे।" परन्तु इस कर नीति में कुछ ऐसे दोष हैं जिनके कारण यह अपनाई नहीं जा सकती। यह कर-प्रणाली अव्यावहारिक है क्योंकि इससे उद्योग धन्धो के विकास में बाधा पडती है कर-दाताओ को असुविधा होती है तथा कर वसूल करने का खर्च बहुत अधिक होता है।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि आधुनिक सभ्य समाज के लिए न तो एक कर प्रणाली ही उपयुक्त है और न बहु-कर प्रणाली उपयुक्त है वरन् इन दोनो के बीच की बहुरूपी-कर प्रणाली (Plural Tax System) उपयुक्त है। इस कर प्रणाली में कुछ बडे बडे कर होने चाहिए जिनसे कि आय का एक बडा अश प्राप्त किया जा सके। अमीर आदमियों पर कर लगाने के लिए आय और उत्तराधिकारी कर उपयुक्त है। गरीब आदमियो पर कर लगाने के लिए कुछ ऐसी वस्तुयें छाटी जा सकती हैं जिनका उनके द्वारा उपभोग होता हो परन्तु जो जीवन की आवश्यकताए न हों। मद्य जैसी वस्तुओ पर नैतिक दृष्टि से कर लगाया जाना चाहिए। विलासिता की वस्तुए जिन का आयात विदेशो से होता है, कर लगाने के लिए उपयुक्त हैं।

कर निर्धारण में न्याय की समस्या (Problem of Justice in Taxation)— यन्त्रशास्त्र (Mechanics) का यह एक बडा प्रसिद्ध नियम है कि हल्का बोझा भी यदि ठीक बाँट कर नहीं रखा जाएगा तो वह सहन करना बहुत कठिन हो जाएगा। इसी प्रकार यदि एक छोटे से छोटा कर भी सोच समझ कर

नहीं लगाया जाता तो वह राष्ट्रीय उन्नति के लिए बड़ा भयङ्कर सिद्ध होता है और उसका प्रभाव यह हो सकता है कि सब लोग उनसे नाराज हो जाएं और अन्त में उनके विरुद्ध एक आन्दोलन खड़ा कर दें। इसीलिए कौटल्य ने कहा है कि करों को उस प्रकार प्राप्त करना चाहिए जैसे कि एक पक्के फल को जिससे कि पेड़ को कोई हानि नहीं होती। यदि कर सोच समझ कर लगाया जाता है तो उससे पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त हो जाती है परन्तु उससे करदाता की उत्पादन शक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस लिए यह आवश्यक है कि कर सोच समझ कर लगाना चाहिए। कर को न्याय सङ्गत बताने के लिए बहुत से सिद्धान्त हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

वित्तीय सिद्धांत (The Financial Theory)— इस सिद्धान्त में न्याय का दृष्टिकोण सामने न रख कर केवल आय का दृष्टिकोण सामने रखा गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना है कि कर लगाने वाले के लिए एक मात्र पथ प्रदर्शक यह बात है कि कम से कम विरोध के साथ अधिक से अधिक आय हो। कालबर्ट साहब का कहना है कि "बतख को ऐसे नोचो कि वह कम से कम विरोध के साथ चिल्लाये।" परन्तु इस प्रकार की बात या तो एक विदेशी शासन कह सकता है या एक एकक शासन। किसी देश की प्रजातन्त्र सरकार को कभी यह दृष्टिकोण सामने नहीं रखना चाहिए। उसके सामने न्याय का प्रश्न प्रबल होना चाहिए। यदि वह देश की गरीब जनता पर कर लगाती है क्योंकि उनमें विरोध करने की शक्ति बहुत कम होती है तो उससे उन लोगों की उन्नति नहीं हो सकेगी और ऐसा होने पर कुछ समय पश्चात देश पतन की ओर अग्रसर होने लगेगा। इस कारण कर लगाते समय केवल आय का दृष्टिकोण सामने न रख कर न्याय को भी सामने रखना चाहिए।

क्षतिपूर्ति तथा समाजवादी सिद्धान्त (Compensatory and Socialist Theory)— इन सिद्धान्तों के मानने वालों का मत है कि बड़ी बड़ी आयों पर छोटी छोटी आयों की अपेक्षा अधिक कर लगाना चाहिए। इनमें पहले प्रकार के लोगों का कहना है कि धन वितरण की असमानता अधिकतर राज्य के कार्यों के कारण है, इसलिए राज्य को समान कर लगाने का विचार छोड़ना चाहिए वरन् उसको उन लोगों पर अधिक कर लगाना चाहिए जिनके पास अधिक धन है और उन पर कम लगाना चाहिए जिनके पास कम धन है। इस प्रकार राज्य के कार्य के कारण ही समानता आ जाएगी। इसको क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त कहा गया है। समाजवादी लोगों का कहना है कि नियम्मी आर्थिक शक्तियों के कारण धन का वितरण हो गया है। इसलिए कर सब पर समान नहीं हो सकता। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह आर्थिक शक्तियों के निकम्मेपन को दूर करने के लिए कर लगाए और इस प्रकार कर द्वारा धन का वितरण समान करदे। इस सिद्धान्त को समाजवादी सिद्धांत कहते हैं। परन्तु

यदि इन सिद्धान्तों को मान लिया जाये तो अमीर लोगों पर बहुत भारी कर लगाने जायेंगे जिसके फल स्वरूप पूंजी एकत्र न हो सकेगी। पूंजी न होने का फल यह होगा कि देश में उत्पादन न होगा और इस प्रकार देश को बड़ी हानि होगी। इसलिए करों द्वारा धन के वितरण में समानता लाने की बात भी कुछ उचित नहीं जान पड़ती।

'जैसा तुम्हें मिले वैसा छोड़ दो' सिद्धान्त (Leave as you find them' Theory)—इस सिद्धान्त वाला का मत है कि वर्तमान धन वितरण में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए। उनके अनुसार कर इस प्रकार लगाना चाहिये कि प्रत्येक आदमी कर अदा करके भी उसी स्थिति में रह जाय जिसमें वह पहले था अर्थात समाज के सब लोगों की आपेक्षित स्थिति पूर्ववत रहे। परन्तु यदि इस सिद्धान्त को माना जाये तो सभी वर्गों के लोगों पर कर लगेगा जो कि अनुचित होगा।

'प्रत्येक व्यक्ति को कुछ अदा करना चाहिये' सिद्धान्त ('Every one ought to pay something Theory)—इस सिद्धान्त के मानने वाला का कहना है कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ कर चुकाना चाहिए। ऐसा होने पर वह राज्य के प्रत्येक कार्य में अधिक सक्रिय तथा बुद्धिमानी से भाग लेगा। ऐसा होने पर उसको अपनी स्थिति तथा राज्य में अपने महत्व का आभास होगा। परन्तु यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाए तो गरीब लोगों को यह नागरिक आभास बहुत महगा पड़ेगा। यह आवश्यक है कि गरीब लोग कर के भार से सर्वदा मुक्त होने चाहियें। इसी लिये आधुनिक युग में इस सिद्धान्त को नहीं माना गया।

सेवा के मूल्य का सिद्धांत (Cost of Service Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार कर चुकाने का आधार वे सेवायें होनी चाहिये जो कि राज्य व्यक्तियों के लिए करता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत व्यवहार में व्यक्ति को उस सेवा से अधिक मूल्य नहीं देना पड़ता जो कि उसके लिए की जाती है उसी प्रकार राज्य को भी सेवा के मूल्य से अधिक कुछ भी नहीं लेना चाहिए।

यह सिद्धान्त देखने में बड़ा उचित ज्ञात पड़ता है परन्तु व्यवहार में इस पर कार्य नहीं किया जा सकता। यह बात जरूर है कि यह सिद्धान्त डाक तथा रेलवे आदि का किराया तय करने में लागू किया जा सकता है परन्तु शेष स्थानों पर यह लागू नहीं किया जा सकता। जैसे राज्य व्यक्तियों से उनकी सुरक्षा का मूल्य वसूल नहीं कर सकता क्योंकि सेना का खर्च सारे देश के लिए सामूहिक ही किया जाता है, इस लिये यह जान लेना असम्भव है कि इसमें से कितना खर्च किस व्यक्ति के लिये किया गया है। यह प्रत्यक्ष ही है कि राज्य को निर्धन तथा असहाय लोगों के लिए अधिक खर्च करना पड़ता है क्योंकि एक लाख रुपये की एक सम्पत्ति की रक्षा करने में जितना धन खर्च होता है उससे कहीं ज्यादा उस समय होता है जब कि राज्य को

एक-एक हजार रुपये की सौ सम्पत्तियों की रक्षा करनी पड़ती है। यदि इस सिद्धान्त के अनुसार कर पद्धति होगी तो वह प्रतिगामी हो जायेगी। और यह अन्याय होगा।

इसके अतिरिक्त राज्य गरीब लोगों के लिए कुछ सामाजिक सेवायें करता है जैसे वह उनको बेरोजगारी का लाभ प्रदान करता है तथा उनके लिए शिक्षा और चिकित्सा की सुविधायें भी देता है। यदि राज्य सेवा के अनुसार कर लेगा तो यह एक मखौल ही बन जायगा क्योंकि एक ओर तो राज्य गरीब लोगों की सेवा करेगा तथा दूसरी ओर उसी सेवा का उतना ही मूल्य ले लेगा।

इन सब बातों के कारण इस सिद्धान्त को नहीं माना गया।

लाभ अथवा 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त (Benefit or 'Quid Pro Quo' Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के हर व्यक्ति को उस अनुपात में कर देना चाहिए जो कि उसको प्राप्त लाभ का राज्य के कुल व्यय से है। यदि राज्य से किसी को अधिक लाभ प्राप्त होता है तो उसको अधिक कर देना चाहिये। आदम स्मिथ ने भी इस सम्बन्ध में कहा था कि "हर राज्य के व्यक्तियों को राज्य का कार्य चलाने के लिये उस अनुपात में सहयोग देना चाहिए जिसमें कि उनको राज्य के संरक्षण से लाभ प्राप्त होता है।" कोहन (Cohn) ने इसी सिद्धान्त पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण किया था।

परन्तु इस सिद्धान्त में भी बहुत से दोष हैं। राज्य का बहुत सा ऐसा खर्च होता है जो सब को समान लाभ पहुँचाने के लिये किया जाता है परन्तु यहाँ यह बात निश्चित करनी बड़ी कठिन है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए कितना खर्च किया गया है। यह बात सेना तथा पुलिस के खर्चे के लिये विशेषतः लागू होती है। इस खर्चे का अधिकतर लाभ गरीबों को ही पहुँचता है क्योंकि अमीर आदमी अपनी देख भाल के लिए चौकीदार रख सकते हैं। यही बात कुछ सामाजिक कार्यों के लिए भी लागू होती है। इन कार्यों में शिक्षा, चिकित्सा, पुस्तकालय आदि हैं। इन सब का लाभ भी विशेषतः गरीब लोगों को ही पहुँचता है। इनके अतिरिक्त राज्य की कुछ सेवायें ऐसी हैं जिन पर किये गये खर्च का आसानी से पता चल सकता है। इन में बुढ़ापे की पेन्शन, बेकारी काल की सहायता आदि हैं। परन्तु इन सब का मूल्य लेना केवल मजाक ही होगा।

परन्तु यह सिद्धान्त स्थानीय सरकारों की कुछ सेवाओं पर लागू हो सकता है। *इनमें पानी, बिजली, गैस आदि देना सम्मिलित है। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ* साथ लोगों का यह विचार हो चला है कि या तो इन चीजों का कोई मूल्य ही न लिया जाये और यदि लिया भी जाय तो बहुत कम।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि हर व्यक्ति को उतना कर देना चाहिए जितना कि उसको राज्य से लाभ प्राप्त होता है परन्तु राज्य के द्वारा जीवन,

स्वतन्त्रता सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन की कितनी रक्षा होती है उसका अनुमान लगाना कठिन है। इस लिए लाभ के अनुसार कर लगाना बड़ा कठिन है।

अदा करने की योग्यता अथवा क्षमता का सिद्धांत (Ability to pay or Faculty Theory)—*इस सिद्धान्त के अनुसार हर व्यक्ति को राज्य का कार्य* चलाने के लिए उतना कर देना चाहिये जितना कि वह अदा कर सकता है। दूसरे शब्दों में यदि कोई व्यक्ति अमीर है तो उसको अधिक कर देना चाहिए और यदि वह गरीब है तो उसको कम कर देना चाहिए। जहाँ तक इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है यह बहुत ही उचित और न्याय सङ्गत मालूम पड़ता है। परन्तु इस सिद्धान्त को लागू करने में बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि अदा करने की योग्यता की परिभाषा करनी बड़ा कठिन है। किसी व्यक्ति की कर अदा करने की क्षमता जानने के लिए हमको दो प्रकार विचार करना पड़ेगा। एक तो मनुष्य की दृष्टि से(Subjectively) और दूसरे बाह्य पदार्थ की दृष्टि से(Objectively)। यदि हम करदाता की निज की दृष्टि से कर देने का विचार करें तो उसमें निहित असुविधा और त्याग का विचार करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में तीन प्रकार के विचार मिलते हैं—

(१) समान त्याग का सिद्धांत (Principle of Equal Sacrifice)

(२) समानुपातिक त्याग का सिद्धांत (Principle of Proportional Sacrifice)

(३) न्यूनतम त्याग का सिद्धांत (Principle of Least Aggregate Sacrifice)

(१) समान त्याग का सिद्धान्त—जे० एस० मिल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को राजकीय व्यय के लिए इतना धन देना चाहिए जिससे कि उसको अपने भाग से उसमें कम या अधिक असुविधा अनुभव न हो जितनी कि दूसरे व्यक्ति को अपने से होती है। इस सिद्धान्त का यह अर्थ हुआ कि उन लोगों से अधिक कर लेना चाहिए जो अधिक दे सकते हैं और उनसे कम लेना चाहिए जो कम दे सकते हैं। इस सिद्धांत को लागू करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि गरीब लोगों पर कर न लगाया जाय क्योंकि यदि कर लेने के कारण वह अपनी आवश्यकतायें भी न खरीद सकें तो उन को जो बलिदान करना पड़ेगा उसका अनुमान लगाना कठिन है। इस प्रकार कुछ आय पर कर न लगा कर शेष पर अनुपातिक रीति से कर लगाना चाहिए।

समानुपातिक त्याग का सिद्धान्त—*इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तिगत* कर दाताओं के ऊपर वास्तविक बोझा समान नहीं बल्कि या तो उनकी आय या आर्थिक कल्याण जो वे सरकार से प्राप्त करते हैं उसके समानुपातिक होना चाहिए। जो अधिक त्याग कर सकते हैं उन्हीं को अधिक त्याग करने के लिए कहना चाहिए। दूसरे शब्दों में इस सिद्धांत के अनुसार कर प्रणाली वर्द्धमान होनी चाहिए।

(२) न्यूनतम त्याग का सिद्धांत—यह सिद्धात कर का विचार व्यक्तिगत दृष्टि से न करके सामाजिक दृष्टि से करता है। इस सिद्धात के अनुसार कर इस प्रकार से लगाना चाहिये जिससे कि सारे समाज के ऊपर उसका भार कम से कम पड़े। दूसरे शब्दों में यह सिद्धात अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धात सामने रखता है। अधिकतम सामाजिक लाभ तभी प्राप्त हो सकता है जबकि सारे समाज को कम से कम बलिदान करना पड़ेगा। यह सिद्धात सीमान्त उपयोगिता ह्रास सिद्धान्त पर आधारित है जो कि यह बतलाता कि जितनी भी अधिक आय होती है उतनी ही उसकी उपयोगिता कम होती है। इस कारण यदि बड़ी बड़ी आयों की अन्तिम इकाइयां कर के रूप में ले लीजाये तो उससे कर देने वालो पर कोई विशेष भार नही पड़ेगा। इसलिए सरकार को अपनी आय प्राप्त करने के लिए बड़ी बड़ी आयों पर उस समय तक कर लगाते जाना चाहिए जब तक कि उसकी आवश्यकता पूरी न हो जाये। इस सिद्धान्त के अनुसार हर एक व्यक्ति को कर देने की आवश्यकता नही। कर केवल अमीर आदमियों से ही लिया जाना चाहिये। परन्तु यदि केवल अमीर लोगों पर ही कर लगे गा तो उसके कारण पूंजी के एकत्र करने में कठिनाई उपस्थित हो सकती है जिसका प्रभाव उत्पत्ति पर भी पड़ेगा। इसलिये न्यूनतम बलिदान तभी प्राप्त हो सकता है जब कि सरकार कर भार को विभिन्न लोगो पर इस प्रकार विभाजित करे जिससे कि पूंजी के सचय करने मे बाधा उपस्थित न हो।

परन्तु त्याग का सम्बन्ध व्यक्ति की भावनाओं से है और भावनाओं का ज्ञान कर लेना बड़ा कठिन है। इस कारण मनुष्य की कर देने की योग्यता उसके बलिदान से नही नापी जाती वरन् उसको पदार्थ की दृष्टि से नापा जाता है। इस दशा मे भी योग्यता को नापने के तीन साधन बताये गये है—(१) सम्पत्ति (Property), (२) व्यय (Expenditure) तथा (३) आय (Income) अब। हम इन सब का विचार करेंगे।

(१) सम्पत्ति—प्रारम्भ में लोगों का यह विचार था कि सम्पत्ति के द्वारा किसी मनुष्य की कर देने की योग्यता का पता चल सकता है। परन्तु सम्पत्ति को कर का आधार मान लेने में बड़ी कठिनाइयां आई, जैसे सम्पत्ति का कौनसा मूल्य लिया जावे—उसका विक्रय मूल्य अथवा उसका वार्षिक आय प्राप्ति का मूल्य। मध्यकालीन युग में जब कि सम्पत्ति को बेचा नही जाता था उस समय सम्पत्ति का मूल्य उसकी वार्षिक उपज अथवा आय प्रदान करने की शक्ति से नापा जाता था और इसी प्रकार उस के ऊपर कर निश्चित किया जाता था। सम्पत्ति मे मूल्य के ऊपर कर लेने की प्रथा सबसे पहले अमरीका में पड़ी जहा पर कि भूमि को दूसरी वस्तुओं के समान बेचा जाता था।* परन्तु शीघ्र ही यह बात अनुभव की गई कि

*Plehn—Introduction to Public Finance—P. 92, 93.

सम्पत्ति से मनुष्य की कर देने की योग्यता का ठीक माप नहीं हो सकता। बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी आय तो बहुत होती है परन्तु उनके पास सम्पत्ति बिल्कुल नहीं होती। इसलिए वह कर से बच जाते हैं। इसके विपरीत जिन लोगों के पास थोड़ी सी भी सम्पत्ति होती है उनको कर देना पड़ता है। इस कारण सम्पत्ति को कर देने की योग्यता का माप मानना छोड़ दिया गया।

व्यय—सम्पत्ति के पश्चात् व्यय को कर देने की योग्यता का आधार माना जाने लगा। लोगों का विश्वास था कि जो व्यक्ति अधिक खर्च करते हैं उनमें कर देने की अधिक योग्यता होती है। इसी कारण कर व्यय के अनुसार लगाया जाना चाहिए। परन्तु यह धारणा बिल्कुल गलत है। एक व्यक्ति जिसको एक बड़े परिवार का पालन पोषण करना पड़ता है उसको अवश्य ही अधिक खर्च करना पड़ेगा। इसके विपरीत जिस व्यक्ति का परिवार बहुत छोटा होता है उसको कम खर्च करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में पहले व्यक्ति से अधिक और दूसरे से कम कर लेना अन्याय ही कहा जायेगा। इसलिए व्यय को भी कर देने की योग्यता का आधार नहीं माना गया।

आय—इसके पश्चात् आय को कर देने की योग्यता का आधार माना गया। आजकल इसी आधार पर कर लगाया जाता है। परन्तु इस आधार पर कर लगाने में भी बहुत सी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। जैसे दो व्यक्तियों की आय एक सी हो सकती है परन्तु एक का परिवार बड़ा और दूसरे का छोटा हो सकता है। इन दोनों के ऊपर एक सी दर से कर लगाना अनुचित ही होगा। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति की आय उसके शारीरिक परिश्रम का परिणाम हो सकती है परन्तु दूसरे की आय सम्पत्ति से प्राप्त हो सकती है। इन दोनों आयों पर एक सी दर से कर लगाना भी अनुचित ही होगा। इसी कारण लार्ड स्टेम्प (Lord Stamp) ने कहा है कि किसी व्यक्ति की कर देने की योग्यता मालूम करते समय हमें निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए —

(१) वह समय जिसमें आय प्राप्त की गई हो। प्रायः सभी देशों में पहले वर्ष की आय पर कर लगाया जाता है परन्तु इसमें एक कठिनाई उपस्थित हो सकती है कि जिस वर्ष में कर लगाया गया है उसमें कर देने वाले व्यक्ति को घाटा हो जाए और उसकी कर अदा करने की योग्यता कम हो जाये। इसलिए यह अच्छा हो यदि तीन तीन महीने की आय पर कर लगाकर उसे वसूल कर लिया जाय।

(२) आय निकालते समय पूंजी की घिसावट जो उस आय को प्राप्त करने में हुई वह घटा देनी चाहिए।

(३) यह देखना चाहिए कि आय सम्पत्ति से प्राप्त हुई है अथवा व्यक्ति के परिश्रम से। सम्पत्ति से प्राप्त आय पर ऊंची दर से कर लगाना चाहिए।

(४) कर लगाते समय परिवार का अनुमान भी लगा लेना चाहिए। जिन लोगों के परिवार बड़े हों उन पर कम दर से कर लगाना चाहिए।

(५) यह भी देखना चाहिए कि आय में कितनी बचत सम्मिलित है। बचत पर ही कर लगाना चाहिए।

साधारणतया इन सब बातों का ध्यान रख कर ही आजकल सब देशों में कर लगाये जाते हैं और आय को ही कर देने की योग्यता का आधार माना गया है।

एक अच्छी कर-पद्धति की विशेषतायें (Characteristics of a good Tax System)—

किसी देश की आर्थिक उन्नति के ऊपर उसकी कर-पद्धति का बहुत प्रभाव पड़ता है। इसी कारण करों को लगाते समय बड़ी सावधानी से कार्य लेना चाहिए नहीं तो देश को बड़ी हानि होगी। एक अच्छी कर-पद्धति में निम्नलिखित गुण होने चाहियें।

(१) भारतीय वाणिज्य-चैम्बरों की सघात समिति ने सरकार के कर-जांच आयोग के प्रश्नों का उत्तर देते हुए एक अच्छी कर-पद्धति की विशेषता इस प्रकार बताई है, "सरकार की कर-नीति या यूं कहिये आम आर्थिक नीति ऐसी होनी चाहिए कि लोगों को धन बचाकर उद्योग में लगाने के लिए और इस प्रकार पूँजी के निर्माण के लिए प्रोत्साहित किया जा सके तथा तैयार माल की खपत बढ़ सके।"

(२) अच्छी कर-पद्धति तभी कहलायेगी जबकि उससे प्राय सभी कर-सिद्धान्त पूरे होते हों।

(३) अच्छी कर-पद्धति में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर इस प्रकार लगाये जाते हैं कि उनसे समाज के किसी वर्ग विशेष पर कोई भार नहीं पड़ता। इस प्रकार इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि समाज के ऊपर कर का भार कम से कम पड़े।

(४) कर लगाते समय बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। सरकार को अपनी आय का तो ध्यान रखना ही चाहिए। इसके साथ साथ कर-पद्धति का साधारण तथा हर कर का विशेष प्रभाव जो पड़ने वाला है उसको भी ध्यान में रखना चाहिए।

(५) अन्त में कर लगाते समय ठीक आकड़ों का होना बड़ी आवश्यक बात है। बिना ठीक आकड़ों के कर का विशेष तो कोई लाभ नहीं होगा उल्टे उससे हानि हो सकती है।

कर देने की शक्ति (Taxable Capacity)—कर लगाते समय यह देखना आवश्यक है कि कर-दाता की कर देने की कितनी शक्ति है। पर 'कर देने की शक्ति' क्या है ? इस बात पर विद्वान लोग एक मत नहीं हैं और इसी कारण डा० डाल्टन

ने कहा है कि "स्पष्ट विचारों के हित में, यह अच्छा होगा कि 'कर देने की शक्ति' वाक्शैली को राजस्व के सब गम्भीर वाद-विवादों से बाहर निकाल देना चाहिए।"*

'कर देने की शक्ति' की कई ढङ्गों से परिभाषा की गई है। कुछ लोगों का कहना है कि 'कर देने की शक्ति' का प्रयोग 'निचोड़ की सीमा' के अर्थ में किया जाता है। परन्तु सिल्वरमैन का कहना है कि यह परिभाषा बड़ी सदिग्ध है क्योंकि निचोड़ की सीमा का पता लगाना बड़ा कठिन है। एक समय ऐसा हो सकता है जबकि किसी देश के लोगों को थोड़ा सा कर देते हुए भी बड़ा भार प्रतीत होता है परन्तु दूसरे समय वही लोग बहुत अधिक कर भी बड़ी खुशी से दे सकते हैं। ऐसा साधारणतया युद्ध काल में होता है जबकि देश के मान सम्मान का प्रश्न होता है तथा अपने जीवन मरण का भी प्रश्न होता है। सारे राष्ट्र की दृष्टि से न सोचकर यदि हम इस प्रश्न को व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण से भी विचारें तो भी हमारे सामने बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है क्योंकि देश के अन्दर विभिन्न लोगों की निचोड़ की सीमा विभिन्न होती है। इन कठिनाइयों के कारण यह परिभाषा कुछ उचित नहीं जान पड़ती।

'कर देने की शक्ति' की दूसरी परिभाषा इस प्रकार की गई है, 'अधिकतम धन जो कि किसी देश की आय में से इस प्रकार काटा जाये जिससे कि भविष्य में वह आय बनी रहे।' सर जोशिया स्टाम्प के विचार में 'कर देने की शक्ति' वह धन है जो कि किसी देश की आय में से इस प्रकार काटा जाये कि उससे देश में लोगों को दुखपूर्ण तथा दरिद्र जीवन न बिताना पड़े तथा देश की आर्थिक व्यवस्था अधिक ग्रस्त व्यस्त न हो।' इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही गई है कि देश के लोगों के पास एक न्यूनतम धन राशि छोड़ देनी चाहिए। जिससे कि वह कार्य करने के योग्य तथा इच्छुक रहें। परन्तु यहां पर 'न्यूनतम धन राशि' शब्द सदिग्ध है क्योंकि इनसे यह पता नहीं चलता कि यह केवल जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं के लिए प्रयोग किए गये हैं अथवा समाज के लोगों के जीवन-स्तर के लिये प्रयोग किए गए हैं। यदि देश के लोगों के पास एक न्यूनतम धन राशि ही छोड़ी जाये तो उस दशा में उन्नत देशों की 'कर देने की शक्ति' अधिक होगी और अवनत की कम। रही जीवनस्तर की बात, वह देश, देश में भिन्न है। 'कर देने की शक्ति' की परिभाषा करते समय हमें केवल इसी बात से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए कि हमारे पास इतना धन बच जाये जिससे कि भविष्य में हम अपनी आय को कायम रख सकें वरन् हमको इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि हम अपनी आय को बढ़ावें।

फिंडले शिराज (Findlay Shirras) के अनुसार 'कर देने की शक्ति' वह सारी बचत है जो कि उत्पत्ति में से न्यूनतम उपभोग को घटा कर उतनी उत्पत्ति

---

* Dalton—Principles of Public Finance—Page. 171.

की मात्रा को प्राप्त करने के लिए चाहिए, यदि लोगों का जीवन-स्तर पूर्ववत रहे। न्यूनतम उपभोग में शिराज लोगों के लिए न्यूनतम जीविका सम्मिलित करते हैं तथा लोगों को व्यापार तथा उद्योग धन्धों के उन्नत करने के लिए पूंजी के बढ़ाने तथा उसको बदलने की छूट देते हैं। न्यूनतम जीविका से शिराज का अभिप्राय कार्य क्षमता की आवश्यकताओं से है। शिराज के अनुसार 'कर देने की शक्ति' निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है —

(१) अप्रत्यक्ष करों से कभी भी पर्याप्त आय प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों को सावधानी से इस प्रकार लगाना चाहिए जिससे कि लोगों की 'कर देने की शक्ति' भविष्य में घट न जाये।

(२) जन-संख्या का भी 'कर देने की शक्ति' पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में जन-संख्या आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रही हो तो कर देने की शक्ति' कम हो जाती है।

(३) यदि आय का अधिकतर भाग आराम तथा विलासिता की वस्तुओं पर खर्च होता है तो उसमे 'कर देने की शक्ति' बढ़ जाती है।

(४) साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जितना धन का असमान वितरण होगा 'कर देने की शक्ति' उतनी ही बढ़ जायेगी। पर इसका यह मतलब नहीं है कि धन का असमान वितरण होना चाहिए। धन का समान वितरण होने से सरकार को गरीब लोगों की सहायता पर कम खर्च करना पड़ता है।

(५) यदि किसी देश पर बाह्य ऋण की अपेक्षा आन्तरिक ऋण अधिक होता है तो उस देश की 'कर देने की शक्ति' बढ़ जाती है क्योंकि उस दशा में ब्याज विदेशों में नहीं जाता।

(६) युद्ध काल में शान्ति काल की अपेक्षा अधिक कर देने की शक्ति' होती है क्योंकि युद्धकाल में रुपया पूंजी को बढ़ाने में नहीं लगाया जाता तथा उस समय लोग राष्ट्र भक्ति की भावना से प्रेरित होकर अधिक कर देना चाहते हैं।

डा० डाल्टन शिराज की परिभाषा पर आपत्ति करते हुए सवाल करते हैं कि वांछनीय जीवन-स्तर को अपरिवर्तनशील क्यों माना जाये? डा० डाल्टन ने शिराज की उपर्युक्त बातों जिन पर 'कर देने की शक्ति' निर्भर होती है पर भी आपत्ति की है। उनका कहना है कि इन सबके पश्चात् सिवाय गड़बड़ के कुछ न बचेगा।*

डा० डाल्टन ने 'कर देने की शक्ति' को दो प्रकार बतलाया है—(१) किसी एक राष्ट्र की स्वतन्त्र 'कर देने की शक्ति' तथा (२) दो अथवा अधिक राष्ट्रों की सापेक्षिक कर देने की शक्ति'। इनमें से पहली बात के सम्बन्ध में डा० डाल्टन का

* Dalton—Principles of Public Finance Page. 169.

मत है कि वह किसी प्रकार भी नापी नहीं जा सकती। दूसरी बात अर्थात् आपेक्षित 'कर देने की शक्ति' के सम्बन्ध में उनका विचार है कि हम उसका 'कर देने की योग्यता' से पता लगा सकते हैं। अन्त में डा० डाल्टन इस सम्बन्ध में कहते हैं 'मेरा साधारण परिणाम यह है कि आपेक्षित 'कर देने की शक्ति' एक सत्य बात है, जो कि उचित रूप से दूसरे शब्दों में व्यक्त की जा सकती है, परन्तु स्वतन्त्र 'कर देने की शक्ति' एक कल्पित कथा है जिससे भयानक भूल होने की सम्भावना है।*

---

* Dalton—Principles of Public Finance, Page. 171.

अध्याय ४

कर-भार

(Incidence of Tax)

कर के सम्बन्ध में यह जानना बहुत ही आवश्यक है कि उसका अन्तिम भार किस पर पडता है, क्योकि देखने में यह आता है कि जो व्यक्ति कर को देते है उन्ही पर उसका अन्तिम भार नही पडता वरन् बहुधा वह उसको दूसरो पर ढकेलने का प्रयत्न करते है। इस बात को जानने के लिए हम को कर-दबाव (Impact of Tax), कर-भार (Incidence of Tax) तथा कर-विवर्तन (Shifting of Tax) में भेद करना पडेगा।

कर-दबाव—जिस व्यक्ति पर कानून द्वारा कर लगाया जाता है अर्थात् जिस व्यक्ति की जेब मे से सबसे पहले कर के रूप मे द्रव्य निकलता है उसी पर कर-दबाव पडता है। यदि कोई व्यक्ति विदेश मे कपडा आयात करता है तो उसको आयात-कर देना पडता है। इस कर का प्रारम्भिक भार आयात-कर्त्ता पर पडता है। परन्तु उसका अन्तिम भार उस पर नही पडता क्योकि वह कपडे के दाम बढा कर, कर को दूसरे सौदागरो अथवा उपभोक्ताओ से वसूल कर लेता है। इस प्रकार यद्यपि कर का प्रारम्भिक दबाव तो व्यापारी पर पडता है परन्तु उसका अन्तिम भार उपभोक्ता पर पडता है। इसके विपरीत यदि सरकार किसी की आय पर आय-कर लगाती है तो उसका प्रारम्भिक और अन्तिम दबाव उसी व्यक्ति पर पडता है क्योकि वह किसी दूसरे पर उसका विवर्तन नही कर सकता। इस प्रकार हम देखते है कि जिस व्यक्ति की जेब मे से कर के रूप में द्रव्य निकलता है उसी पर उसका अन्तिम भार पडना आवश्यक नही है वरन् कुछ दशाओ में वह दूसरे लोगो को सहन करना पडता है।

कर-भार—जिस व्यक्ति को कर का अन्तिम दबाव सहन करना पडता है उस पर कर-भार होता है। कर-भार जानने के लिए हमको यह देखना चाहिए कि यदि कर न लगाया जाता तो कर के रूप में दिया गया रुपया किस की जेब में रहता। उपर्युक्त उदाहरण में यदि कपडे पर आयात-कर न लगाया जाता तो कपडे के दाम न बढने के कारण कर का रुपया उपभोक्ता की जेब में ही रहता। इसी कारण यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कर-दबाव कपडे के व्यापारी पर पडता है परन्तु कर-भार उपभोक्ता पर पडता है। दूसरे उदाहरण में यदि कर न लगाया जाता तो वह धन

मत है किसी जेब में ही रहता। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इस कर का भार कर चाव दोनों कर-दाता पर ही पड़ते हैं।

घो कर-विवर्तन—यह वह विधि है जिसके द्वारा कर का भार दूसरे व्यक्तियों पर टाला जाता है। साधारणतया हर व्यक्ति यह चाहता है कि उसके ऊपर कर-भार न पड़े। इसलिए वह किसी न किसी प्रकार उसको दूसरों पर ढकेलने का प्रयत्न करता है परन्तु वह सदा ही अपने प्रयत्न में सफल नहीं होता। इस प्रकार कर विवर्तन किसी किसी दशा में तो थोड़े से बिन्दुओं तक ही सीमित रहता है परन्तु दूसरी दशा में वह कई बिन्दुओं तक फैल जाता है। जैसे यदि एक छोटे व्यापारी पर कर लगाया जाता है तो वह उस कर को उपभोक्ता के ऊपर ढकेल देता है परन्तु उपभोक्ता उसको किसी और व्यक्ति पर नहीं ढकेल सकता। इस प्रकार यहां पर कर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक ही टाला गया है। इसके विपरीत यदि किसी मिल में काम करने वाले मजदूर पर कर लगाया जाता है तो वह उसके कारण मिल मालिक से ऊंची मजदूरी लेने का प्रयत्न करता है, मिल मालिक अपने माल के दाम बढ़ाकर उसको थोक व्यापारियों से वसूल करने का प्रयत्न करता है, थोक व्यापारी फुटकर व्यापारी से उसको वसूल करने का प्रयत्न करता है और फुटकर व्यापारी उस कर को उपभोक्ताओं से वसूल करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार कर का विवर्तन कई बिन्दुओं पर किया जा सकता है।

कर विवर्तन के सम्बन्ध में कई बातें जाननी आवश्यक हैं, जैसे, विवर्तन की दशा (Direction of shifting) विवर्तन का रूप (Form of shifting), विवर्तन की माप (Measure of shifting) आदि।

कर विवर्तन की दशा—यह आगे या पीछे हो सकती है। जब व्यापारी कर लगने पर अपनी वस्तु का मूल्य बढ़ा देता है तो वह उस कर को आगे की ओर ढकेलता है, अर्थात् उस कर का बोझा वह उपभोक्ताओं पर डालता है। इसके विपरीत कर लगने पर यदि व्यापारी यह देखता है कि वह कर लगी हुई वस्तु को ऊँचे दामों पर नहीं बेच सकता तो वह मिल मालिक को उतना ही कम मूल्य देकर उस पर कर को ढकेलने का प्रयत्न करता है। इसको कर का पीछे ढकेलना कहते हैं। कभी कभी कर का विवर्तन बिल्कुल भी नहीं हो सकता, जैसे यदि किसी व्यापारी ने बहुत सा माल खरीद रक्खा है और सरकार उस माल पर कर लगा देती है परन्तु माल की मांग लचकीली होने के कारण यदि वह उस कर को आगे को न बढ़ा सके तो उस कर का भार उसी व्यापारी पर पड़ेगा।

विवर्तन का रूप—कर विवर्तन दो प्रकार किया जा सकता है। पहले, व्यापारी वस्तु का मूल्य कर के बराबर बढ़ा कर उसको उपभोक्ताओं पर ढकेलने

पर कर का कितना भार पड़ेगा और यह बात निश्चित होने पर कोई भी कर अनुचित रूप से नही लगाया जायेगा।

कर देने की योग्यता जानने के लिए भी कर भार की समस्या का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। हम सभी जानते है कि गरीब लोगो की कर देने की योग्यता अमीर लोगो से कम होती है। इसलिए कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कर भार गरीबो पर कम से कम पड़े और अमीरो पर अधिक से अधिक। कर लगाने की यह योग्यता कर-भार के अध्ययन से ही आती है।

हर देश में प्राय प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दो प्रकार के कर लगाये जाते है। प्रत्यक्ष करो का कर-भार तो जानने में कोई कठिनाई नही होती परन्तु अप्रत्यक्ष करो का कर भार जानने के लिये कर-भार की समस्या का अध्ययन करना आवश्यक है। बिना इसके अध्ययन किये ऐसी वस्तुओ पर कर लगाया जा सकता है जो गरीबो के उपभोग में आती है।

यदि सरकार की यह नीति हो कि वह किसी एक वर्ग विशेष के लोगो से कर वसूल करेगी तथा दूसरे वर्ग से नही करेगी तो वह ऐसी चीजो तथा ऐसे ढङ्ग से कर वसूल करेगी जिसका भार केवल उसी वर्ग के लोगो पर हो। इस प्रकार की चीजो तथा ढङ्गो का पता कर भार की समस्या का अध्ययन करने से होता है।

इस लिये कर भार की समस्या का अध्ययन करना बहुत ही आवश्यक है।

कर-भार के सामान्य सिद्धान्त

(General Principles of Incidence of Tax)

(१) कर भार वस्तु की मांग और पूर्ति की लचक पर निर्भर होता है—

किसी वस्तु के उपर लगाये गये कर का भार इस बात पर निर्भर होता है कि उस वस्तु की मांग और पूर्ति की लचक कैसी है। यदि अन्य बातें समान हों तो किसी वस्तु की मांग जितनी भी लचक वाली होगी उसका उतना ही कर-भार विक्रेता पर होगा। इसके विपरीत यदि अन्य बातें समान हो तो किसी वस्तु की पूर्ति जितनी भी लचक वाली होगी उसका उतना ही भार उपभोक्ता पर होगा। यदि किसी वस्तु की मांग बिना लचक वाली है तो मूल्य के घटने बढ़ने का उस वस्तु की माग पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता अर्थात् यदि मूल्य बढ जाये अथवा घट जाये तो उपभोक्ता वस्तु की लगभग पहले जितनी मात्रा ही खरीदता रहेगा। इसलिए यदि कर लगने के कारण मूल्य बढ जाता है तो वह बढ़े हुए मूल्य पर भी पहले जितनी ही मात्रा खरीदेगा। इसीलिये कर का भार उस पर होगा। इसके विपरीत, यदि वस्तु की माग लचक वाली है अर्थात् मूल्य में थोडा सा भी परिवर्तन होने पर वस्तु की माग बहुत अधिक घट या बढ जाती है, तो इस दशा में कर लगने से मूल्य के बढ़ने पर

वस्तु की माग कम हो जायगी। इसलिये यदि विक्रेता अपना सारा माल बेचना चाहता है तो वह मूल्य को नहीं बढ़ाएगा और अपने सब माल को बेचेगा। इस प्रकार कर का भार उस पर पड़ेगा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि माँग के बेलोच होने पर कर का भार उपभोक्ता पर पड़ता है और उसके लोचदार होने पर उसका भार विक्रेता पर पड़ता है। पूर्ति के लोचदार अथवा बेलोच होने का इससे विपरीत प्रभाव पड़ता है। यदि किसी वस्तु की पूर्ति लोचदार है अर्थात् कर लगने पर माँग में कमी होने पर उस को घटाया जा सकता है तो विक्रेता कर का भार उपभोक्ताओं पर ढकेलने में सफल हो जायगा। साधारणतया विक्रेता इस बात का प्रयत्न करते हैं कि वह पूर्ति कम करके कर-भार को उपभोक्ताओं पर डालें और उपभोक्ता इस बात का प्रयत्न करते हैं कि वह माग कम करके कर का भार विक्रेताओं पर डालें। इस खींचातानी में जो भी पक्ष मजबूत होगा उसी पर कर का भार कम पड़ेगा अर्थात् यदि उपभोक्ता मजबूत होंगे तो उन पर करभार कम पड़ेगा और यदि विक्रेता मजबूत होंगे तो उन पर करभार कम पड़ेगा। पूर्ति का विचार करते समय हमें समय की अवधि पर भी ध्यान देना होगा। यदि मूल्य निर्धारण का समय कम होता है तो उसमें पूर्ति माग के बराबर नहीं की जा सकती, इसलिये मूल्य पर माग का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत समय अधिक होने पर पूर्ति को माग के अनुसार घटाया बढ़ाया जा सकता है, इसलिए मूल्य पर पूर्ति का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में वस्तु की पूर्ति साधारणतया बेलोच तथा दीर्घकाल में वह लोचदार होती है। इसलिए अल्पकाल में कर-भार विक्रेता पर हो सकता है परन्तु दीर्घ काल में वह क्रेता पर होगा। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि किसी कर का भार क्रेता तथा विक्रेता में से से कितना किस पर पड़ेगा यह इस बात पर निर्भर है कि माँग की लचक या पूर्ति की लचक के साथ क्या अनुपात है। यदि माग और पूर्ति की लचक समान है तो कर का भार क्रेताओं और विक्रेताओं पर समान पड़ेगा। दूसरे शब्दों में कर लगी हुई वस्तु का मूल्य कर के आधे के बराबर बढ़ जाएगा।

उपर्युक्त कथन व्यवहार में साधारणतया सत्य होता है। परन्तु कई बार ऐसा होता है कि जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है उस वस्तु के क्रेताओं तथा विक्रेताओं पर ही उस का भार नहीं पड़ता बरन् किसी दूसरी उस वस्तु के क्रेताओं तथा विक्रेताओं पर पड़ता है जिसके बनाने में पहली वस्तु काम आती है। उदाहरण के लिए यदि मुरब्बे पर कर लग जाए तो यदि मुरब्बे वाला बोट के दाम कम देता है तो इस का भार मुरब्बे के बोट बनाने वालों पर पड़ सकता है और बोट वाला उस को मजूर कर लेता है।

(२) कर भार स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धता पर निर्भर होता है— कर भार इस बात पर भी निर्भर होता है कि जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है

उसकी स्थानापन्न वस्तुएं (Substitutes) है या नहीं। यदि कर लगने के कारण किसी वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है, परन्तु उस के स्थान पर हम कोई दूसरी वस्तु (जिस पर कर न लगा हुआ हो) काम में ला सकते है, तो ऐसी अवस्था में कर का भार विक्रेताओं पर पड़ेगा क्योंकि यदि वह मूल्य बढ़ायेंगे तो दूसरी बिना कर वाली वस्तु का उपभोग होने लगेगा। जैसे यदि चाय पर कर लगा दिया जाय और कहवे पर कर न लगा हो तो यदि चाय का मूल्य बढ़ा दिया जाए तो लोग कहवे का प्रयोग करने लगेंगे। इसलिए चाय बेचने वाले अधिक चाय बेचने के लिए चाय का मूल्य न बढ़ा कर स्वयं ही कर का भार सहन करेंगे। यह बात सिद्धान्त में तो ठीक है परन्तु व्यवहार में चाय पर लगे हुए कर का सारा भार चाय-विक्रेताओं पर न पड़कर चाय के उपभोक्ताओं पर भी कुछ समय तक पड़ेगा क्योंकि चाय पीने वालों को कहवे की आदत डालने के लिए कुछ न कुछ समय लगेगा। इस बीच में वह चाय का भी प्रयोग करेंगे और कहवे का भी। इसलिए कुछ समय तक चाय बेचने वाले मूल्य में कुछ वृद्धि करके उसको बेच सकते है। जिस समय तक विक्रेता ऐसा करने में सफल हो सकते है उस समय तक कर का भार चाय के उपभोक्ताओं पर पड़ेगा।

(३) कर भार उत्पत्ति के नियमों पर निर्भर होता है—कर-भार का सम्बन्ध उत्पत्ति के नियमों से भी बहुत गहरा है। किसी वस्तु की उत्पत्ति निम्नलिखित तीन नियमों में से किसी एक के अन्तर्गत अवश्य होगी—(१) क्रमगत उत्पत्ति समानता नियम (*Law of Constant Returns*), (२) क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns), (३) क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns)। क्रमगत उत्पत्ति समानता नियम के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली वस्तु चाहे कम मात्रा में उत्पन्न हो अथवा अधिक मात्रा में, प्रति इकाई उत्पादन-व्यय समान ही रहता है। जो वस्तु क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पन्न होती है उसका उत्पादन व्यय अधिक मात्रा उत्पन्न करने में बढ़ता है तथा कम मात्रा में उत्पन्न करने में घटता है। क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली वस्तु का लागत खर्च अधिक उत्पादन पर घटता है तथा कम उत्पादन पर बढ़ता है। इतना समझ लेने के पश्चात् यह समझना सरल है कि कर लगने पर उस का अन्तिम भार किस पर पड़ेगा।

क्रमगत उत्पत्ति समानता नियम के अन्तर्गत कर-भार—यदि किसी वस्तु पर कर लगाया गया है और वह क्रमगत उत्पत्ति समानता नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जा रही है तो उस कर का भार क्रेता पर पड़ेगा क्योंकि कर लगने के फलस्वरूप जब मूल्य में वृद्धि होकर माग कम हो जाएगी तब उस वस्तु को कम मात्रा में उत्पन्न किया जायेगा। ऐसा करने पर भी उत्पादन व्यय पूर्ववत ही रहता है।

इस कारण उत्पादक कम उत्पादन करके पूर्ति को माग के बराबर करने का प्रयत्न करता है इस प्रकार वह उपभोक्ताओं को कर भार सहन करने के लिए बाध्य कर देता है। उदाहरण के लिए यदि इस नियम के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली किसी वस्तु का उत्पादन व्यय १५ रुपये मन है और उस की माग १००० मन है और उस पर ८ आने मन का कर लग जाने पर यदि माग ८०० मन रह जाय तो भी उत्पादन व्यय १५ रुपये मन ही रहेगा। इसलिये वह पूर्ति को बिना हानि के १००० मन से घटा कर ८०० मन कर सकता है। इस प्रकार विक्रेता उस वस्तु को १५ रु० ८ आने मन के हिसाब से बेचकर कर भार को उपभोक्ताओं पर डाल देगा।

क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत कर भार—जब किसी वस्तु का उत्पादन क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत होता है तो कर के लगने के कारण मूल्य में जो वृद्धि होती है वह कर के धन के बराबर नहीं होती वरन् उससे कम होती है। इस प्रकार कर का कुल भार जनता पर नहीं पड़ता। ऐसा होने का यह कारण है कि कर लगने पर जब वस्तु की माग कम हो जाती है तब उसकी कम मात्रा की उत्पत्ति की जाती है और वस्तु के उत्पादन पर क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के कारण कम मात्रा का उत्पादन-व्यय प्रति इकाई कम हो जाता है। उत्पादन व्यय में कमी हो जाने के कारण ही वस्तु का मूल्य कर की मात्रा के बराबर नहीं बढ़ता। मान लिया कि कर लगने से पूर्व एक लाख मन गेहूं १२ रुपये मन की दर पर उगाया जाता है। गेहूं पर १ रु० मन कर लग जाता है। इसके फलस्वरूप गेहूं की माग घट कर ७५ हजार मन रह जाती है। परन्तु ७५ हजार मन गेहूं को ११ रुपये आठ आने प्रति मन की दर पर उगाया जा सकता है। इसमें १ रु० मन कर को जोड़कर गेहूं का मूल्य १२ रुपये ८ आने होता है। इस प्रकार मूल्य तो बढ़ा १२ रुपये से १२ रु० ८ आ० अर्थात ८ आ० प्रति मन परन्तु कर लगा १ रुपये मन की दर पर। इस प्रकार उपभोक्ताओं पर कुल ८ आने प्रति मन कर का भार पड़ा।

क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत कर भार— जो वस्तु क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती है उस पर यदि कर लगाया जाता है तो उस वस्तु का मूल्य कर के मूल्य से भी अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार जनता पर कर के धन से भी अधिक भार पड़ता है। इसका कारण यह है कि कर लगने पर उस वस्तु की मांग घट जाती है और कम मात्रा की लागत व्यय बढ़ जाता है। इसलिए वस्तु के मूल्य में कर के धन से भी अधिक वृद्धि हो जाती है। इसको एक उदाहरण द्वारा बताया जा सकता है। मान लिया कोई कपड़ा ८ आने प्रति गज की दर से १० हजार गज बनाया जाता है। इस कपड़े पर १ आना गज का कर लग गया। कर लगने से मूल्य में जो वृद्धि हुई उसके कारण कपड़े की माग घटकर ८ हजार गज रह गई। यह ८ हजार गज कपड़ा ८ आने ६ पाई प्रति गज की दर से

बनाया जा सकता है। इस प्रकार विक्रेता कपडे को ८ आने ६ पाई जमा १ आना, अर्थात ६ आने ६ पाई प्रति गज की दर पर बेचेगा। इस प्रकार हम देखते है कि कर तो बढा कुल १ आना प्रति गज की दर से परन्तु कपडे का मूल्य बढा १ आना ६ पाई प्रति गज की दर से। इस प्रकार इस दशा में क्रेताओ को कर के धन से भी अधिक कर-भार सहन करना पडेगा।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कर केवल उन्ही वस्तुओ पर लगाना चाहिए जो क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती है और उन वस्तुओ के उत्पादन पर जो क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न होती हैं आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कर भार (Incidence Under Perfect Competition)—पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में बहुत प्रकार के उत्पादक होते है। उनमें मे कुछ उत्पादक तो बहुत ही अच्छे होते है और उनका प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम होता है परन्तु कुछ उत्पादक ऐसे होते हैं जो कठिनाई से ही अपनी लागत निकाल पाते है। ऐसे उत्पादको को सीमान्त उत्पादक कहते हैं। इस प्रकार उत्पादको में से प्राय हर एक का उत्पादन-व्यय भिन्न होता है परन्तु वस्तु का विक्रय मूल्य सब के लिए समान होता है। ऐसी स्थिति में कर के भार का प्रभाव दो प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है। पहले, कर प्रभाव जब वह वस्तु पर लगाया जाता है, दूसरे, कर प्रभाव जब वह उत्पादको के लाभ पर लगाया जाता है।

वस्तु पर लगाये गये कर का प्रभाव— पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में जब वस्तु पर कर लगाया जाता है तो उसके भार को देखने के लिए हमको कई बातो का ध्यान रखना पडेगा। (१) वस्तु की माग और पूर्ति की लचक-वस्तु की माँग जितनी अधिक लचकीली होती है उतना ही कर का भार विक्रेता पर पडता है। इस के विपरीत वस्तु की पूर्ति जितनी अधिक लचक वाली होती है उतना ही कर का भार क्रेताओं पर पडता है। परन्तु क्रेताओ और विक्रेताओ की आपसी प्रतियोगिता के कारण कर भार दोनो पक्षो की सौदा करने की शक्ति के अनुसार बट जाता है। साधारणतया विक्रेता इस बात का प्रयत्न करते हैं कि वह कर-भार क्रेताओं पर ढकेल दे परन्तु यदि कर की मात्रा बहुत कम होती है तो विक्रेता उसको स्वय ही सहन कर लेते है।

(२) उत्पत्ति के नियम— जैसा ऊपर बताया जा चुका है जो वस्तु उत्पत्ति समानता नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती है उसका पूरा कर भार उपभोक्ताओं पर होता है। परन्तु जो वस्तु उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पन्न होती है उसका पूरा कर भार उपभोक्ता पर नही पडता वरन् कुछ कम पडता है क्योंकि माग कम

होने के कारण वस्तु की कम पूर्ति कम मूल्य पर उत्पन्न की जा सकती है। जो वस्तु उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती है उस पर लगाए गए कर के कारण उपभोक्ता पर कर से भी अधिक भार पड़ता है क्योंकि कम माग हो जाने पर कम पूर्ति उत्पन्न करने से प्रति इकाई मूल्य बढ़ जाता है इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वस्तु पर लगाए गए कर का भार साधारणतया उपभोक्ता पर ही पड़ता है।

लाभ पर लगाये गये कर का प्रभाव—लाभ पर लगाए गए कर का प्रभाव इससे भिन्न होता है। यहाँ पर एक ऐसी न्यूनतम सीमा होती है जिससे नीचे वाली आयो पर कोई कर नही लगाया जाता। छोटे छोटे उत्पादकों की आय (जिनको सीमान्त उत्पादक कहा जा सकता है) पर कोई कर नही लगता क्योंकि वह न्यूनतम सीमा से कम होती है, परन्तु अच्छे उत्पादकों की आय पर कर लगता है क्योंकि वह न्यूनतम सीमा से अधिक होती है। ऐसी स्थिति में यदि बडे बडे उत्पादक मूल्य बढा कर, कर वसूल करना चाहेंगे तो वह ऐसा करने मे सफल न हो सकेंगे क्योंकि ग्राहक सीमान्त उत्पादकों के पास चले जायेंगे क्योंकि उन पर कर न होने के कारण वह अपने मूल्य को नही बढ़ावेंगे। इसलिए ऐसी स्थिति में कर का भार अच्छे उत्पादकों पर पडेगा। यदि कर आय के अनुपात में भी लगाया जाता है तो भी कर का भार उत्पादकों पर ही होगा क्योंकि बडे बडे उत्पादक जिन पर अधिक कर लगेगा वह इस डर से कि कही छोटे छोटे उत्पादक जिन पर कर कम है माल को सस्ता न बेंच दें वस्तु के मूल्य को न बढा कर अपने आप ही कर-भार सहन कर लेंगे। इस प्रकार लाभ पर लगाया गया कर दूसरो पर ढकेलना कठिन है।

***एकाधिकार के अन्तर्गत कर का भार* (Incidence Under Monopuly)**— एकाधिकारी का एक मात्र उद्देश्य यह होता है कि वह अधिकतम लाभ प्राप्त करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह इतनी उत्पत्ति करता है जो कि उसको अधिकतम लाभ प्रदान कर सके। यह तभी होता है जबकि एकाधिकारी की सीमान्त आय (Marginal Revenue) तथा सीमान्त लागत (Marginal Cost) बराबर हो जाती हैं। एकाधिकारी पर दो प्रकार से कर लगाया जा सकता है– (१) एकाधिकारी लाभ पर, (२) उत्पत्ति पर।

लाभ पर कर का भार– जब एकाधिकारी के लाभ पर कर लगाया जाता है तब वह या तो एक मुश्त रकम (Lump sum) के रूप में लिया जाता है या लाभ के किसी अनुपात में लिया जाता है। इन दोनो अवस्थाओं में कर का भार एकाधिकारी पर पडेगा क्योंकि एकाधिकारी पहले ही ऐसा मूल्य निश्चित कर चुका है जो उस को अधिकतम लाभ दे रहा है। इसलिए यदि वह मूल्य को बढावेगा तो माग कम होने

पर उसका लाभ घट जाएगा। इसलिए एकाधिकारी वस्तु का मूल्य न बढ़ा कर स्वयं ही कर भार सहन करता है।

उत्पत्ति की मात्रा पर कर— जब उत्पत्ति की मात्रा पर कर लगाया जाता है तब कर को उत्पत्ति लागत में सम्मिलित किया जाता है। वस्तु की सीमान्त लागत बढ़ जाने से पहले से अधिक मूल्य पर ही सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर होंगी। इस प्रकार कर लगने पर वस्तु का मूल्य बढ़ जाएगा। मूल्य की यह वृद्धि कितनी होगी यह इस बात पर निर्भर होगा कि उस वस्तु की माग तथा पूर्ति की लचक कैसी है। यदि वस्तु की माग लचकदार है तो कर का भार अधिकतर एकाधिकारी पर होगा क्योंकि मूल्य बढ़ने पर माग कम हो जाएगी और एकाधिकारी का लाभ कम हो जाएगा। इसके विपरीत यदि माग बेलोच है तो कर का भार उपभोक्ता पर पड़ेगा क्योंकि यहा मूल्य में वृद्धि होने पर माग कम न होगी। यदि हम वस्तु की पूर्ति पर विचार करें तो हम कह सकते हैं कि जिस वस्तु की पूर्ति लोचदार है उस वस्तु पर लगाये गए कर का भार उपभोक्ता पर पड़ेगा क्योंकि कर लगने पर यदि माग कम होती है तो भी एकाधिकारी को कोई हानि नहीं होती। इसके विपरीत, यदि पूर्ति बेलोच है तब कर का भार एकाधिकारी पर पड़ेगा क्योंकि माग के अनुसार पूर्ति न घट सकने के कारण वह सारी पूर्ति को कम मूल्य पर बेचने का प्रयत्न करेगा। यदि माग पूर्ति से अधिक लचकदार है तो कर का अधिक भार उत्पादक पर होगा। इसके विपरीत, यदि पूर्ति माग की अपेक्षा अधिक लोचदार है तो कर का अधिक भार उपभोक्ता पर रहेगा। उत्पत्ति के नियमों के अनुसार भी कर का अधिकतर भार उपभोक्ता पर रहेगा क्योंकि कर लगने पर वस्तु का मूल्य कुछ न कुछ अधिक हो जाएगा। यदि कर की मात्रा उत्पत्ति के बढ़ने पर घटती हो तो एकाधिकारी अधिक सामान बेचने के लिए कम मूल्य रखेगा और इस प्रकार कर-भार एकाधिकारी पर होगा। इस दशा में एकाधिकारी वस्तु का गुण घटा कर उसको कम मूल्य पर भी बेच सकता है।

भूमि पर लगाये गये कर का भार (Incidence of Tax on Land)— भूमि पर लगाए गए कर का भार जानने के लिए हमको कई बातों का ध्यान रखना पड़ेगा। आर्थिक लगान पर लगाए गए कर का भार जमींदार पर होता है क्योंकि आर्थिक लगान भूमि की उपज के मूल्य में से लागत खर्च निकाल कर बचता है। इस लागत खर्च में सामान्य लाभ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। इसलिए काश्तकार कर का भार सहन करने को तैयार न होगा क्योंकि उसके पास कोई बचत नहीं होती। हा यदि जमींदार काश्तकार से पूरा आर्थिक लगान न ले रहा हो तब कर का भार काश्तकार पर भी पड़ सकता है।

भूमि पर फसलें उगाई जाती है। यदि कर किसी एक फसल, जूट, को उगाने वाली भूमि पर लगा दिया जाता है और दूसरी फसलों को उगाने वाली भूमि पर नहीं लगाया जाता तो इस कर का भार जूट के उपभोक्ताओं पर पड़ेगा क्योंकि यदि वह कर देने के लिये राजी न होंगे तो जूट के उत्पादक जूट का उत्पादन छोड़ देंगे और उनकी मांग पूरी न हो सकेगी। इसलिये उनको कर देना ही पड़ेगा।

यदि कर भूमि की उपज की मात्रा के अनुपात में लगाया जाता है तो उसका भार मांग की लचक पर निर्भर होता है। इस कर के लगने से उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है। यदि मांग बेलोच है तो मूल्य बढ़ने पर भी मांग कम न होगी इसलिये कर का भार उपभोक्ता पर होगा। इसके विपरीत जब मांग लचक वाली हो तब कर लगने से वस्तु के मूल्य में जो वृद्धि होती है उस के कारण मांग कम हो जाती है। इसके कारण सीमान्त खेतों पर खेती होनी बन्द हो जाएगी। इस प्रकार लगान कम हो जाएगा। इसलिए जमींदार कर को स्वयं ही सहन करेगा और यदि नहीं करेगा तो उसका लगान कम हो जाएगा।

इमारतों पर लगाये गये कर का भार (Incidence of Tax on Buildings)— इमारतों पर लगाए गए कर का भार बड़ा पेचीदा होता है। इमारतों का कर भार इमारतों के मालिक पर ही नहीं पड़ता वरन् वह किराएदार तथा बनाने वाला पर भी पड़ सकता है। यदि किराएदार इस इमारत में व्यापार कर रहा है तो वह कर-भार को अपने ग्राहकों पर भी ढकेल सकता है। परन्तु व्यापारी अपने ग्राहकों पर कर भार तभी ढकेल सकेगा जबकि वह उसी से साधारणतया माल खरीदते हों और दूसरे किसी स्थान से न खरीदते हैं। परन्तु यदि आवागमन के साधनों तथा डाक आदि की उन्नति हो जाए तो व्यापारी की कर-भार ढकेलने की शक्ति पर आघात पहुंचता है क्योंकि ग्राहक उससे माल न खरीद कर दूसरे उन स्थानों से खरीदने लगते हैं जहां कर न लगा हुआ हो। परन्तु इस प्रकार माल खरीदने का लाभ केवल अमीर आदमी ही उठा सकते हैं, गरीब आदमी ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए कर भार उन पर पड़ेगा।

अब हमको यह देखना चाहिए कि किराएदार तथा मालिक मकान दोनों में किस के ऊपर कर-भार पड़ता है। यदि मकानों की मांग बेलोच है (जो कि साधारणतया होती है) तो कर का अधिकतर भाग किराएदार पर पड़ता है। इसके विपरीत यदि मकानों की मांग लोचदार है अर्थात यदि किसी स्थान पर मकानों की पूर्ति उनकी मांग से अधिक हो तब कर का भार मालिक मकानों पर पड़ सकता है परन्तु यह कर भार उन पर थोड़े ही समय के लिए रहता है क्योंकि जैसे जैसे जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ मकानों की मांग बढ़ती है वैसे ही वैसे मालिक मकान कर भार किराएदारों

पर ढकेलना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार अन्त में प्रायः सारा कर-भार किराये दारों पर पड़ता है।

आयात और निर्यात करों का भार (*Incidence of Import and Export Duties*)—आयात और निर्यात करों से दो देशों के बीच होने वाले व्यापार में बड़ी बाधा उपस्थित होती है। इन करों के भार को निश्चित करने में हमको कई बातों की ओर ध्यान देना होगा। इसमें हमको यह देखना चाहिए कि वह दो देश जो आपस में व्यापार कर रहे हैं उनको एक दूसरे की वस्तुओं को प्राप्त करने की कितनी तीव्रता है। दूसरे शब्दों में हमको यह देखना पड़ेगा कि एक देश के लिए दूसरे देश की वस्तु की माग कैसी है। लोचदार है अथवा बेलोच। यदि एक देश (भारत) के लिए दूसरे देश (अमरीका) की मशीन की माग बेलोच है परन्तु अमरीका के लिए भारत की चाय की माँग लोचदार है तो इस प्रकार के करों का अधिकतर भार भारत के लोगों पर होगा। इसका कारण यह है कि भारत के लोग अमरीका की मशीन खरीदे बिना नहीं रह सकते परन्तु अमरीका के लोग भारत की चाय के बिना अपना काम चला सकते हैं। इस कारण उनको मशीन खरीदते तथा चाय बेचते समय कर भार अपने आप सहन करना पड़ेगा।

कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि आयात और निर्यात करों का भार सदा ही उस देश के लोगों पर होता है जो कि उनको लगाते हैं और यह कि यह कर भार विदेशी लोगों पर नहीं ढकेला जा सकता। परन्तु यह बात गलत है। यदि कोई देश ऐसा है जिसमें कि किसी वस्तु की संसार में उत्पन्न होने वाली मात्रा का एक बहुत बड़ा भाग उत्पन्न होता है तो ऐसा देश इस वस्तु पर लगाये गए निर्यात कर का भार विदेशियों पर ढकेलने में सफल हो सकता है तथा विदेशी जो वस्तु इस वस्तु के बदले में देंगे उसका आयात कर भी विदेशियों को ही देने पर बाध्य करेगा। इसके विपरीत यदि किसी देश में संसार की उत्पत्ति का एक छोटा सा भाग ही उत्पन्न होता है तो ऐसा देश विदेशियों पर कर-भार नहीं ढकेल सकता।

यदि वह देश जिनकी अधिकतर निर्यात पक्का माल है तथा अधिकतर आयात कच्चा माल तथा खाद्य पदार्थ है आयात अथवा निर्यात कर लगाते हैं तो इनका कर भार उन्हीं देशों के लोगों पर पड़ेगा क्योंकि पक्के माल की माग साधारणतया लोचदार तथा कच्चे माल की माग बेलोच होती है। इंगलैंड के लोग विदेशियों पर अपने आयात तथा निर्यात करों को नहीं ढकेल सकते।

यदि किसी वस्तु का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय है तो इस वस्तु की पूर्ति किसी एक देश के बाजार के लिए जिसमें उस वस्तु की थोड़ी सी मात्रा बिकती है लोचदार होती है। ऐसी स्थिति में लगाये गये आयात अथवा निर्यात कर का पूरा भार उसी देश के लोगों पर होगा।

कर-भार इस बात पर भी निर्भर होता है कि विदेशी उत्पादक की आयात करने वाले देश के उत्पादकों के साथ प्रतियोगिता है, अथवा वह एकाधिकारी है। प्रतियोगिता की स्थिति में तो विदेशी-उत्पादक कर भार को दूसरों पर डाल ही नहीं सकता, परन्तु एकाधिकार की स्थिति में भी वह ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने पर उसका लाभ कम हो जावेगा। इस प्रकार दोनों हालतों में कर-भार विदेशी उत्पादक पर ही पड़ेगा।

आय-कर का भार (Incidence of Income-Tax)—आय कर के भार के सम्बन्ध में लोगों के दो विचार हैं। एक प्रकार के लोग कहते हैं कि जब व्यापारी अपने माल का मूल्य निश्चित करता है तो वह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आय-कर को ध्यान में रखता है। परन्तु दूसरे प्रकार के लोगों का विचार है कि आय-कर दूसरों पर नहीं टाला जा सकता। इसलिये हमारे लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि क्या विक्रेता आय-कर को मूल्य बढ़ा कर दूसरों के ऊपर ढकेल सकता है।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में दीर्घ काल में मूल्य सीमान्त उत्पादक के उत्पादन-व्यय के बराबर ही जाता है और सीमान्त उत्पादक को कोई लाभ नहीं होता इस लिए मूल्य के निश्चित करने में आय-कर सम्मिलित नहीं होता। यदि कोई व्यापारी अपना मूल्य बढ़ा कर, कर को वसूल करने का प्रयत्न भी करेगा तो दूसरे उत्पादक उसको ऐसा न करने देंगे। पहले तो अपने ही देश के उत्पादक कई प्रकार के होंगे। उनमें से कुछ आय-कर देते होंगे और कुछ आय-कर नहीं देते होंगे। जो उत्पादक आय-कर नहीं देते वह अपने माल को सस्ता बेच सकते हैं। इस लिए यदि कोई व्यापारी मूल्य बढ़ा कर, कर वसूल करने का प्रयत्न करेगा तब कर न देने वाले व्यापारी उसको ऐसा नहीं करने देंगे। इसके अतिरिक्त मूल्य बढ़ाने वाले व्यापारी को विदेशियों के साथ भी प्रतियोगिता करनी पड़ेगी। प्रत्येक देश में कर लगाने का एक सा ढंग नहीं होता। जिस देश में कर कम लगता होगा उस देश के उत्पादक अवश्य ही प्रतियोगिता कर सकते हैं। प्रतियोगिता के भय के कारण कर लगने पर भी व्यापारी मूल्य नहीं बढ़ाते। इसलिए कर भार उन्हीं पर पड़ता है।

एकाधिकारी भी साधारणतया आय-कर का भार स्वयं ही सहन करता है। एकाधिकारी स्वयं ही इस प्रकार का मूल्य निश्चित करता है जिससे उसका लाभ अधिकतम हो। इसलिए यदि कर लगने पर वह मूल्य में किसी प्रकार की वृद्धि करता है तो उसको अधिकतम लाभ प्राप्त न होगा। इसलिए वह स्वयं ही कर का भार सहन करेगा।

बड़ी बड़ी कम्पनियां भी कर भार को ढकेलने का प्रयत्न नहीं करतीं। कम्पनियों के हिस्सेदार कई प्रकार के होते हैं। उनमें से कुछ को कर देना पड़ता है और कुछ को कर नहीं देना पड़ता। इसलिए कम्पनी के सब हिस्सेदारों को कर को ढकेलने में कोई रुचि न होने के कारण कर भार कम्पनी ही सहन करती है।

कुछ दशाओं में कर-भार का विवर्तन किया भी जा सकता है जैसे जब मूल्य बहुत तेजी से बढ़ रहे हों तथा जब अपूर्ण प्रतियोगिता हो। पर इस प्रकार कर का विवर्तन थोड़े ही समय के लिए किया जा सकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि दीर्घकाल में कर के भार का विवर्तन नहीं किया जा सकता।

कर का पूंजीकरण (Capitalisation of Taxes)—जब किसी टिकाऊ सम्पत्ति की आय पर कर लगा दिया जाता है तो उस सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय घट जाती है जिस के कारण सम्पत्ति का मूल्य भी घट जाता है। इस प्रकार की स्थिति को कर का पूंजीकरण (Capitalisation of Taxes) कहते हैं। कर का पूंजीकरण ब्याज की प्रचलित दर के अनुसार किया जाता है। इस बात को हम एक उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं। एक भूमि का वार्षिक लगान १०० रुपये है तथा ब्याज की दर ४ प्रतिशत है तो उस भूमि का मूल्य २५०० रुपये होगा (४ रुपये प्राप्त होते हैं १०० रुपये पर, तो १०० रुपये प्राप्त होंगे २५०० रुपये पर)। अब सरकार लगान पर १० प्रतिशत कर लगा देती है। इसके कारण भूमि का शुद्ध लगान १०० रुपये से घट कर ९० रुपये रह जाता है। इसलिए भूमि का मूल्य भी घट जाता है। अब भूमि का मूल्य केवल २२५० रुपये ($\frac{१००}{४}\times ९०$) रह जाता है। इसलिए कर लगाने के पश्चात् यदि भूमि बेची जाती है तो उसको खरीदने वाला उस भूमि का इतना मूल्य देगा जिससे कि उसको ४ प्रतिशत ब्याज प्राप्त होता रहे, अर्थात् वह २२५० रुपये देगा। इस प्रकार इस कर का भार भूमि खरीदने वाले पर न पड़ कर भूमि बेचने वाले पर पड़ेगा। बेचने वाला इस कर का पूंजीकरण कर देगा अर्थात् वह अपनी भूमि का मूल्य घटा देगा। इस प्रकार कर का भार मार सम्पत्ति के स्वामी पर पड़ेगा।

कर का पूंजीकरण कब किया जा सकता है?—कर का पूंजीकरण निम्नलिखित बातों के पूरा होने पर ही हो सकता है —

(१) जब वस्तु टिकाऊ हो तथा उसकी पूर्ति न बढ़ाई जा सके—कर का पूंजीकरण उसी सम्पत्ति पर किया जा सकता है जो टिकाऊ हो तथा जिसकी पूर्ति माँग के अनुसार न घटाई बढ़ाई जा सके, जैसे भूमि। यदि वस्तु टिकाऊ न होगी तथा उसकी पूर्ति माँग के अनुसार घटाई बढ़ाई जा सकेगी तो कर का पूंजीकरण सम्भव नहीं हो सकता जैसे रोटी। इस प्रकार की वस्तु पर लगाये गये कर का भार उपभोक्ता पर पड़ेगा।

जब कर दीर्घ काल के लिये लगाया गया हो—कर का पूञ्जीकरण तभी सम्भव है जब कि उसको दीर्घ काल के लिए लगाया गया हो। यदि कर थोड़े समय के लिए लगाया जायेगा तो सम्पत्ति को उस समय तक नहीं बेचा जायगा जब तक कि कर लगा हुआ है क्योंकि उस समय तक विक्रेता को अपनी सम्पत्ति का कम मूल्य

मिलेगा। वह उसको तभी बेचेगा जबकि उसको उसका पूरा मूल्य मिलेगा। ऐसी स्थिति में कर का भार खरीदार पर पड़ेगा। यदि खरीदार उसका पूरा मूल्य देने के लिए तैयार न होगा तो मालिक सम्पत्ति को उस समय तक जब तक कि कर लगा हुआ है न बेचकर, कर हटने के पश्चात् पूरे मूल्य पर बेचेगा। इस बात से सिद्ध हुआ कि कर का पूंजीकरण तभी हो सकता है जबकि कर लम्बे समय के लिए लगाया गया हो।

(३) जब कर लगी हुई वस्तु का पूंजीकृत मूल्य हो—कर का पूंजीकरण तभी किया जा सकता है जबकि वह चीजें जिन पर कर लगाया गया हो बाजार में बेची खरीदी जा सकें। इस दृष्टि से मजदूरी का पूंजीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि मजदूर को बाजार में बेचा खरीदा नहीं जा सकता। कदाचित् एक ऐसे समाज में जहां गुलाम प्रथा हो गुलामों की मजदूरी का पूंजीकरण किया जा सकता है क्योंकि वहां गुलामों को दूसरी वस्तुओं के समान बेचा खरीदा जाता है। ऐसे समाज में मजदूरी पर कर लगने पर गुलामों का बाजार मूल्य कम हो जायेगा और कर का भार गुलामों के स्वामी पर पड़ेगा।

(४) जब कर केवल किसी एक वस्तु पर ही लगाया गया हो—कर का पूंजीकरण तभी सम्भव है जबकि वह सब चीजों पर न लगाया जाये वरन् किसी एक चीज पर ही लगाया जाये। यदि कर सब चीजों पर समान रूप से लगाया जायेगा तो रुपया लगाने वालों को सब स्थानों पर एक सा ही लाभ प्राप्त होगा। परन्तु यदि वह किसी एक वस्तु पर लगाया जायेगा तो उस वस्तु से कम लाभ प्राप्त होगा और दूसरी से अधिक। इसलिए यदि पहली वस्तु का स्वामी कर का पूंजीकरण न करेगा अर्थात् वह कर के अनुसार उसका मूल्य न घटायेगा तो उस वस्तु को कोई न खरीदेगा और हरएक व्यक्ति दूसरी चीजों में अपना रुपया लगायेगा। उदाहरण के लिए यदि किराये पर तो ५ प्रतिशत कर लग गया और कम्पनी के हिस्सों से प्राप्त लाभांश (Dividend) पर न लगा तो हर व्यक्ति कम्पनी के हिस्सों में रुपया लगायेगा। इसलिए मकान का स्वामी यदि अपने मकान को बेचना चाहेगा तो उसको कर के अनुसार अपनी सम्पत्ति का मूल्य घटाना ही पड़ेगा।

(५) जब कर लगी हुई वस्तु का स्वामित्व शीघ्र बदले—जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है उसका स्वामित्व शीघ्र बदलते रहना चाहिए नहीं तो बेचने, खरीदने के कारण वस्तु के मूल्य में जो कमी होती है वह न हो सकेगी।

कर का रूपान्तर (Transformation of Tax)—यदि किसी कर का पूंजीकरण कर दिया गया तो उसका अभिप्राय यह नहीं है कि उसका भार उस वस्तु के क्रेताओं पर बिल्कुल न पड़ेगा। व्यापारी कर को उस समय तक आगे नहीं ढकेल सकता जब तक कि वह उत्पादन के ढङ्गों में उन्नति न करे। उत्पादन के ढङ्गों में उन्नति होने पर कर के कारण होने वाली हानि लाभ में बदल सकती है। उन्नति

के कारण जब कर की हानि लाभ में बदल जाती है तो इस ढङ्ग को कर का रूपान्तर कहते हैं। सेलिगमैन (Saligmen) का कहना है कि रूपान्तर में कर का भार उत्पादक पर ही पड़ता है परन्तु डी० टी० लकड़ावाला (D T Lackdawala) के अनुसार रूपान्तर के पश्चात् कर का भार उपभोक्ता पर पड़ता है क्योंकि उन्नति का उपभोक्ता को कोई लाभ नहीं होता।

कर विवर्तन के सिद्धान्त

(Theories of Shifting of Taxes)

कर विवर्तन के सम्बन्ध में कई प्रकार के विचार पाये जाते हैं। यह विचार निम्नलिखित है —

फिजियोक्रेटस का सिद्धान्त (Theory of Physiocrats)—इस विचार के लोगो का विश्वास था कि वास्तविक बचत खेती पर ही होती है, इसलिए *जमीदार पर ही कर लगाना चाहिये। यदि कर दूसरे उद्योगो पर लगाया जायेगा तो* उसका विवर्तन उस समय तक होता रहेगा जब तक कि वह जमीदार के ऊपर ठहरे। इसलिए दूसरे उद्योगो पर कर न लगाकर जमीदार पर ही सीधे कर लगा देना चाहिए। इस विचार के विरुद्ध हम पहले ही तर्क दे चुके हैं। (देखिए एक और बहु कर-प्रणाली)

कर प्रसार का सिद्धान्त (Diffusion Theory of Taxes)—इस सिद्धान्त के अनुसार कर विवर्तन उस समय तक होता रहता है जब तक कि वह सारे समाज में फैले। केनार्ड (Canard) ने कर प्रसार की तुलना रुधिर की चीर फाड़ (Operation of Cupping) से की है। उसका कहना है कि जिस प्रकार शरीर की किसी एक नस से यदि खून निकाल लिया जावे तो केवल उसी नस में खून की कमी नहीं होती वरन् सारे शरीर में उसकी कमी हो जाती है। उसी प्रकार जब कर *किसी एक स्थान पर लगा दिया जाता है तब इसका भार केवल उस स्थान पर न* ठहर कर सारे समाज में फैल जाता है। इस प्रकार कर का भार किसी एक स्थान पर नहीं ठहरता। १८ वी शताब्दी के अन्त के लगभग लार्ड मैंसफील्ड ने कहा था, 'मैं यह सत्य मानता हूँ कि किसी स्थान में लगाया हुआ कर किसी झील में गिरे हुए पत्थर के समान है जो कि उसमें वृत्त बनाता है जिससे कि एक वृत्त दूसरे वृत्त की उत्पत्ति करता है तथा उसको आगे बढ़ाता है और केन्द्र से लगातार समस्त परिधि में हलचल मच जाती है।"

इस सिद्धान्त के मानने वाला का मत है कि एक पुराना कर कोई कर नहीं होता (An old Tax is no Tax)। इसलिए पुराने कर का भार किसी पर

नही पड़ता। इस कारण उसको हटाने की कोई आवश्यकता नही। उदाहरण के लिए भारत में नमक कर पुराना कर था, इसलिए इसको हटाने की कोई आवश्यकता नही थी। इस तर्क के समर्थन मे कई बातें कही जा सकती हैं। पहली, पुराने कर का पूँजीकरण किया जा सकता है इसलिए उसका भार उपभोक्ताओं पर नही पड़ता। परन्तु, जैसा पहले बताया जा चुका है, टिकाऊ सम्पत्ति पर लगाये गये कर का ही पूंजीकरण किया जा सकता है। दूसरी, कर प्रसार के सिद्धान्त वाले कहते हैं कि हर कर सारे समाज में शनैः शनैः इस प्रकार से फैल जाता है कि उसका कर भार निश्चित करना बड़ा कठिन हो जाता है। इस प्रकार कर भार इतना कम हो जाता है कि वह किसी को भी महसूस नही होता। इसलिए कर हटाने की कोई आवश्यकता नही।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध बहुत सी बातें कही जा सकती है। पहली, यह कि यद्यपि पुराने कर का भार समाज के सारे लोगों के ऊपर फैल जाता है परन्तु इस का यह अभिप्राय नही कि उसका भार मालूम ही नही किया जा सकता। भारतवर्ष मे नमक पर से कर हटने का प्रभाव यह हुआ कि नमक का मूल्य कम हो गया। इस प्रकार उपभोक्ताओं को लाभ हुआ। इसलिए यह कहना कि पुराना कर, कर ही नही होता ठीक मालूम नही पड़ता। दूसरे, जब कोई कर लगाया जाता है तो उसके सारे समाज में फैलने से पहले लोगो को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कुछ समय उसको अनुभव करके वह उसको महसूस करना छोड़ देते हैं जैसे कि बदन के पुराने फोड़े का कुछ समय पश्चात् ध्यान छोड दिया जाता है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि फोड़ा शरीर को कष्ट नही देता। इसी प्रकार पुराने कर का भार भी कष्ट देता रहता है।

आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory)—आजकल के लोगो का विश्वास है कि कर केवल बचत (Surplus) पर लगाया जा सकता है। यदि बचत पर कर लगाया जायेगा तो वह इस बचत मे से चुका दिया जायेगा। परन्तु यदि बचत न हुई तो कर का विवर्तन उस समय तक होता रहेगा जब तक कि बचत हो। यदि किसी वस्तु पर कर लगा दिया जाये तो उसका भार क्रेता और विक्रेता पर, यदि उनको बचत हो, पड़ सकता है।

कर को उत्पादन-व्यय का अंग माना जाता है। इसलिए किसी वस्तु के मूल्य में कर भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। यदि वस्तु का मूल्य पहले ही इतना अधिक है कि उसमे कर सम्मिलित किया जा सकता है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस मूल्य मे बचत पहले ही सम्मिलित है। यदि मूल्य इतना ऊंचा नही है तो मूल्य इतना ऊंचा हो जायेगा कि उसमे कर भी सम्मिलित होगा।

कर का कितना भाग क्रेता तथा विक्रेता पर पड़ेगा यह इस बात पर निर्भर होगा कि उन दोनो के लिए माग तथा पूर्ति की कैसी लचक है। यदि पूर्ति लचक

वाली है पर माग बेलोच है तो कर का भार क्रेताओ पर पड़ेगा। इसके विपरीत यदि माँग लोचदार है और पूर्ति बेलोच है तो कर का भार विक्रेताओं पर पड़ेगा। इस प्रकार माँग और पूर्ति की लचक से कर के भार का पता लगाया जा सकता है। व्यावहारिक जीवन में न तो माँग ही पूर्ण रूप से बेलोच होती है और न पूर्ति ही इसलिए कर का भार क्रेताओ तथा विक्रेताओ पर किसी न किसी मात्रा में पड़ता है। यह बात हर प्रकार के कर के ऊपर लागू होती है, चाहे वह वस्तु पर लगाया गया हो, अथवा सेवा पर, अथवा श्रम पर, अथवा पूंजी पर अथवा आय पर।

करो का प्रभाव

(Effects of Taxes)

सबसे अच्छी कर पद्धति वह कही जा सकती है जिसका आर्थिक प्रभाव सबसे अच्छा हो। करो के प्रभाव को हम तीन भागो में बाट सकते हैं—(१) उत्पत्ति पर प्रभाव (२) वितरण पर प्रभाव तथा (३) अन्य प्रभाव।

करों का उत्पत्ति पर प्रभाव (Effects on Production)—करो का उत्पत्ति पर प्रभाव तीन प्रकार से पड़ता है—(अ) कार्य करने तथा बचाने की योग्यता पर प्रभाव, (ब) कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर प्रभाव, (स) आर्थिक साधनो के विभिन्न पेशो तथा क्षेत्रो में बटने पर प्रभाव।

(अ) कार्य करने तथा बचाने की योग्यता पर प्रभाव—कर का मनुष्य के बचाने तथा कार्य करने की योग्यता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कर लग जाने पर कर-दाता की आय कम हो जाती है जिसके कारण केवल उसी की कार्य करने की योग्यता कम नही होती वरन् उसके बच्चो की भी हो जाती है क्योकि वह अब पहले से कम आवश्यकताओ को पूरी कर सकता है। यही कारण है कि छोटी छोटी आयो तथा जीवन की आवश्यक आवश्यकताओ पर कर नही लगाया जाता क्योकि इन पर कर लगाने से गरीब आदमियो की कार्य करने की योग्यता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ ऐसी वस्तुयें हैं जो जीवन के लिए आवश्यक तो नही हैं परन्तु जिनकी आदमी को आदत पड़ गई है, ऐसी वस्तुओ पर कर लगाने से उन पर खर्च बढ़ जाता है जिसके फलस्वरूप आवश्यक वस्तुओ पर किया जाने वाला व्यय घट जाता है। इसलिए इन वस्तुओ पर लगाया गया कर भी कार्य करने की योग्यता को घटाता है। यह बात निश्चित करनी तो बड़ी कठिन है कि कितनी आय पर कर न लगाया जाये, पर कर लगाते समय इतनी आय अवश्य छोड़ देनी चाहिए जिससे कि कर-दाता अपना जीवन ठीक प्रकार चला सके।

कर लगने से मनुष्य की बचाने की योग्यता अवश्य कम हो जाती है। इसलिए जब बड़ी २ आयो पर कर लगाया जाता है तो उससे बचत कम हो जाती है।

(ब) कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर प्रभाव—किसी कर का एक व्यक्ति के कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर क्या प्रभाव पड़ता है यह कर के प्रकार तथा व्यक्ति पर इस कर का प्रभाव के ऊपर निर्भर होता है। मनुष्य पर कर का क्या प्रभाव पड़ता है यह इस बात पर निर्भर है कि उसके लिए आय की माग की लोच कैसी है। यदि किसी व्यक्ति के लिए आय की माग की लोच कम है तो वह कर लगने पर अधिक कार्य करेगा परन्तु यदि उसके लिए माग की लोच अधिक है तो वह कर लगने पर कम कार्य करेगा। आय की माग की लोच हर व्यक्ति के लिए भिन्न होती है। परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति को एक बड़े परिवार को पालना है अथवा जो व्यक्ति भविष्य में एक निश्चित धन राशि एकत्र करना चाहता है अथवा जो धन एकत्र करके समाज में बड़ा बनना चाहता है, वह व्यक्ति कर लगने पर अधिक कार्य करेगा। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन भावनाओं से दूर है वह कर लगने पर कोई अधिक कार्य नही करेगा। व्यापारी लोगो को मन्दी के समय छोटे से छोटा कर भी अधिक दिखाई देता है परन्तु तेजी के समय बडे से बड़ा कर भी अधिक मालूम नही पड़ता। बडी बडी कम्पनियो को सदा यह चिन्ता रहती है कि उनका अधिक से अधिक विनियोजन हो। इसलिए कर लगने पर उनकी कार्य करने तथा बचाने की इच्छा बढ़ती है।

कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि कर किस प्रकार का है। यदि कर अचानक होने वाली आय, जैसे लाटरी की आय, पर लगा दिया जाये तो कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। इसी प्रकार पिता से सम्पत्ति प्राप्त करने वाले तथा एकाधिकारी की कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर भी कर का कोई प्रभाव नही पड़ता। अचानक होने वाली अथवा पिता से प्राप्त हुई आय का तो कार्य करने तथा बचाने से कोई सम्बन्ध नही क्योंकि इस प्रकार की आय प्राप्त करने के लिए कोई परिश्रम नही करना पड़ता। एकाधिकारी पर लगे हुए कर का प्रभाव भी उसकी कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर कोई प्रभाव नही डालेगा क्योंकि वह पहले ही अधिक से अधिक आय प्राप्त करने के लिए मूल्य निश्चित कर चुका है। मूल्य में परिवर्तन से उसकी आय घट जायेगी।

आय पर सामान्य आय-कर लगाने का लोगो की कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर कुछ विशेष वस्तुओ पर लगाये गये कर की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए कुछ लोगों का यह सुझाव है कि सामान्य आय कर के स्थान पर बिक्री-कर लगाना चाहिए। परन्तु बिक्री कर का वितरण पर अच्छा प्रभाव नही पड़ता। आय-कर के लगाने के ढङ्ग पर भी लोगो की कार्य करने तथा बचाने की इच्छा निर्भर होती है। यदि आय-कर परिश्रम द्वारा प्राप्त की गई आय तथा सम्पत्ति

से प्राप्त आय पर कुछ भेद-भाव से लगाया जाता है तो इसका कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर प्रभाव पडता है। ऐसा भेद-भाव करने से मनुष्य की कार्य करने की इच्छा पर तो कोई प्रभाव नहीं पडता परन्तु उसकी बचाने की इच्छा पर उसका अवश्य प्रभाव पडता है। यदि आय पर वर्द्धमान कर लगाया जाता है तो इससे बडी २ आयो के बचाने तथा उसको प्राप्त करने की इच्छा कम हो जाती है। हमारे देश में लियाकत अली द्वारा बनाये गये बजट का ऐसा ही प्रभाव पडा था।

कुछ लोगों का सुझाव है कि उत्तराधिकारी कर (Inheritance Tax) लगाया जाना चाहिए। परन्तु कुछ लोगो का विश्वास है कि इस कर के कारण सम्पत्ति के एकत्र करने में बडी बाधा उपस्थित होगी। परन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। यदि इस कर का बीमा करा दिया गया है तो उसका उसी प्रकार प्रभाव पडेगा जिस प्रकार कि आय-कर का क्योकि ऐसा करने में बीमा कम्पनी को बीमा प्रीमियम् उसी प्रकार देना पडेगा जिस प्रकार कि सरकार को कर। परन्तु यदि उत्तराधिकारी कर इटली के अर्थशास्त्री रिगनेनो (Rignano) के बताये हुए ढङ्ग पर लगाया जाये तो उसका कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर कम प्रभाव पडेगा। उसका कहना है कि इस प्रकार का कर सम्पत्ति की आयु के अनुसार लगाना चाहिये—कम आयु वाली पर कम और अधिक आयु वाली पर अधिक। ऐसा होने पर लोगों की कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर कम प्रभाव पडगा। उत्तराधिकारी कर का एक अच्छा प्रभाव यह होगा कि इसके लगने पर उत्तराधिकारी की कार्य करने तथा बचाने की इच्छा बढ जायेगी क्योकि वह जानता है कि उसको अधिक सम्पत्ति नही मिलेगी। परन्तु सम्पत्ति मिलने की आशा में बहुत से लोग काम करना छोड देते हैं और कुछ तो उसके मिलने की आशा में ऋण-भार बढा लेते हैं। इस प्रकार उत्तराधिकारी कर का कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर कोई बुरा प्रभाव नही पडता।

(स) आर्थिक साधनों के विभिन्न पेशों तथा क्षेत्रों में बांटने पर प्रभाव—साधारणतया लोगो का यह विश्वास है कि करो के लगने से आर्थिक साधन एक पेशे तथा एक क्षेत्र को छोड कर दूसरे पेशे अथवा क्षेत्र में चले जाते हैं और इसके कारण उत्पत्ति कम होती है क्योकि नये पेशो के साथ पूंजी का ठीक प्रकार का सामञ्जस्य नही हो पाता। परन्तु कर लगने पर पूंजी की इस प्रकार की गति साधारणतया सम्भव नही होती क्याकि पूंजी तथा श्रम विशिष्ट (Specialized) हो जाते हैं। हां, कर लगने से उस पेशे तथा क्षेत्र में नई पूंजी नही लगाई जाती। परन्तु किसी पेशे में लगाई गई पूंजी इस बात पर निर्भर होती है कि उस वस्तु की माग तथा पूर्ति की लचक कैसी है।

कर का आर्थिक साधनो के लगाने पर कोई प्रभाव न पडे इसलिए कुछ लोगों ने अचानक होने वाले लाभो (Windfalls), भूमि की स्थिति, एकाधिकारी

तथा सब प्रकार के पेशों पर सामान्य कर लगाने का सुझाव दिया है। इन करों के लगने से आर्थिक साधनों के एक पेशे तथा स्थान को छोडकर दूसरे पेशे तथा स्थान पर जाने की कम सम्भावना रहती है क्योंकि ऐसा करने से कोई लाभ न होगा। मान लिया एकाधिकारी पर कर लग गया तो यदि वह उस पेशे को अथवा स्थान को छोड़कर जायेगा तो उसको दूसरे पेशे अथवा स्थान पर प्रतियोगिता करनी पड़ेगी। इसी प्रकार यदि सब पेशों अथवा स्थानों पर एक सा कर लगाया जायेगा तो दूसरे पेशे अथवा स्थान पर कर भार कम न होने के कारण कोई अपने साधनों का स्थानान्तरकरण न करेगा। अधानक होने वाले लाभों में तो ऐसा करने का कोई अवसर ही नहीं मिलता। इसी प्रकार भूमि की स्थिति पर लगाया गया कर क्योंकि भूमि के स्वामी पर होता है तथा क्योंकि भूमि की पूर्ति कम या अधिक नहीं की जा सकती इसलिये कर लगाने का भूमि की पूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

आर्थिक साधनों का एक पेशे अथवा स्थान को छोड़ना सदा ही हानिकारक नहीं होता। कभी २ वह लाभदायक भी होता है और उसको कर द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार के कर मदिरा कर, एकाधिकार पर कर तथा किसी विशेष कार्य के लिए भूमि के प्रयोग पर कर आदि है।

परन्तु कभी कभी आर्थिक साधनों का एक पेशे अथवा स्थान को छोड़ना हानिकारक भी होता है। यदि मकानों पर कर लगा दिया जाये तो उसमे मकानों की कमी हो जाती है और इसके कारण बडी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। संरक्षण कर के विषय में कुछ मतभेद है। कुछ का कहना है कि इस कर को लगाना उचित है परन्तु कुछ इसको अनुचित बताते हैं। परन्तु इस कर के कारण आर्थिक साधन एक पेशे को छोड़कर दूसरे में अवश्य चले जाते हैं और यद्यपि प्रारम्भ मे इस कर से उपभोक्ताओं को हानि हो सकती है परन्तु अन्त में इससे समाज को लाभ होता है।

करों के कारण आर्थिक साधन एक क्षेत्र को छोड़कर दूसरे में भी चले जाते हैं, परन्तु यह बात उन्हीं साधनों के लिए सम्भव है जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं। परन्तु कुछ साधन ऐसे हैं जो अपने स्थान को छोड ही नहीं सकते जैसे रेल, नहर आदि में लगे हुए साधन। इसी लिए इन पर लगाये गये कर का इन साधनों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार यदि भूमि के मूल्य पर कर लगाया जाता है तो उसके कारण भी भूमि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि भूमि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता। इसलिए बहुत से व्यक्ति भूमि पर कर लगाने की सलाह देते हैं।

करों के कारण आर्थिक साधनों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर चला जाना कभी कभी लाभदायक भी होता है। इसके कारण उद्योगों का विभिन्न स्थानों पर ठीक

प्रकार का वितरण हो जाता है। ऐसा होने पर बड़े शहरों अधिकतम जनसंख्या की समस्या बहुत कुछ सुलझ जाती है। परन्तु यह लाभ तभी प्राप्त होता है जब कि करों के कारण पिछड़े हुए क्षेत्रों में उद्योग-धन्धे चालू हो जायें। ऐसे क्षेत्रों को उन्नत करने के लिए तो सरकार आर्थिक सहायता (Subsidy) भी दे सकती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि करों का उत्पत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है करों के कारण उत्पत्ति कम हो जाती है क्योंकि इनके कारण साधारणतया लोग कम बचत करते हैं। करों का प्रभाव उनके प्रकार तथा करदाताओं की आदतों पर निर्भर होता है।

करों का वितरण पर प्रभाव
(Effects of Taxation on Distribution)

करों का धन के वितरण पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। इनके द्वारा आधुनिक समाज में जो धन का असमान वितरण है उसको कम किया जा सकता है। जर्मन अर्थशास्त्री वेगनर (Wagner) ने सबसे पहले करों द्वारा धन के असमान वितरण को दूर करने की बात कही थी। उसके पश्चात् इस बात को बड़ी मान्यता दी गई और आजकल असमान वितरण के अन्याय को इसी ढङ्ग से दूर किया जाता है।

कर कई प्रकार के होते हैं जैसे अनुपातिक, वर्द्धमान, प्रतिगामी तथा अधोगामी। इनमें से प्रतिगामी, अनुपातिक तथा मामूली वर्द्धमान करों से धन का वितरण असमान होता है। इसके विपरीत बहुत ढालू वर्द्धमान कर (steeply progressive tax) से धन का वितरण समान हो जाता है। इसलिए सामाजिक न्याय की दृष्टि से इस प्रकार का कर ही लगाना चाहिये। परन्तु इस प्रकार का कर लगाते समय छोटी-छोटी आयों पर कर नहीं लगाना चाहिए तथा जिन व्यक्तियों को एक बड़े परिवार का पालन करना होता है उनको पारिवारिक सहायता देनी चाहिए। परन्तु इस प्रकार के कर का उत्पत्ति पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके कारण पूँजी व श्रम एक स्थान से दूसरे उस स्थान पर चले जाते हैं जहां कर नहीं होता। इस बात को रोकने के लिए कर को बहुत बड़े क्षेत्र में लगाना चाहिए।

सब व्यक्तियों पर लगाया गया समान कर तथा अनुपातिक कर लगाना बड़ा सरल है परन्तु यदि धन का वितरण समान न हो (जो साधारणतया नहीं होता) तो यह कर प्रतिगामी होते हैं अर्थात् इनका भार गरीबों पर अधिक पड़ता है। जो वस्तुए अधिकतर लोगों के उपयोग में आती हैं उन पर लगाया गया कर भी प्रतिगामी होता है। वस्तुओं पर दो प्रकार का कर लगाया जा सकता है—विशिष्ट (specific) तथा मूल्यानुसार (Ad valorem), इनमें से मूल्यानुसार कर अधिक न्यायसङ्गत है क्योंकि उसको इस प्रकार लगाया जा सकता है जिससे उसका भार अमीरों पर पड़े। व्यक्तिगत व्यय पर लगाया गया कर तथा बिक्री कर भी प्रतिगामी होते हैं।

पहना इसलिए है क्योंकि जैसे-जैसे व्यक्ति की आय बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे उसके व्यय का उसकी आय के साथ अनुपात घटता जाता है। इसलिए यह कर अधिकतर छोटी आयों पर ही पड़ता है। दूसरा इसलिए कि इसका भार उन लोगों पर पड़ता है जिनका परिवार बहुत बड़ा होता है। इसके अतिरिक्त आय-कर के समान इसको वर्द्धमान भी नहीं बनाया जा सकता। इस कर को इस प्रकार नहीं लगाया जा सकता जिससे कि कम आय वाले लोगों पर इसका भार कम हो तथा अधिक आय वालों पर अधिक। इन सब बातों के कारण इस कर को जहाँ तक हो सके नहीं लगाना चाहिए। परन्तु हमारे देश में प्रायः सभी राज्यों ने आय की दृष्टि से इस कर को लगाया है। यह कर लगाते समय यद्यपि कुछ आवश्यक वस्तुएं छोड़ दी गई हैं परन्तु फिर भी जिन चीजों पर यह कर लगा हुआ है उनमें से बहुत सी गरीबों के उपयोग में आती हैं। इसलिए कर का भार उन पर भी पड़ता है। उत्तराधिकारी पर लगने वाले कर को भी वर्द्धमान बनाना आवश्यक है। कर को न केवल सम्पत्ति के मूल्य का ध्यान रख कर लगाना चाहिए वरन् इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कर-दाता की आर्थिक स्थिति कैसी है। सम्पत्ति पर साधारणतया उसकी पूंजीकृत कीमत पर कर न लगा कर उसकी वार्षिक आय पर कर लगाना चाहिए। परन्तु बहुधा पूँजीकृत कीमत पर भी कर लगाना आवश्यक होता है, जैसे उस समय जब हमको एक बड़ा भारी विदेशी ऋण चुकाना है। सम्पत्ति पर लगाए गए कर को यदि वर्द्धमान कर दिया जाए तो उस के द्वारा धन का वितरण समान करने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ढालू वर्द्धमान कर आयों की असमानता को दूर करने में बड़ा सहायक है।

करों के अन्य प्रभाव (Other Effects of Taxation)—

करों के सम्बन्ध में यह बात बतानी आवश्यक है कि उनके एकत्र करने का व्यय कम से कम होना चाहिए। इसलिए कर ऐसी आयों तथा वस्तुओं पर लगाना चाहिए जो मूल्य में अधिक हों क्योंकि अधिक और कम मूल्य की वस्तुओं के ऊपर लगाए गए कर को एकत्र करने का खर्च तो एकसा ही होता है परन्तु बड़ी आय तथा मूल्यवान् वस्तु से प्राप्त आय अधिक होती है। आय कर तथा उत्तराधिकारी कर के एकत्र करने का खर्च साधारणतया वस्तुओं पर लगे हुए कर की अपेक्षा अधिक होता है। इसका कारण यह है कि पहली प्रकार के करों का बहुत सा भाग मालिकों द्वारा ही काट कर खजाने में जमा कर दिया जाता है। वस्तुओं का कर भी जहां तक हो उस समय एकत्र करना चाहिए जब वह देश की सीमा को पार करें। इस प्रकार आयात करों का खर्च चुङ्गी से बहुत कम होता है।

करों को एकत्र करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कर-दाता पर कर का खर्च कम से कम पड़े तथा उसको कर कम से कम महसूस हो। बहुत से

स्थानों पर कर दाताओं को बहुत से फार्म भर कर आय-कर विभाग को भेजने पड़ते हैं तथा आय-कर अधिकारी करदाता को हिसाब दिखाने के लिए अनेक बार अपने पास बुलाता है। इसके कारण कर दाता का खर्च भी बढ़ता है तथा उसको बड़ी कठिनाई भी उठानी पड़ती है। जहा तक हो कर दाताओं को इन बातों से बचाना चाहिए।

करो का रोजगार पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ लोगो का विश्वास है कि कर देने से रोजगार कम हो जाता है परन्तु ऐसी बात नहीं है। सरकार को जो धन कर के रूप में दिया जाता है उसको समुद्र में फेंका हुआ नहीं समझना चाहिए। कर देने से क्रय-शक्ति जनता के हाथ में से निकल कर सरकार के हाथ में चली जाती है जिससे सरकार की श्रमिकों की माग बढ़ जाती है। इस प्रकार जनता व सरकार की श्रमिकों की माग पहले जितनी ही रहती है।

कुछ कर ऐसे होते हैं जिनका रोजगार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है जैसे किसी उत्पादक पर मजदूरों की सख्या के अनुसार कर लगाने पर रोजगार कम हो जाता है। इसके विपरीत यदि सरकार उत्पादकों को श्रमिकों की सख्या के अनुसार अर्थ सहायता देती है तो इससे रोजगार बढ़ता है। करों का रोजगार पर प्रभाव देखने के लिए हमको सार्वजनिक व्यय को भी ध्यान में रखना चाहिए।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि करो के एकत्र करने का व्यय कम से कम होना चाहिए। उनके द्वारा कर दाताओं को कोई असुविधा नहीं होनी चाहिए तथा उसके कारण रोजगार नहीं घटना चाहिए।

अध्याय ५

सार्वजनिक ऋण

(Public Debt)

सार्वजनिक ऋण क्या होता है ?— जिस प्रकार एक व्यक्ति के जीवन काल में बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जब उसको अपनी आय तथा बचत से अधिक खर्च करना पडता है उसी प्रकार किसी देश की सरकार को भी समय समय पर आय से अधिक खर्च करना पडता है। ऐसे अवसरो पर व्यक्ति के समान राज्य को भी ऋण लेना पडता है। ऋण लेने का अभिप्राय यह नही समझ लेना चाहिए कि सरकार फिजूल खर्च कर रही है क्योकि बहुत से अवसर ऐसे होते है जिन पर ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसे अवसरो पर यदि ऋण न लिया जाए तो देश का अस्तित्व ही खतरे मे पड जाए, जैसे युद्ध काल मे। ऋण की आवश्यकता देश में चलने वाले सभी प्रकार के शासनो को पड़ती रहती है। परन्तु हर प्रकार के शासन की ऋण की आवश्यकता का प्रकार अलग अलग होता है जैसे केन्द्रीय सरकार युद्ध लडने के लिए ऋण ले सकती है, राज्य सरकार अपने राज्य की कृषि तथा उद्योग धन्धो की स्थिति को सुधारने के लिए ऐसा कर सकती है तथा स्थानीय शासन अपने क्षेत्र मे सडकें बनवाने, पानी, बिजली गैस आदि का प्रबन्ध करने के लिए ऐसा कर सकती है। इस प्रकार के सब ऋण आवश्यक होते हैं। परन्तु कभी कभी सरकार ऐसे कार्यों के लिए भी ऋण ले लेती है जिनसे राष्ट्र की कोई भलाई नही होती। इस प्रकार चाहे जिस कार्य के लिए भी कोई सरकार ऋण लेती हो वह सार्वजनिक ऋण कहलाएगा।

सार्वजनिक ऋण सरकार की किसी वर्ष की आय का एक अङ्ग होता है। परन्तु क्योकि ऋण को कुछ समय पश्चात् लौटाना पडता है इसलिए दीर्घकालीन दृष्टि से उसको सरकारी आय नही कह सकते। इस प्रकार सार्वजनिक आय में हम केवल वही आय सम्मिलित करते है जिसको वापस देना नही पडता। ऋण को वापस देना ही पडता है। यदि वह व्यक्ति जिससे ऋण लिया गया हो मर जाए अथवा उसका कोई पता न चले तो उससे लिया हुआ ऋण तथा उस पर ब्याज उसके उत्तराधिकारियो को दिया जाता है। कुछ ऋण ऐसे भी होते हैं जिनका मूलधन सरकार को लौटाना नही पडता परन्तु उन पर सरकार को ब्याज अवश्य देना पडता है। इस प्रकार सरकार की दूसरी प्रकार की आय तथा ऋण में यही भेद किया जा सकता

है जब कि दूसरी प्रकार की आय को लौटाने का कोई भार सरकार पर नहीं होता परन्तु ऋण को किसी न किसी रूप में लौटाने का भार सरकार पर अवश्य रहता है।

सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत ऋण की तुलना (Public and Private Debts compared)—

सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत ऋण में निम्नलिखित भेद है—

[१] राष्ट्र व्यक्तियों का एक समूह है। जब सरकार ऋण लेती है तो वह राष्ट्र के सभी व्यक्तियों के लाभार्थ उसको खर्च करती है। इस प्रकार ऋण का कुछ न कुछ लाभ उन व्यक्तियों को भी पहुंच जाता है जिनसे वह ऋण लिया गया है। इसके विपरीत जब एक व्यक्ति दूसरे से ऋण लेता है तो वह उसको केवल अपने लाभ के लिए ही खर्च करता है। इस ऋण का कोई लाभ ऋण दाता को नहीं पहुंचता। उसको कभी कभी हानि हो जाती है क्योंकि वह अपनी कुछ आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने से वंचित रह जाता है।

[२] जब सरकार ऋण लौटाती है तब देश के लोगों से लिए गए कर के द्वारा ही वह उसको लौटाती है। इन करों का कुछ भार उन लोगों पर भी पड़ता है जिन्होंने कि सरकार को ऋण दिया है। इस प्रकार उन लोगों को दिए हुए ऋण में से कर का धन घटा कर जो कुछ बचता है वह प्राप्त होता है। इसके विपरीत व्यक्ति को अपनी आय अथवा बचत में से ऋण देना पड़ता है और यदि उसको ऋण लेकर भी ऋण चुकाना पड़ता है तो वह उस व्यक्ति से ऋण नहीं ले सकता जिसने कि उसको ऋण दिया था। इस प्रकार व्यक्तिगत ऋण सारा लौटाया जाता है। अतः सार्वजनिक ऋण से एक ओर तो ऋण-दाता को लाभ होता है परन्तु दूसरी ओर कर लगने के कारण उसकी हानि होती है। यह दोनों बातें व्यक्तिगत ऋण में नहीं होती।

[३] सरकार के हाथ में सत्ता होती है। वह अपने तथा व्यक्तियों के लिए नियम बनाती है। इसलिए वह जनता को ऋण देने तथा ऋण पर कम ब्याज लेने पर विवश कर सकती है। वह ऋण को चुकाने से इन्कार कर सकती है, यद्यपि ऐसा कभी कभी होता है। इसके विपरीत व्यक्ति दूसरे से उसकी इच्छा के विरुद्ध ऋण नहीं ले सकता। वह उसकी इच्छा के विरुद्ध ब्याज कम नहीं कर सकता और न ही वह ऋण चुकाने से इन्कार कर सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो कानून उसको ऋण चुकाने के लिए बाध्य कर देता है।

[४] राज्य सदा ही चलता रहता है। केवल उसको चलाने वाले व्यक्ति ही बदलते हैं। यह नए व्यक्ति पुराने व्यक्तियों के सब भार अपने ऊपर ले लेते हैं। इसलिए सरकार को दीर्घ कालीन ऋण मिल सकता है। परन्तु एक व्यक्ति को

आयु बहुत कम होती है और उसके ऋण का भार साधारणतया दूसरे व्यक्ति अपने ऊपर नहीं लेते, इसलिए उसको दीर्घ कालीन ऋण नहीं मिलता।

[५] सरकार की साख व्यक्ति से बहुत अधिक होती है। इसलिए सरकार को व्यक्ति की अपेक्षा कम ब्याज पर ऋण मिल जाता है।

[६] सरकार आन्तरिक तथा बाह्य ऋण ले सकती है परन्तु व्यक्ति केवल बाह्य ऋण ही ले सकता है। वह अपने आप से ऋण नहीं ले सकता, परन्तु सरकार अपने देश के लोगो से ऋण ले सकती है।

[७] सरकार साधारणतः उत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेती है परन्तु व्यक्ति उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनों प्रकार के कार्यों के लिए ऋण लेता है।

[८] सरकारी ऋण का देश की उत्पादन तथा वितरण व्यवस्था पर बड़ा प्रभाव पड़ता है परन्तु व्यक्तिगत ऋण का ऐसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

सार्वजनिक ऋण का इतिहास (History of Public Debt)—सार्वजनिक ऋण का रिवाज १७ वी शताब्दी के अन्त से हुआ। उससे पूर्व राजा को ऋण लेने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी क्योंकि या तो वह अधिक कर लगा कर रुपया ले लेता था या कहीं कहीं कोई राजा पड़ौसी राजा के राज्य को लूट कर अपना कार्य चला लेता था। इसके पश्चात राजाओं ने बैंकों से ऋण लेना प्रारम्भ कर दिया परन्तु राजाओं द्वारा बैंको का ऋण न लौटाए जाने पर बहुत से बैंक फेल हो गए।

बेस्टेबिल (Bastable) ने बताया है कि पहले-पहल जिनोवा तथा वेनिस में सार्वजनिक ऋण बैंको द्वारा एकत्र किया गया था। यह बैंक इसी कार्य के लिए स्थापित किए गए थे। डच लोगो ने भी सरकारी तौर पर ऋण लिया था तथा कुछ देशों को ऋण दिया भी था। इङ्गलैंड में सबसे पहले बैंक ऑफ इङ्गलैंड ने १६६४ ई० में सरकार को ऋण दिया था। यह बैंक इसी कार्य के लिए स्थापित किया गया था।

पिछले कई सौ वर्षों में सार्वजनिक ऋण का महत्व बहुत बढ़ गया है। आज कल कदाचित ही कोई राज्य होगा जिस पर कुछ न कुछ ऋण न होगा। यह ऋण अपने देश वासियों से तथा आवश्यकता पड़ने पर विदेशियों से भी लिया जाता है। आजकल के युग में जितनी भी बड़ी बड़ी आर्थिक योजनायें हैं वह सब ऋण द्वारा ही पूरी की जाती है। युद्ध को लड़ने के लिए तो ऋण के बिना काम चलता ही नहीं।

ऋण और कर का भेद (Difference between debt and taxes)—ऋण और कर में अग्रलिखित भेद हैं—

१ जो धन सरकार ऋण के रूप में लेती है उसको वापस करने का भार उस पर रहता है। परन्तु करो द्वारा प्राप्त किया हुआ धन सरकार को लौटाना नहीं पड़ता।

२ कर साधारणतया वर्तमान आय में से दिया जाता है परन्तु ऋण भूतकाल की बचत में से दिया जाता है।

३ जब कोई मनुष्य कर देता है तो उसके पास से वह धन सदा के लिए चला जाता है परन्तु ऋण के रूप में दिया गया धन उसको कुछ समय के पश्चात मिल जाता है और यदि मूलधन न मिले तो उस पर ब्याज तो अवश्य ही मिलता रहता है।

ऋण अथवा कर (Debt versus Taxes)— यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है कि सरकार अपनी आय ऋण द्वारा प्राप्त करे अथवा कर द्वारा। साधारण दृष्टि से देख कर कोई भी यह कहेगा कि सरकार को अपनी आय करो द्वारा प्राप्त करनी चाहिए क्योंकि सरकार को करो पर कोई ब्याज नहीं देना पड़ता। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाए तो हम कह सकते हैं कि सरकार अपनी सब आय करो द्वारा प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि करो की एक सीमा होती है जिसके ऊपर उनको नहीं लगाया जा सकता। साथ साथ बहुत अधिक कर लगाने से उत्पत्ति पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है और यदि उत्पत्ति न हुई तो देश का सारा आर्थिक ढाचा ही अस्त व्यस्त हो जाएगा। इसलिए सरकार अपनी सब आय को करो द्वारा प्राप्त नहीं करती वरन् कुछ आय ऋण द्वारा भी प्राप्त करती है। अब हमें यह देखना चाहिए कि सरकार को कौनसी आय कर द्वारा प्राप्त करनी चाहिए और कौन सी ऋण द्वारा। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित नियमो से काम लिया जाता है—

(१) जो व्यय साधारण तथा निरन्तर चलने वाला हो उसके लिए आय करो द्वारा प्राप्त करनी चाहिए। ऐसे व्यय के लिए ऋण लेने से उसका भार इतना अधिक बढ़ जाएगा कि उसको चुकाना कठिन हो जाएगा। हा, यदि अकस्मात् ही कोई बड़ा व्यय करना पड़े तो उसको ऋण द्वारा किया जा सकता है क्योंकि ऐसे अवसरो पर करो द्वारा आय प्राप्त करनी कठिन हो जाती है। इस प्रकार के अवसर युद्ध, बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि हो सकते हैं।

(२) जो व्यय बार बार न होने वाला हो उसको ऋण द्वारा आय प्राप्त करके पूरा करना चाहिए। इसका कारण यह है कि इस प्रकार का व्यय एक बार होने के पश्चात बहुत दिनो तक नहीं होता। जब तक वह व्यय दूसरी बार हो उसको उससे पहले ही चुकाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के व्यय का लाभ वर्तमान पीढ़ी को ही नहीं होता वरन् आगे आने वाली पीढ़ी भी इसका लाभ उठाती

है। इसलिए यदि ऋण का कुछ भार भविष्य में आने वाले बच्चों पर डाल दिया जाए तो कोई अनुचित न होगा।

(३) जिस व्यय का लाभ लोगों को थोड़े दिन तक ही पहुँचे उनको करों द्वारा तथा जिसका लाभ उनको अधिक समय तक पहुंचे उसको ऋण द्वारा पूरा किया जा सकता है। इस नियम के अनुसार शिक्षा, पुलिस, सेना आदि पर करों द्वारा एकत्र किया हुआ धन खर्च करना चाहिए और रेलो, सड़को, नहरों, पुलो आदि पर किए गए खर्च के लिए आवश्यक धन ऋण द्वारा प्राप्त करना चाहिए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि करो द्वारा साधारण व्यय को तथा ऋण द्वारा किसी बड़े परन्तु निरन्तर न चलने वाले व्यय को करना चाहिए।

सार्वजनिक ऋणों का वर्गीकरण (Classification of Public Debts)—

विभिन्न लेखकों ने सार्वजनिक ऋणों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया है। कुछ वर्गीकरण निम्नलिखित है—

स्व इच्छित तथा अन-इच्छित ऋण (Voluntary and Involuntary Debt)— जो ऋण स्वय इच्छा से दिया जाता है उसको स्व-इच्छित कहते हैं। इस ऋण को ऋण देने वाला जितना चाहे अपनी इच्छा से देता है। सरकार पर उसका कोई दबाव नही होता। परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि सरकार को धन की आवश्यकता होती है और स्व-इच्छित ऋण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नही होता तो सरकार ऐसे अवसरों पर लोगो को ऋण देने के लिए बाध्य कर देती है। इस प्रकार के ऋण अन-इच्छित कहलाते है। ऐसे ऋण इङ्गलैंड में १७वी शताब्दी में लिए गए थे।

आन्तरिक तथा बाह्य ऋण (Internal and External Debt)— जब किसी देश के व्यक्ति अथवा संस्थाएं अथवा दोनो सरकार को ऋण देते है तो उसको आन्तरिक ऋण कहा जाता है, जैसे यदि भारत सरकार को ऋण की आवश्यकता पड़े और वह ऋण उसको भारतवर्ष में से ही प्राप्त हो जाए तो उसको भारत का आन्तरिक ऋण कहा जाएगा। इसके विपरीत जब सरकार को अपने देश मे ऋण न मिले वरन् उसको विदेशों से ऋण प्राप्त करना पड़े तो उस ऋण को बाह्य ऋण कहेंगे, जैसे यदि भारतवर्ष को इङ्गलैंड से स्टर्लिङ्ग अथवा अमरीका से डालर ऋण लेना पड़े तो उसको बाह्य ऋण कहेंगे। आन्तरिक ऋण इच्छित तथा अन-इच्छित हो सकता है परन्तु बाह्य ऋण सिवाय उन दशाओ के जब कि एक देश का दूसरे पर अधिकार हो इच्छित ही होता है। आन्तरिक ऋण लेने पर देश की राष्ट्रीय आय पर कोई प्रभाव नही पड़ता क्योंकि इस दशा में केवल धन का फिर से बटवारा हो

जाता है। देश का धन देश में ही रहता है। इसके विपरीत बाह्य ऋण में ऐसा नहीं होता। जब कोई देश दूसरे देश को ऋण देता है तो उस देश से उतना धन दूसरे देश में चला जाता है। इससे पहले की राष्ट्रीय आय कम हो जाती है और दूसरे की बढ़ जाती है। जब आन्तरिक ऋण चुकाया जाता है तब भी देश की राष्ट्रीय आय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु जब बाह्य ऋण अथवा उसका ब्याज चुकाया जाता है तो राष्ट्रीय आय पर बहुत प्रभाव पड़ता है क्योंकि इतना धन देश से बाहर चला जाता है। यदि किसी देश के व्यक्ति दूसरे देश की प्रतिभूतियां (Securities) को खरीद लें तो बाह्य ऋण आन्तरिक ऋण में बदल सकता है जैसे भारतवर्ष ने द्वितीय महा युद्ध में स्टर्लिङ्ग ऋण को रुपया ऋण में बदल लिया। इसके विपरीत, यदि विदेशी लोग किसी देश की प्रतिभूतियां खरीद लें तो आन्तरिक ऋण बाह्य ऋण में बदल सकता है।

इन ऋणों का भार (Burden of these debts)— यहां यह जानना आवश्यक है कि इन ऋणों का देश पर कितना भार पड़ता है।

आन्तरिक ऋण का भार— जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है इस ऋण में देश का धन देश में ही रहता है। धन केवल एक वर्ग के हाथों में से निकल कर दूसरे वर्ग के हाथों में चला जाता है। इसलिए इस ऋण का कोई प्रत्यक्ष द्रव्य भार (Direct money burden) नहीं हो सकता। परन्तु इस ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार (Direct real burden) बहुत अधिक होता है। प्रत्यक्ष वास्तविक भार इस बात पर निर्भर होगा कि ऋण के द्वारा धन किस के हाथ में से निकल कर किसके हाथ में चला गया है। यदि धन अमीर लोगों के हाथ में से निकल कर गरीब लोगों के हाथ में चला गया है तो इसके वास्तव धन के वितरण की असमानता दूर हो जाएगी और ऋण का भार देश पर कम पड़ेगा। इसके विपरीत यदि ऋण के कारण देश में धन वितरण की असमानता बढ़ती है तो इसका भार बहुत अधिक होता है। यदि कभी ऐसा सम्भव हो कि सब का सब ऋण छोटी आय वाले व्यक्ति खरीद लें और उस ऋण को चुकाने के लिए अमीर आदमियों पर कर लगे तो ऋण का भार बहुत कम होगा। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। सरकारी ऋण को बड़ी बड़ी आय वाले व्यक्ति ही खरीदते हैं और उनको चुकाने के लिए कर उनके अतिरिक्त कुछ छोटी आय वाले लोगों पर भी लगाया जाता है इसलिए इस ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार बहुत होता है।

ऋण के द्वारा देश की सम्पत्ति गरीब लोगों से अमीर लोगों के पास ही नहीं जाती वरन् देश के नवयुवकों से वृद्ध लोगों के पास तथा सक्रिय पेशों से निष्क्रिय पेशों में चली जाती है। पहली बात इसलिए होती है कि वृद्ध लोग अपनी सम्पत्ति में से

ऋण देन है परन्तु नवयुवकों को अपनी जान को खतरे में डाल कर युद्ध में लड़ना पड़ता है तथा वापस आने पर करों द्वारा उस ऋण को चुकाना पड़ता है। दूसरी बात इसलिए होती है क्योंकि ऋण एकत्र की हुई सम्पत्ति में से दिया जाता है परन्तु उस को उस धन में से चुकाया जाता है जो उद्योग-धन्धों तथा व्यापार में लगा रहता है।*

आन्तरिक ऋण का अप्रत्यक्ष भार भी देश के लोगों पर पड़ता है। इसका कारण यह है कि यह ऋण करों द्वारा चुकाया जाता है और करों के कारण करदाता की कार्य करने तथा बचाने की योग्यता अवश्य घटती है। इसके अतिरिक्त ऋण चुकाने के लिए कभी कभी उन मदों पर धन व्यय नहीं किया जाता जिन पर कि सामाजिक हित की दृष्टि से करना चाहिए था। इस का देश पर दो प्रकार से अप्रत्यक्ष भार पड़ता है। (१) देश में उत्पादन कम होता है (२) देश में धन वितरण की असमानता बढ़ती है।

युद्धकाल में दिए गए ऋण का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का भार पड़ता है। यदि युद्ध बहुत समय तक चलता है तो यह भार बढ़ता चला जाता है। युद्ध के पश्चात् जब वस्तुओं के मूल्य तथा ब्याज की दर गिर जाती है तो ऋण का वास्तविक भार बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त बाजार में ब्याज की दर गिरने से सरकारी प्रतिभूतियों का मूल्य भी बढ़ जाता है क्योंकि उन पर मिलने वाला ब्याज बैंकों की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए ऋण का भार और भी बढ़ जाता है।

इस प्रकार यद्यपि आन्तरिक ऋण का प्रत्यक्ष द्रव्य भार कुछ नहीं होता परन्तु उसका प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष वास्तविक भार बहुत होता है।

बाह्य ऋण का भार—इस ऋण का प्रत्यक्ष द्रव्य भार उस धन से नापा जाता है जो कि मूलधन तथा ब्याज के रूप में दिया जाता है और इसका प्रत्यक्ष वास्तविक भार उस आर्थिक क्षति से नापा जाता है जो कि ऋण चुकाने के कारण किसी देश के लोगों को होती है। यदि किसी देश के अमीर लोग उस ऋण को चुकाते हैं तो प्रत्यक्ष वास्तविक भार कम होता है परन्तु यदि गरीब लोग उसको चुकाते हैं तो यह भार बढ़ जाता है।

इस ऋण का अप्रत्यक्ष भार, चाहे वह द्रव्य भार के रूप में हो अथवा वास्तविक भार के रूप में, इस कारण पड़ता है क्योंकि इस ऋण को चुकाने के लिए द्रव्य करों द्वारा एकत्र किया जाता है तथा इस कारण भी पड़ता है कि सार्वजनिक व्यय इस प्रकार नहीं किया जा सकता जिससे कि उत्पादन बढ़े। बहुत से लोगों का यह विश्वास है कि बाह्य ऋण का अप्रत्यक्ष भार कुछ नहीं पड़ता वरन् उससे कुछ लाभ ही होता है क्योंकि ऋण चुकाने के लिए देश अधिक उत्पादन करता है जिससे अधिक लोगों को रोजगार मिलता है। परन्तु यह विचार बिल्कुल गलत है। ऋण

* Dalton—Principles of Public Finance—P. 254

चुकाने के लिए कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों को ही प्रोत्साहन मिलता है परन्तु ऐसा होने पर कुछ दूसरे उद्योगों से आर्थिक साधन इन विशेष उद्योगों की ओर चले जाते हैं जिसके कारण इन दूसरे प्रकार के उद्योगों का उत्पादन बहुत घट जाता है। आर्थिक साधनों के इस प्रकार एक उद्योग से दूसरे उद्योग में जाने का प्रभाव साधारणतया हानिकारक होता है।

बाह्य ऋण का भार इसलिए भी पड़ता है क्योंकि इसके कारण ऋणी देश के लोगों की कार्य करने तथा बचाने की योग्यता कम हो जाती है। इस का प्रभाव देश के व्यापार तथा उद्योग धन्धों पर पड़ता है।

बाह्य ऋण के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क (Arguments for and against external debts)—

बाह्य ऋण की बाबत लोगों में कई प्रकार के विचार पाए जाते हैं। कुछ लोग इस ऋण को अच्छा बताते हैं और कुछ खराब। जो लोग इसके पक्ष में हैं वह निम्नलिखित तर्क देते हैं —

(१) बाह्य ऋण उन देशों के लिए बहुत ही आवश्यक है जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं तथा जिनको अपनी आर्थिक उन्नति करनी है। भारत के प्रधान मन्त्री ने विदेशी पूँजी (जो किसी देश पर विदेश का ऋण ही होता है) का महत्व इस प्रकार बताया था, "भारतीय पूँजी की पूर्ति करने के लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता केवल इसलिए ही नहीं है कि हमारी राष्ट्रीय बचत हमारी उस पैमाने पर शीघ्र उन्नति करने के लिए पर्याप्त न होगी जिस पर हम करना चाहते हैं वरन् इसलिए भी कि बहुत सी दशाओं में वैज्ञानिक, यान्त्रिक तथा औद्योगिक ज्ञान सम्बन्धी तथा पूञ्जीकृत वस्तुएं भी विदेशी पूँजी के साथ प्राप्त हो जाती हैं।"

(२) युद्धकाल में तो विदेशों से आयात करने के लिए उन देशों से ऋण लेना ही पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध में इङ्गलैण्ड ने एक बड़ा भारी ऋण अमरीका, कनाडा, भारतवर्ष तथा दूसरे देशों से लेकर ही युद्ध लड़ा है। यदि इङ्गलैण्ड को इन देशों से ऋण न मिलता तो कदाचित् इङ्गलैण्ड का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।

(३) युद्ध के समाप्त होने पर यूरोप के उन देशों के सामने जो कि युद्ध काल में नष्ट-भ्रष्ट हो गए थे यह समस्या आई कि वह फिर से अपनी उन्नति कैसे करें। ऐसे अवसर पर बाह्य ऋण ही इन देशों की सहायता के लिये आया जिस के कारण कुछ ही वर्षों में वह फिर उन्नति करने लगे हैं।

(४) कभी कभी बाह्य ऋण की आवश्यकता विनिमय दर को ठीक रखने के लिये भी पड़ती है। यदि आयात अधिक होने के कारण विनिमय दर किसी देश के विरुद्ध जा रही हो तो वह देश विदेशी विनिमय को उधार लेकर विनिमय दर को अपने विरुद्ध होने से रोक सकता है।

विपक्ष में तर्क—(१) बाह्य ऋण के कारण देश का बहुत सा धन ब्याज के रूप में चला जाता है जिस कारण देश के व्यापार तथा उद्योग धन्धों को बडी हानि होती है।

(२) यदि बाह्य ऋण के साथ सावधानी से काम न लिया जाए तो इसके कारण एक देश दूसरे का आर्थिक दृष्टि से दास हो जाता है। इस दासता के कारण उस देश को बडी हानि होती है।

यदि हम बाह्य ऋण के पक्ष तथा विपक्ष के तर्कों का अध्ययन करें तो हम कह सकते है कि उसके लाभ अधिक हैं और हानियां कम। हमारे देश के श्री आर० सी० दत्त ने भी बाह्य ऋण का कोई विशेष विरोध नहीं किया था। उनका कहना था कि यदि भारतवर्ष से ऋण प्राप्त न होता हो तो उसको विदेशों से प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु उसका नियन्त्रण भारतवासियों के ही हाथ में रहना चाहिए।

उत्पादक या पुनरुत्पादक तथा अनुत्पादक या मृत-ऋण—Productive or Reproductive and Unproductive or Dead weight Debt—

उत्पादक ऋण वह ऋण होता है जिसके पीछे ऋण के धन के बराबर सम्पत्ति होती है। इस प्रकार के ऋण सरकार उन उद्योगों को चलाने के लिए लेती है जो उसके अधिकार में होते हैं। सरकार साधारणतया उन उद्योगों को चलाती है जो या तो राष्ट्रीय हित में सरकार द्वारा चलाने आवश्यक होते हैं या उन उद्योगों को चलाती है जिनमें पूँजीपति अपना धन लगाने को तैयार नहीं होते परन्तु जिनका चलाना आवश्यक होता है। इस प्रकार के उद्योगों को चलाने के लिए सरकार को उसी प्रकार ऋण की आवश्यकता होती है जिस प्रकार किसी निजी व्यापार को होती है। इस प्रकार के उद्योग रेल, नहरें, बिजली, गैसें आदि होते हैं। इस प्रकार के ऋणों का ब्याज उद्योगों की आय से चुकाया जाता है। इस प्रकार के ऋण से जो सम्पत्ति उत्पन्न होती है वह ऋण-दाताओं के लिए धरोहरों का काम करती है।

इस के विपरीत अनुत्पादक ऋण वह होते हैं जिनके पीछे कोई सम्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार के ऋण सरकार या तो युद्ध लड़ने के लिए लेती है या बजट का सन्तुलन करने के लिए लेती है। इन ऋणों पर सरकार जो ब्याज देती है उसको वह करों द्वारा एकत्र करती है।

मृत-भार वाला ऋण, सक्रिय ऋण तथा निष्क्रिय ऋण (Dead weight Debt, Active Debt and Passive Debt)—

श्रीमती हिक्स ने ऋण को तीन भागों में बांटा है—मृत भार वाला, सक्रिय तथा निष्क्रिय। मृत भार वाला ऋण उस व्यय की पूर्ति करने के लिए लिया जाता है जो कि देश की उत्पादन शक्ति को नहीं बढ़ाता, जैसे युद्ध लड़ने के लिए लिया

गया ऋण। सक्रिय ऋण इस प्रकार लगाए जाते है जिससे कि देश की उत्पादन शक्ति बढती है तथा उनसे कुछ आय भी प्राप्त होती है जैसे रेल, नहर बिजली आदि पर लगाया गया ऋण। निष्क्रिय ऋण वह होते है जिनसे न तो कोई आय ही प्राप्त होती है और न देश की उत्पादन शक्ति ही बढती है, परन्तु इन ऋणों को इस प्रकार लगाया जाता है कि उनसे उपयोगिता तथा सन्तोष प्राप्त होता है, जैसे, सार्वजनिक इमारतों पार्कों आदि पर लगाया गया ऋण।

अनिश्चित-कालीन तथा निश्चित-कालीन ऋण (Funded and Unfunded Debt)—

अनिश्चित काल तथा निश्चित काल ऋण के भेद करने में विद्वानों में बडा मतभेद पाया जाता है। आदम स्मिथ ने इस सम्बन्ध में लिखा है, 'व्यक्ति के समान राष्ट्र भी साधारणतया अपनी व्यक्तिगत साख पर ऋण को चुकाने के लिए कोई कोष निश्चित अथवा बन्धक किए बिना उधार लेते लगे है, और जब उनको इस ढङ्ग से ऋण प्राप्त नही हुए, वे विशेष कोष को निश्चित अथवा बन्धक करके ऋण प्राप्त करने लगे है*।" इनमें से पहली प्रकार का ऋण निश्चितकालीन ऋण है और दूसरी प्रकार का अनिश्चितकालीन ऋण। परन्तु आजकल अनिश्चितकालीन और निश्चितकालीन ऋण का वही प्रयोजन नही है जो कि आदम स्मिथ के समय में था। प्रो० कोहन (Cohn) स्मिथ के भेद को पुराना बताते हुए कहते हैं कि इन दोनों में वास्तविक भेद यह है कि अनिश्चितकालीन ऋण दीर्घकालीन होते है तथा निश्चितकालीन ऋण लघुकालीन। परन्तु आगे चलकर वह यह कहते है कि यद्यपि ऋण के विभिन्न कारण तथा उद्देश्य समय की अवधि के पीछे होते है[1]।" डा० डाल्टन ने भी इस सम्बन्ध में कहा है कि 'निश्चितकाल' 'अनिश्चितकालीन और 'अल्पकाल' (*Floating*) शब्दों का प्रयोग अक्सर भ्रमात्मक होता है। इस प्रकार १९१९ में जारी किए गए अनिश्चित-काल ऋण को जो कि अल्पकालीन ऋण के एक भाग के लिए धन एकत्र करने के लिए था और जो कि १९६० और १९९० के बीच चुकाया जाने वाला था, सरकारी तौर पर निश्चितकालीन ऋण कहा गया है[2]।" आधुनिक काल में जिस अभिप्राय से इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है उसको समझाने का वेगनर (Wagner) ने प्रयत्न किया है। वह कहता है कि अनिश्चित-कालीन और निश्चितकालीन ऋण का भेद हम निम्नलिखित बातों से जान सकते है —

* Adam Smith—Wealth of Nations—Book V, Chap. III.

1. Finan zwissen schaft- P. 757.

2. Dalton, Principles of Public Finance—P. 246.

(१) ऋण का उद्देश्य—निश्चित कालीन ऋण साधारणतया शीघ्र समाप्त होने वाली आवश्यकताओं के लिए होते हैं। यह खजाने के चालू रुपयों का भुगतान करने के लिए होते हैं। परन्तु अनिश्चित कालीन ऋण नागरिकों की स्थायी आवश्यकताओं के लिए पूंजी एकत्र करने के लिए होते हैं।

(२) ऋण की अवधि—अनिश्चित कालीन ऋण दीर्घ काल के लिए होता है परन्तु निश्चित कालीन ऋण लघु काल के लिए।

(३) ऋण चुकाने की कानूनी शर्तें—निश्चित कालीन ऋण का भुगतान देखते ही अथवा कुछ थोड़े समय में किया जाता है। परन्तु अनिश्चित कालीन ऋण की स्थिति में ऋण-दाता का मूलधन पर सीमित नियन्त्रण होता है। ऋणी (राज्य) ऋण को एक निश्चित योजना के अनुसार चुकाता है अथवा मूलधन को चुकाने के लिए कोई प्रबन्ध नहीं करता। अन्त वाली बात इन ऋणों की जान के लिए आवश्यक है।

वास्तव में अनिश्चित कालीन और निश्चित कालीन ऋण का भेद करना बड़ा कठिन है। यह भेद राज्य, राज्य, समय, समय, तथा एक ही राज्य में विभिन्न अवसरों पर तथा किसी सरकारी अफसर की इच्छा के अनुसार भिन्न हो सकता है। प्लैह्न के अनुसार यह शब्द आपेक्षित है। एक अफसर उस ऋण को जो तीन, पांच अथवा दस वर्षों तक चलने वाला हो अस्थायी कह सकता है परन्तु दूसरा छ: मास अथवा एक वर्ष तक चलने वाले ऋण को स्थायी कह सकता है। प्लैह्न का इस सम्बन्ध में यह मत है कि निश्चित कालीन ऋण शब्द का प्रयोग कभी भी उस ऋण के लिए नहीं करना चाहिए जो कि उस आर्थिक वर्ष के पश्चात चलने वाला हो जिसमें कि वह लिया गया है। "परन्तु इस प्रकार की सीमा के लिए कोई निश्चित रिवाज नहीं है। इन दोनों श्रेणियों के बीच एक गहरी रेखा खींचने के प्रयत्न में हमारे सामने वही कठिनाई आती है जो कि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के बीच भेद करने के प्रयत्न में आई थी। सरकारी, कानूनी तथा वैज्ञानिक प्रयोग इतना भिन्न है कि सब अर्थों के मिलाने के प्रयत्न में कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।"*

शोध्य तथा अशोध्य ऋण (Redeemable and Irredeemable Debt)—चूंकि सरकार सदा चलती रहती है केवल उसको चलाने वाले व्यक्ति ही बदलते है, इसलिए सरकार को ऐसा ऋण भी प्राप्त हो जाता है जो सदा चलता रहे अर्थात् जिसके मूलधन को चुकाने का कोई भार सरकार पर न हो। इस प्रकार के ऋण पर सरकार केवल ब्याज ही देती है। इस ऋण को अशोध्य कहा जाता है। इसके विपरीत सरकार अधिकतर ऐसा ऋण लेती है जिसके ऊपर उसको ब्याज भी देना पड़ता है और जिसका मूलधन उसको कुछ समय पश्चात् चुकाना पड़ता है। इस

* Plehn—Introduction to Public Finance P. 358.

प्रकार के ऋण के लिए सरकार एक ऋण-परिशोध कोष (Sinking Fund) चालू करती है जिसमें वह प्रति वर्ष इतना रुपया जमा करती रहती है जिससे कि वह ऋण की अवधि समाप्त होने तक मूलधन के बराबर हो जाये। इस कोष में से ही ऋण-दाताओं का मूलधन चुकाया जाता है। इनमें से कौनसा ऋण कब लिया जाये यह परिस्थिति पर निर्भर होता है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जो उद्योग निरन्तर चलने वाला हो जैसे रेल, नहर आदि, उसके लिए अशोध्य ऋण लिया जा सकता है और जो उद्योग कुछ समय तक चलने वाला हो उसके लिए शोध्य ऋण लिया जा सकता है। इस के अतिरिक्त यदि हम ऋण भार को भविष्य में आने वाली पीढ़ी पर ढकेलना चाहते है तो भी हम अशोध्य ऋण ले सकते है।

सार्वजनिक ऋण के प्रभाव (Effects of Public Debt)—सार्वजनिक ऋण का प्रभाव दो बातो के कारण पड़ता है—(१) ऋण देने से व्यक्तियो की बचत में कमी हो जाती है, (२) ऋण को जनता के हित के लिए खर्च किया जाता है, इस खर्च का प्रभाव विभिन्न प्रकार से पड़ता है।

उपयोग तथा उत्पादन पर प्रभाव (Effects on consumption and production)—सार्वजनिक ऋण का वर्तमान तथा भविष्य के उत्पादन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जब सरकार ऋण लेती है तो जनता उसको अपनी बचत में से खरीदती है। इसलिए ऋण का वर्तमान उपभोग पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता। परन्तु इस ऋण का वर्तमान उत्पादन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि जिस रुपये से सरकारी ऋण खरीदा जाता है उस धन को निजी उद्योग धन्धो में नही लगाया जा सकता। इसलिए उनकी उत्पत्ति घट जाती है। हा, यदि सरकारी ऋण बचत में से न खरीद कर गड़े हुए धन में से खरीदा गया हो तो उसका उत्पत्ति पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता।

सार्वजनिक ऋण का उत्पत्ति पर दूसरे ढङ्ग से भी प्रभाव पड़ता है। जब सरकार ऋण लेती है तो व्यापारियों को अच्छा व्यापार होने की आशा हो जाती है। इसलिए वह उत्पत्ति बढ़ाने के लिए बैंकों के पास ऋण लेने के लिए जाते हैं और क्योंकि बैंक साख सृजन करते हैं इसलिए व्यापारियो को ऋण मिलने में कठिनाई नही होती। ऋण मिलने पर वह उत्पादन को बढ़ा लेते है। इस प्रकार यह देखने में आता है कि ऋण के कारण उत्पत्ति कदाचित् कभी घटती हो।

धन बचत में न जा कर उपभोग कार्यों में लग जाता परन्तु अब वह बचत में बदल जाता है। इस प्रकार भविष्य में अधिक पूंजी हो जाती है जिसके कारण उत्पत्ति पर अच्छा प्रभाव पडता है।

अभी तक हमने ऋण का प्रभाव व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचारा है। ऋण का प्रभाव इसलिए भी पडता है कि सरकार उस ऋण को ले कर जनता के भले के लिए खर्च करती है। वह ऋण को ऐसी वस्तुओं पर खर्च करती है जिन पर कि व्यक्ति अपना धन लगाने को तैयार नही होते परन्तु जो लोगो के लिए उपयोगी होती है। इन वस्तुओं को वह कम मूल्य पर गरीब लोगो को देती है। इस प्रकार समाज के सब लोगो के उपभोग का स्तर बढ जाता है। उपभोग का स्तर बढने का उत्पत्ति पर भी अच्छा प्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त कभी कभी सरकार ऋण से ऐसे साधन जुटाती है जिनका प्रभाव उत्पत्ति पर बड़ा अच्छा पडता है, जैसे रेल यातायात की उन्नति करना, नहरो का निकालना बिजली की शक्ति उत्पन्न करना आदि। यह सभी उत्पत्ति में बड़े सहायक होते है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋण का भविष्य की उत्पत्ति तथा उपभोग पर अच्छा प्रभाव पडता है।

वितरण पर प्रभाव (Effect on Distribution)—सार्वजनिक ऋण का वितरण पर भी प्रभाव पडता है। जब सरकार ऋण लेती है तो उसको साधारणतया बडे बडे पूंजी पति ही खरीदते है, साधारण साधन वाले व्यक्ति उसको नही खरीद सकते क्योकि एक व्यक्ति जो ऋण खरीद सकता है उसकी मात्रा बहुत अधिक होती है, जैसे भारतवर्ष में एक व्यक्ति २५००० रुपये अथवा अधिक के ही ट्रेजरी बिल खरीद सकता है, इससे कम नही। हमारे देश में इतनी बडी मात्रा में सरकारी ऋण को मध्य श्रेणी के लोग भी नही खरीद सकते। ऋण खरीदने पर धन के वितरण की असमानता कुछ अंशो में कम हो जाती है। इसके विपरीत यदि सरकार १० अथवा १०० रुपये के ऋण-पत्रो के रूप में ऋण एकत्र करती है और उस ऋण को छोटी छोटी आय वाले व्यक्ति खरीद लेते है तो उससे धन के वितरण की समानता बढ सकती है।

जब ऋण अथवा ब्याज को चुकाया जाता है तो उसके लिए कर लगाये जाते है। कर साधारणतया बडे बडे आदमियो पर ही लगते है, छोटो पर कर कम लगते है। इन करो में से यदि छोटी आयो वाले व्यक्तियो के ऋण का भुगतान किया जाता है तो उससे धन का समान वितरण होने में सहायता मिलती है परन्तु यदि उस से बडे बडे व्यक्तियो द्वारा खरीदे गए ऋण का भुगतान किया जाता है तो उस से धन के वितरण की असमानता कम नही होती, वह बढ जाती है क्योकि करो का कुछ भाग छोटी आय वाले व्यक्तियो से भी आता है।

इस प्रकार खर्च किया जाता है तो उस से धन वितरण की असमानता कुछ अंशों में कम हो जाती है।

ऋण द्वारा भविष्य में होने वाली आय वर्तमान में हो जाती है क्योंकि जो ऋण वर्तमान में लिया जाता है उसको भविष्य में थोड़ा थोड़ा करके चुकाया जाता है और उसके लिए करों द्वारा धन एकत्र किया जाता है। इस प्रकार ऋण द्वारा समय के विभिन्न भागों में धन का वितरण समान हो जाता है। दूसरे शब्दों में वर्तमान में ऋण द्वारा चलाए गए उद्योगों का भार केवल वर्तमान में ही नहीं पड़ता वरन् वह भविष्य में आने वाली सन्तानों पर भी पड़ता है और यह अनुचित भी प्रतीत नहीं होता क्योंकि भविष्य में लोगों को इन उद्योगों से लाभ भी होता है। ऐसी स्थिति में सारा भार वर्तमान में रहने वाले लोगों पर डालना अनुचित ही प्रतीत होता है।

व्यापारिक मंदी मे सार्वजनिक ऋण का महत्व (Importance of Public Debt in Trade Depression)—व्यापारिक मंदी में चारों ओर एक उदासीनता का वायुमण्डल दिखाई पड़ता है। व्यापार प्राय समाप्त हो जाता है। इसलिए उत्पादन भी घट जाता है। उत्पादन घटने का प्रभाव रोजगार पर भी पड़ता है। बहुत से व्यक्ति बेरोजगार हो जाते है। बैंक आदि साख संस्थाओं की स्थिति भी खराब हो जाती है। इस प्रकार के उदासीनता के वातावरण में प्राय सभी सभ्य देशों की सरकारें लोगों की सहायता करती हैं। ऐसे समय में वह सार्वजनिक ऋण लेती हैं। इस ऋण के द्वारा वह जनता के हित के कुछ कार्य करती है। वह कार्य ऐसे होते है जिनसे बहुत अधिक लोगों को रोजगार मिलता है, जैसे रेलों, सड़कों, नहरों, इमारतों आदि का बनवाना। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हमको १९२९ के पश्चात् होने वाली व्यापारिक मंदी मे मिलते है। इस समय अमरीका में विभिन्न संस्थाओं द्वारा बेरोजगारी दूर करने का प्रयत्न किया गया। उनमें से अकेले वर्क्स प्रोग्रेस एडमिनिस्ट्रेशन ने १००,००० से अधिक सार्वजनिक इमारतों को ५६५,००० मील लम्बी सड़कों को, १८०,००० पुलों को, ३६,००० स्कूलों तथा पुस्तकालयों को, ७,००० पार्कों तथा खेल के मैदानों को बनवाया अथवा उन्नत किया। इस प्रकार के कार्यों से देश में स्थायी लाभ पहुंचाने वाली सम्पत्ति उत्पन्न हो गई तथा उस समय जब लोग विश्वास खो रहे थे उनमें आशा की लहर दौड़ गई।* अमरीका के अतिरिक्त और देशों ने भी अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार इस प्रकार के कार्य-क्रम अपने हाथ में लिए। इस प्रकार की नीति का समर्थन करते हुए डा० डाल्टन बताते है कि इस प्रकार के सार्वजनिक कार्यों के लिए आवश्यक धन या तो करों द्वारा प्राप्त हो सकता है या ऋण द्वारा। इनमें से यदि करों द्वारा इस कार्य को किया जाए तो कोई लाभ न होगा क्योंकि ऐसा करने में धन जनता के हाथ से

* K. D. Jalan—'A Pamphlet on Unemployment in India'. P. 14.

नियन्त्रण सरकार के हाथ में आ जाता है। इसलिए यदि एक ओर सरकार द्वारा रोजगार की स्थिति सुधारने का प्रयत्न होता है तो दूसरी ओर निजी पूंजी रोजगार देने में कम असमर्थ रह जाती है। परन्तु यदि इन प्रकार के कार्य ऋण द्वारा किये जाये तो उनसे मजदूरों की मांग बढ़ने की आशा अधिक रहती है क्योंकि क्रय शक्ति को साख सृजन द्वारा बढ़ाया जा सकता है। इस नई बचत के द्वारा नये विनियोजनों के अवसर बढ़ जाते हैं और रोजगार की स्थिति सुधर जाती है।* इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यापारिक मंदी के समय सार्वजनिक कार्यों से बहुत लाभ होता है और यदि इन कार्यों को ऋण द्वारा किया जाये तो और भी अधिक लाभ होता है।

युद्ध कालीन अर्थ व्यवस्था (War Finance)—आधुनिक युद्ध को लड़ने के लिए कितने धन की आवश्यकता है इसका अनुमान लगाना कठिन है। इतनी बड़ी धन राशि को किसी एक साधन से प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिए कई प्रकार के साधनों से धन प्राप्त किया जाता है। उनमें से कर, सार्वजनिक ऋण तथा मुद्रा प्रसार मुख्य हैं। अब हमको देखना चाहिए कि इनमें से कौनसा ढङ्ग कहां तक उपयुक्त है।

कर—बहुत से अर्थ शास्त्रियों का कहना है कि युद्ध का सब व्यय करों द्वारा प्राप्त करना चाहिए। अपने कथन के समर्थन में वह निम्नलिखित तर्क देते हैं —

(१) कर के कारण अमीर आदमी फिजूल खर्ची नहीं कर सकेंगे परन्तु गरीब लोगों के जीवन-स्तर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(२) कर के कारण मुद्रा स्फीति के दुष्परिणामों से बचा जा सकता है।

(३) कर के कारण गरीब और अमीर लोगों का युद्ध में समान बलिदान हो जाता है। एक ओर अमीर आदमी अपने धन से सहायता करते हैं तो दूसरी ओर गरीब आदमी अपनी जान जोखिम में डाल कर युद्ध लड़ते हैं।

(४) कर के द्वारा युद्ध लड़ने पर युद्ध के पश्चात देश के ऊपर कोई भार नहीं रहता।

इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि कोई भी आधुनिक युद्ध करों द्वारा नहीं लड़ा जा सकता। करों की एक सीमा होती है जिसके ऊपर उनको लगाने से उत्पादन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ना आरम्भ हो जाता है। उत्पादन कम होने लगता है। इसके फलस्वरूप करों में कमी हो जाती है। प्रो० सैलिगमैन ने कहा है कि यदि हम सब बड़ी बड़ी आयों तथा व्यापारिक लाभों को जब्त भी करलें तो भी युद्ध का आधा खर्च भी पूरा न होगा। इसके अतिरिक्त करों पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। हम करों की दर ही तो बढ़ा सकते हैं परन्तु हम उन से हमेशा

* Dalton—Principles of Public Finance—P. 236.

उतना धन प्राप्त नहीं कर सकते जितना हम चाहते हैं। इसी लिए आदम स्मिथ ने कहा था कि करो के सम्बन्ध में दो और दो मिलकर चार नहीं होते, वह तीन हो सकते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि करो द्वारा युद्ध को चलाना तो अच्छा है परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। यदि युद्ध थोड़े समय चले तथा उसमें कम खर्च हो तो उसका व्यय करो द्वारा पूरा किया जा सकता है अन्यथा नहीं।

सार्वजनिक ऋण—बहुत से लोगों का विचार है कि करो की अपेक्षा सार्वजनिक ऋण युद्ध लड़ने के लिए उचित है। जो लोग ऋणों का समर्थन करते हैं वह निम्नलिखित तर्क देते हैं —

(१) ऋणों के प्रति जनता का ऐसा विरोध नहीं होता जैसा कि करो के प्रति होता है क्योंकि जनता उनको अपनी स्वय इच्छा से सरकार को देती है।

(२) ऋण देने पर ऋण-दाता के उपभोग का स्तर नहीं गिरता क्योंकि ऋण बचत में से दिए जाते हैं।

(३) ऋण का व्यापार तथा उत्पादन पर ऐसा बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, जैसा कि करो का।

(४) पर्याप्त ऋण मिलने पर मुद्रा स्फीति करने की आवश्यकता नहीं रहती।

परन्तु करो के समान ऋणों की भी एक सीमा होती है। जनता सरकार को अपनी बचत में से ऋण देती है। पर यह आवश्यक नहीं है कि बचत इतनी हो जिससे सारे युद्ध का खर्च चल सके। इसके अतिरिक्त युद्ध समाप्त होने पर ऋण तथा उसके ब्याज का एक बड़ा भारी बोझा देश के ऊपर रह जाता है। सामान्य मूल्य गिरने पर (जो कि बहुधा युद्ध के पश्चात् होता है) ऋण का वास्तविक भार और भी अधिक बढ़ जाता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सरकार को चाहिए कि वह पहले करो द्वारा धन प्राप्त करने का प्रयत्न करे। आवश्यकता पड़ने पर ऋण ले। यदि इन दोनों से काम न चले तब मुद्रा स्फीति करे। प्राय सभी देश इसी नीति से काम लेते हैं।

मुद्रा-स्फीति—मुद्रा-स्फीति युद्ध लड़ने का सबसे सहल ढङ्ग है क्योंकि इसमें जनता का कोई विरोध नहीं होता। जनता के हाथो में जब अधिक क्रय शक्ति आती है तो वह भूल से अपने आपको अमीर समझकर खुश होती रहती है। ऐसे समय में बहुत से उद्योग-धन्धे चालू हो जाते हैं और बहुत से लोगों को रोजगार मिल जाता है। इन बातो के कारण तथा इस बात के कारण कि सरकार जनता से प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं मांगती जनता का मुद्रा-स्फीति से कोई विरोध नहीं होता। साथ साथ सरकार को कर तथा ऋण प्राप्त करने में जो कठिनाई उपस्थित होती है वह नहीं

होती। सरकार स्वयं अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट छपवाती रहती है। नोट छपवाने में सरकार को बहुत ही कम व्यय करना पड़ता है। इसलिये बहुत से देशों में इसी पद्धति से काम लिया जाता है।

परन्तु मुद्रा-स्फीति का ढङ्ग जितना सरल है उससे कहीं अधिक भयानक भी है। एक बार मुद्रा पद्धति का कार्य आरम्भ हुआ चाहिए फिर यह घोड़े के समान सरपट दौड़ता है। मुद्रा-स्फीति के कारण मूल्य-स्तर ऊंचा होता रहता है। जिस गति से मुद्रा-स्फीति का कार्य चलता है उसी गति से मूल्य-स्तर बढ़ता जाता है। यदि किसी को मुद्रा-स्फीति के भयानक परिणामों को देखना है तो वह १९२३ में में जर्मनी की दशा से पता लगा सकता है जब कि मूल्य का सूचि भङ्क १००,०००,०००,०००,००० हो गया था। इसके फलस्वरूप जर्मनी में द्रव्य का कोई मूल्य न रह गया था और इसलिए लाखों घर बर्बाद हो गए। इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति में सट्टे बाजी का बाजार गर्म हो जाता है और लोगों का नैतिक पतन हो जाता है। सी० एन० वकील ने तो मुद्रा-स्फीति की 'एक डकैती' से उपमा दी है जो कि कानूनी है और जिसके विरुद्ध कोई चारा नहीं चलता। इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति से सदा ही बचना चाहिए।

युद्ध की तीनों प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के गुण व अवगुण जान लेने के पश्चात् अब हमारे लिए यह निश्चित करना सरल हो गया है कि युद्ध काल में कौन सी पद्धति अपनानी चाहिए। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सरकार को चाहिए कि वह सबसे पहले उस सीमा तक कर भार बढ़ा दे जहा तक वह उत्पत्ति को हानि न पहुचायें। यदि इससे काम न चले तो ऋण के द्वारा युद्ध कार्य चलायें और यदि ऋण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त न हो सके तो अन्त में मुद्रा-स्फीति से काम चलायें। पर इस अन्त वाले शस्त्र को जरा सावधानी से चलायें। सरकार को चाहिए कि वह इतने नोट छापे जो कि अर्थ-व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट न कर सकें।

सार्वजनिक ऋण के चुकाने के ढङ्ग
(Methods of repayment of Public Debts)

एक साधारण व्यक्ति जब अपने मन में ठान लेता है कि उसको ऋण चुकाना है तो वह ऐसा करने के लिए पहले पर्याप्त धन एकत्र करता है और तब उस ऋण को चुकाता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि ऋणी ऋण को चुकाता ही नहीं वरन् ऐसा करने से साफ मना कर देता है। परन्तु यदि वह अन्त वाला ढङ्ग अपनाने का प्रयत्न करता है तो उसको अदालत द्वारा ऋण चुकाना पड़ता है। इस प्रकार एक साधारण व्यक्ति को किसी न किसी प्रकार ऋण चुकाना ही पड़ता है। साधारण

व्यक्ति के ऋण चुकाने के ढङ्ग कम होते हैं परन्तु सरकार ऋण को कई ढङ्गों से चुका सकती है।

(१) ऋण चुकाना (Repayment of debt)—व्यक्ति के समान सरकार भी ऋण को द्रव्य के रूप में चुकाती है। परन्तु ऐसा तभी होता है जबकि ऋण की मात्रा कम हो और बजट में बचत हो। परन्तु आजकल कदाचित ही कोई ऐसा देश होगा जहा पर इस प्रकार ऋण चुकाया जाता हो। इसलिए ऋण चुकाने के दूसरे ढङ्ग अपनाये जाते है।

(२) ऋण निषेध (Debt repudiation)—यह ऋण चुकाने का सबसे *सरल ढङ्ग है। इसमें सरकार जो ऋण लेती है* उसको चुकाने से इकार कर देती है। इस प्रकार ऋण-दाता को अपना मूल धन वापिस नही मिलता। परन्तु ऋण चुकाने का यह ढङ्ग कई बातो के कारण नही अपनाना चाहिए।

(अ) ऐसा करने से देश में केवल एक वर्ग विशेष को हानि पहुचती है और दूसरे वर्ग अथवा वर्गों को कोई हानि नही पहुचती। यह बात अनुचित जान पडती है।

(ब) ऐसा करने से सरकार कुछ समय तक ऋण प्राप्त नही कर सकती क्योंकि लोगों का सरकार पर से विश्वास उठ जाता है।

(स) यदि निषेध बाह्य ऋण का किया गया है तो इसका और भी बुरा प्रभाव पड सकता है। विदेशी ऋण-दाता कई प्रकार से इसका प्रतिकार कर सकते है। वह अपनी सरकार को ऋण निषेद करने वाले देश के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए बाध्य करें, अथवा उस देश के शत्रुओ को सहायता देकर उसके विरुद्ध भडकाते रहें, अथवा उसका माल खरीदना बन्द कर दें अथवा उस देश के विरुद्ध गलत प्रचार करते रहे। इस प्रकार के सभी ढङ्ग १६१७ की क्रान्ति के पश्चात् रूस के विरुद्ध अपनाए गये थे।

डा० डाल्टन *ने बतलाया है कि १६२६ ई० की मन्दी के पश्चात् ऋण-निषेध* के दूसरे ढङ्ग भी अपनाये गये है, जैसे ऋण चुकाने की अवधि को बढा देना, ब्याज की दर का घटा देना, मुद्रा-स्फीति के द्वारा द्रव्य का मूल्य गिरा देना आदि। परन्तु इस प्रकार से भी सामाजिक न्याय नहीं होता। इसलिए ऋण चुकाने के इन ढङ्गों को नही अपनाना चाहिए।

(३) वार्षिक वृत्ति (Terminal Annuities)—इस ढङ्ग में सरकार जितना ऋण लेती है उसका थोडा थोडा भाग प्रति वर्ष चुकाती रहती है। हर वर्ष ऋण की किश्त समान रहती है। इस किश्त में मूलधन तथा ब्याज दोनो सम्मिलित होते हैं। ऋण को इस ढङ्ग से चुकाने पर सरकार का ऋण भार प्रति वर्ष कम होता जाता है।

(४) ऋण रूपान्तरण (Conversion of debt)—इस ढङ्ग में ऋण चुकाया नही जाता वरन् उसका रूप बदल जाता है। जब सरकार यह देखती है कि

लोगों का उसमें विश्वास है तथा बाजार में ब्याज की दर गिर रही है तो वह पुराने ऋण के बदले एक नया ऋण इश्यू करती है। यह ऋण पहले की अपेक्षा कम ब्याज की दर पर दिया जाता है। इस ऋण के इश्यू होने पर पुराने ऋण दाताओं के सामने दो रास्ते खुल जाते हैं। पहला रास्ता यह है कि वह अपना रुपया सरकार से वापिस ले ले। दूसरा रास्ता यह है कि वह पुराने ऋण के बदले दूसरा ऋण खरीद लें। ऐसा करने पर पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और कम ब्याज की दर वाला नया ऋण रह जाता है। जब ऋण दाता पुराने ऋण के स्थान पर नया ऋण खरीद लेते हैं तो उसमें ही ऋण का रूपान्तरण हो जाता है। ऋण-दाता रूपान्तरण के लिए इसलिए तैयार हो जाते हैं क्योंकि सरकारी ब्याज की दर बाजारी दर से कुछ अधिक होती है। जो लोग ऋण के रूपान्तरण के लिए तैयार नहीं होते उनको नये ऋण से प्राप्त धन में से ऋण चुका दिया जाता है।

नये ऋण को आकर्षित बनाने के लिए सरकार या तो ऋण को बट्टे पर बेचती है या उसको बेचती तो है उसके वास्तविक मूल्य पर लेकिन उसको वास्तविक मूल्य से अधिक पर चुकाने का वचन देती है। पहली दशा में १०० रुपये का ऋण ९७ अथवा ९८ रुपये में बेचा जाता है और ऋण को चुकाते समय उसका पूरा मूल्य अर्थात् १०० रुपये चुकाये जाते हैं। दूसरी दशा में १०० रुपये का ऋण १०० ही रुपये में बेचा जाता है परन्तु ऋण चुकाते समय सरकार ऋण-दाता को १०० रुपये के स्थान पर १०४ अथवा १०५ रुपये देने का वचन देती है। डा० डाल्टन ने ऋण रूपान्तरण के इन दोनों ढङ्गों की निन्दा की है। उनका कहना है कि पहले ढङ्ग को अपनाने से यद्यपि रूपान्तरण करते समय ऋण का भार घट जाता है परन्तु उसमें भविष्य में सरकार के ऊपर ऋण भार बढ़ता चला जाता है क्योंकि ऋण का मूल्य बढ़ता जाता है और यदि बाजार में ब्याज की दर गिर जाती है तो भार और भी बढ़ जाता है क्योंकि सरकारी ऋण पर ब्याज की दर अधिक होने के कारण हर व्यक्ति उसी को मोल लेना चाहेगा। सरकारी ऋण की माँग बढ़ जाने पर उसका मूल्य बढ़ जायगा। इस सम्बन्ध में डा० डाल्टन कहते हैं इसलिए इस प्रकार के ऋण विनियोजकों को उनके ब्याज की दर को देखते हुए बहुत प्रिय हैं क्योंकि उनमें पूँजी का मूल्य बढ़ने का व्यवहारिक विश्वास होता है परन्तु इसी बात के कारण वह सरकार के अन्तिम भार को बढ़ा देते हैं। अधिकतर विशेषज्ञों ने इसकी अनुचित अर्थ व्यवस्था वह कर निन्दा की है।* ऋण चुकाने का दूसरा ढङ्ग भी पहले के समान ही निन्दनीय है। इसमें भी सरकार के ऊपर ऋण भार बढ़ जाता है।

* Dalton—Principles of Public Finance Page 285

बहुत से लोगो का यह विश्वास है कि ऋण के रूपान्तरण से ऋण भार घट जाता है। परन्तु इस प्रकार का विचार बहुत अधिक ठीक नही है क्योंकि ब्याज की दर में समय २ पर अधिक परिवर्तन नही होता और यदि होता भी है तो उससे कोई विशेष लाभ नही होता क्योकि ब्याज में जो बचत होती है वह कुल बचत का एक छोटा सा भाग होता है। इसके अतिरिक्त ऋण के रूपान्तरण से सरकारी आय में कोई वृद्धि नही होती क्योंकि करो को कम कर दिया जाता है। इस प्रकार इस ढङ्ग से कर-दाताओ को भले ही लाभ हो सरकारी खजाने को कोई विशेष लाभ नही होता।

रूपान्तरण करते समय कुछ बातो का ध्यान रखना आवश्यक है। (१) वित्त मन्त्री को मुद्रा बाजार की स्थिति को ध्यान पूर्वक देखते रहना चाहिए। (२) रूपान्तरण करने से पूर्व इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भविष्य में ब्याज की दर कर तथा सामान्य मूल्य स्तर की कैसी स्थिति होने वाली है। (३) रूपान्तरण करते समय ऋण का मूलधन उस समय तक नही बढाना चाहिए जब तक कि ऐसा करने की विशेष आवश्यकता न हो। (४) रूपान्तरण का ढङ्ग सरल होना चाहिए।

(५) ऋण परिशोध कोष (Sinking Fund)—कभी कभी सरकार ऋण चुकाने के लिए इस प्रकार का प्रबन्ध करती है जिससे कि मूलधन तथा उस पर चक्रवृद्धि ब्याज दोनो मिलकर ऋण की अवधि समाप्त होने तक ऋण भार के बराबर हो जायें। इस कार्य को करने के लिए सरकार प्रति वर्ष कुछ निश्चित रुपया किसी स्थान पर ब्याज पर लगा देती है। हर वर्ष के अन्त में जो ब्याज मिलता है उसको दूसरे वर्ष के आरम्भ में फिर ब्याज पर लगा दिया जाता है। इस प्रकार हर वर्ष ऐसा करते करते मूलधन और ब्याज मिलकर ऋण के बराबर हो जाते हैं। जैसे यदि सरकार को ५०,००० रुपये का ऋण ५ वर्ष में चुकाना है और ब्याज की दर ५ प्रतिशत है तो प्रति वर्ष सरकार को ९०५० रुपये ब्याज पर लगाने पड़ेंगे, पहले वर्ष के आरम्भ में ९०५० रुपये ब्याज पर लगाने से उन पर उस वर्ष के अन्त में ४५० रुपये के लगभग ब्याज मिलेगा। दूसरे वर्ष में ९०५० रुपये दूसरे वर्ष के तथा ९५०० रुपये पिछले वर्ष के (९०५० रुपये पहले वर्ष का मूलधन तथा ४५० रुपये उस पर ब्याज) इस प्रकार १८५५० रुपये लगाये जायेंगे। इन पर दूसरे वर्ष में ९२५ रुपये ब्याज मिलेगा। तीसरे वर्ष में ९०५० रुपये, तीसरे वर्ष के तथा १९४७५ रुपये पिछले, इस प्रकार २८,५२५ रुपये लगाए जायेंगे। चौथे वर्ष के आरम्भ में ९०५० रुपये चौथे वर्ष के तथा २९९५० रुपये पिछले, इस प्रकार ३९००० रुपये लगाये जायेंगे। पाचवे वर्ष में ९०५० रुपये, पाचवे वर्ष के तथा ४०९५० रुपये पिछले वर्षों के, इस प्रकार पाचवे वर्ष के अन्त में ऋण-परिशोध कोष

में पूरे ५०,००० रुपये एकत्र हो जायेंगे। जब इस प्रकार ऋण को चुकाने के लिए सरकार उसके लिए एक कोष एकत्र करती है तो उसको ऋण-परिशोध-कोष कहते हैं।

ऋण-परिशोध कोष दो प्रकार से एकत्र किया जा सकता है। पहले, वार्षिक आय में से, दूसरे नया ऋण लेकर। दूसरे ढङ्ग को केवल ऋण का रूपान्तरण ही कह सकते हैं क्योंकि यहां नया ऋण पुराने का स्थान ग्रहण कर लेता है। ऋण-परिशोध कोष के द्वारा ऋण चुकाने का प्रयत्न सबसे पहले इङ्गलैंड में पिट के समय में हुआ था। यह कार्य प्राइस नामक एक पादरी के सुझाव से किया गया था। कुछ समय पश्चात् इङ्गलैंड के अतिरिक्त अमरीका आदि देशों ने भी इस पद्धति को अपनाया। परन्तु यहां यह बात बतानी अनुचित न होगी कि ऋण-परिशोध कोष की जो पद्धति प्राइस द्वारा बताई गई थी उसमें अब बहुत परिवर्तन हो गया है।

ऋण-परिशोध कोष या तो निश्चित हो सकता है या अनिश्चित। पहले प्रकार के कोष में एक निश्चित धन राशि प्रति वर्ष जमा की जाती है, परन्तु दूसरे प्रकार के कोष में धन तभी जमा किया जाता है जबकि बजट में बचत हो। यदि बचत न हो तो कुछ भी जमा नहीं किया जायेगा।

निश्चित ऋण-परिशोध कोष का विचार तीन दृष्टियों से किया जा सकता है—(१) वह समय जिस में ऋण चुकाना है। (२) वह ढङ्ग जिससे ऋण-परिशोध कोष में से ऋणों का भुगतान करना है। (३) विभिन्न ऋणों को अदा करने के लिए कोष का उपयोग।

(१) ऋण-परिशोध कोष को जितने थोड़े समय के लिए कायम किया जाये उतना ही अच्छा है परन्तु ऋण का समय इस बात पर निर्भर हो सकता है कि वह ऋण किस लिए लिया गया है। यदि ऋण किसी पूंजी-वस्तु के लिए लिया गया हो जो बहुत समय तक कायम रहने वाली है तो कोष की अवधि उस वस्तु के जीवन-काल तक की हो सकती है। पूंजी-वस्तु के बेकार होने पर कोष को उसके फिर से खरीदने के काम लाया जा सकता है। इसके विपरीत, यदि ऋण युद्ध के लिए लिया गया हो तो उसको शीघ्रतापूर्वक चुकाया जाना चाहिए नहीं तो देश के ऊपर ऋण भार कायम रहेगा।

(२) ऋण-परिशोध कोष में से हम तीन प्रकार रुपया दे सकते हैं—(अ) जब वार्षिक भुगतान प्रति वर्ष बढ़ता रहे, (ब) जब वह समान रहे तथा (स) जब वह घटता रहे। पहले ढङ्ग से भुगतान करने के लिए एक एकत्र होने वाला परिशोध कोष कायम किया जाता है और यह चक्रवृद्धि ब्याज पर बढ़ता है। हर वर्ष इस कोष में एक निश्चित धन राशि जमा कर दी जाती है और प्रति वर्ष में कमाया हुआ ब्याज भी उस में जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार कोष का धन चक्रवृद्धि ब्याज पर

बढ़ता जाता है। दूसरे ढङ्ग से भुगतान करने में वर्ष में कमाया हुआ सारा ब्याज कोष में जमा नहीं किया जाता वरन् उसका एक अंश ही जमा किया जाता है, शेष को ऋणदाताओं को दे दिया जाता है। इस प्रकार ऋणभार प्रतिवर्ष समान रखा जाता है। तीसरे ढङ्ग से भुगतान करने में वर्ष में कमाये गये ब्याज से भी अधिक ऋणदाताओं को भुगतान के रूप में दे दिया जाता है। इस प्रकार ऋणभार प्रति वर्ष घटता चला जाता है। इन तीनों में दूसरा पहले से तथा तीसरा दूसरे से अच्छा है। पहले प्रकार के कोष में यह भय रहता है कि आवश्यकता पड़ने पर उसको काम में ले लिया जाता है परन्तु शेष दोनों प्रकार के कोषों के साथ ऐसा होने की कम आशङ्का रहती है क्योंकि इन दोनों दशाओं में प्रतिवर्ष ऋण दाताओं को कुछ न कुछ भुगतान करना पड़ता है।

(३) अब हमको यह देखना है कि विभिन्न प्रकार के ऋणों का भुगतान करने के लिए कोष को कैसे काम में लाया जाए। यदि सरकारी ऋण एक ही प्रकार का है तो कोष में से भुगतान करने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। परन्तु जब सरकार को कई प्रकार के ऋणों का भुगतान करना है तो वह दो ढङ्ग अपना सकती है। पहला, यह कि वह किसी एक कोष को किसी विशेष ऋण का भुगतान करने के लिए निश्चित कर दे अथवा उसका सारा भुगतान करने के लिए निश्चित न करके उसमें से उसका कुछ भाग निश्चित कर दे। इन दोनों ढङ्गों से भुगतान करने में सरकार के लिए कोष को किसी और काम के लिए प्रयोग में लाना कठिन हो जायगा।

पूंजी कर (Capital Levy)—

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पूंजी कर एक बड़ी चर्चा का विषय रहा है। कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध के भार को बहुत समय तक अपने ऊपर रखे रहने की अपेक्षा यह अच्छा है कि उसको किसी न किसी प्रकार समाप्त कर दिया जाये। ऐसा करने से सामान्य मूल्य-स्तर गिरने पर जो ऋण भार बढ़ जाता है वह नहीं बढ़ने पाता। रिकार्डो ने अपनी पुस्तक वर्क्स में इस सम्बन्ध में कहा है कि "एक देश जो अपने ऊपर एक बड़ा ऋण एकत्र कर लेता है वह अपने आप को एक बड़ी कृत्रिम स्थिति में रख लेता है...एक देश जिसने अपने आपको इस कृत्रिम पद्धति के कारण कठिनाइयों में डाल दिया है उस के लिए अपने आपको ऋण चुका कर छुड़ा लेना बुद्धिमत्ता होगी, चाहे इस ऋण को चुकाने के लिये उसको अपनी सम्पत्ति के किसी अंश का भी बलिदान क्यों न करना पड़े।" परन्तु बहुत से लोगों ने पूंजी करों का विरोध किया है। पूंजी कर के पक्ष और विपक्ष के तर्कों पर विचार करने से पहले हमको यह समझ लेना आवश्यक है कि पूंजी कर क्या होता है।

पूंजी कर वह होता है जिसमें व्यक्ति की आय पर कर न लगाकर उसकी वास्तविक सम्पत्ति पर कर लगाया जाता है। कर लगाते समय एक सीमा निश्चित कर दी जाती है जिसके नीचे कर नही लगाया जाता। उससे ऊपर की सब सम्पत्तियो पर वर्द्धमान कर लगाया जाता है। इस प्रकार के पूंजी कर को अनुमानिक मृत्यु कर भी कहते है।

पूञ्जी कर के पक्ष मे तर्क—जो लोग पूंजी कर के पक्ष में है वह इसके लिए निम्नलिखित तर्क देते है—

(१) यदि पूंजी कर लगा कर हम ऋण के भार से मुक्त हो जाते है तो इससे व्यापार और उद्योग-धन्धो पर करो का भार कम रह जाता है। इसके कारण वह उन्नत हो जाते हैं तथा जो धन ऋण का ब्याज और मूलधन चुकाने में खर्च किया जाता है उसको बहुत से सामाजिक कार्यों में लगाया जा सकता है।

(२) यह अनुचित होगा कि जो लाखो लोग लडाई में लडे तथा जिन्होंने अपनी जान को जोखिम में डाला उनको उन लोगो के ऋण पर ब्याज देना पडे जो कि लडाई मे नहीं लडे परन्तु जिन्होंने केवल अपना रुपया ही ऋण पर दिया। इस प्रकार लडने वालो पर दो प्रकार का भार पडा। पहला अपनी जान को जोखिम में डालने का तथा दूसरा ऋण पर ब्याज चुकाने का। इसके विपरीत न लडने वालो को दो प्रकार का लाभ हुआ। पहला, उन्होंने बिना किसी जोखिम में पडे युद्ध में माल बेच कर लाभ उठाया तथा दूसरे, उन को युद्ध के पश्चात ब्याज भी मिल रहा है।

(३) युद्ध के पश्चात् जब सामान्य मूल्य-स्तर गिर जाता है तो ऋण का वास्तविक भार बहुत अधिक बढ जाता है। इसके कारण कर-दाताओ पर बडा भारी बोझा पड जाता है। इसलिए युद्ध ऋण को पूंजी कर द्वारा उसी समय चुका देना चाहिए जबकि मूल्य-स्तर ऊचा हो।

पूञ्जी कर के विपक्ष मे तर्क—

(१) युद्ध के पश्चात जब सरकार ऋण का भुगतान करती है तो पूंजीपति उसको व्यापार में लगाते है। ऐसा न हो सकने के कारण व्यापार तथा उद्योगो को हानि पहुंचेगी। इसके अतिरिक्त पूंजी कर लगाने से साख (credit) भी कम हो जाएगी। साख कम होने पर मूल्य-स्तर और मजदूरी भी गिर जाएगी।

(२) पूंजी कर के कारण विदेशी पूंजी नहीं आ पाती जिसका व्यापार और उद्योगो पर बडा बुरा प्रभाव पडता है।

(३) पूंजी कर लगाने पर लोगो का पूंजी एकत्र करने का उत्साह समाप्त हो जाता है।

(४) पूंजी कर लगाने पर देश की पूंजी विदेशो में लगाई जाने लगती है।

(५) पूंजी कर के लगाने में बडी कठिनाइया आती है क्योकि पूंजी के मूल्य का ठीक अनुमान लगाना बडा कठिन है। इसके अतिरिक्त इस कर को एकत्र करने का खर्च बहुत हो जाता है।

(६) एक बार पूंजी कर लगा देने के पश्चात यह कौन कह सकता है कि यह फिर नहीं लगेगा।

(७) यह कहना गलत है कि अमीर आदमियो ने लडाई में कोई बलिदान नहीं किया। युद्ध में उनकी हानि उससे किसी प्रकार भी कम नहीं होती जितनी गरीब आदमियो की होती है।

यद्यपि पूंजी कर के विरुद्ध इतने तर्क दिए गए है तो भी हम यह कह सकते है कि इस कर द्वारा युद्ध भार को जितनी जल्दी हो सके समाप्त कर देना चाहिए। इससे राष्ट्र के ऊपर से ऋण का बोझ ही कम नहीं होगा वरन् इसके द्वारा ऋण-भार नवयुवको के कधो से हटकर उन वृद्ध लोगो के कन्धो पर आ जाएगा जो अपने जीवन के अन्तिम पहर में पहुच चुके है। नवयुवको पर ऋण भार न होने के कारण वह अपने जीवन को बिना किसी कठिनाई के चला सकेंगे।

विभिन्न राज्यों के आपसी ऋण (Inter-Governmental Debts)—प्रथम महायुद्ध के पश्चात विभिन्न राज्यो के आपसी ऋणो के भुगतान का प्रश्न बडा गम्भीर प्रश्न था। यह ऋण दो बातो के कारण उत्पन्न हुए। पहले, पराजित देशो के ऊपर विजयी देशो ने अपने युद्ध का खर्च तथा दूसरी प्रकार की हानि का भार ऋण के रूप में डाला। दूसरे, उन देशो ने जिनको युद्ध में कम बलिदान करना पडा था, उन देशों को जिन्होंने युद्ध में अधिक बलिदान किया था क्षतिपूर्ति के रूप में कुछ देने का वचन दिया। परन्तु इस प्रकार के ऋण चाहे जिस कारण से भी उत्पन्न हुए हो उनके चुकाने में एक ही प्रकार की समस्याए उत्पन्न होती हैं।

इस प्रकार के ऋणो के चुकाने में दो प्रकार की समस्याए उत्पन्न होती है। पहली, ऋण चुकाने के लिए पर्याप्त साधनो का उपलब्ध करना, दूसरी, एकत्र किए हुए साधनो को दूसरे देश में हस्तान्तर करते समय उत्पन्न होने वाली समस्याए। अब हम इन दोनो समस्याओ पर विचार करेंगे।

ऋण को चुकाते समय साधनो को उपलब्ध करने के लिए या तो कर लगाने पड़ते है या मुद्रा स्फीति से काम लेना पडता है। ऐसा करने के लिए विदेशो से ऋण

भी लिया जा सकता है परन्तु इससे कोई लाभ नहीं होता क्योंकि ऐसा करने में एक ऋण के स्थान पर दूसरा ऋण आ जाता है। इन में से चाहे जिस प्रकार भी साधन जुटाए जाएं हर एक से देशों के लोगों की वास्तविक आय कम होती है तथा यदि भारी करों के कारण उत्पादन शक्ति कम हो जाए तो इस से उनकी वास्तविक आय और भी कम हो जाती है। मुद्रा स्फीति का सबसे अधिक भार गरीबों पर पड़ता है।

साधनों को उपलब्ध करके जब उनको दूसरे देश में हस्तान्तर करने का प्रश्न आता है तब भी ऋणी देश अथवा देशों के सामने एक समस्या खड़ी हो जाती है। इस सम्बन्ध में कीन्स और ओहलिन (Ohlin) का १९२९ में बड़ा वाद विवाद हुआ। कीन्स का कहना था कि साधनों के हस्तान्तरण से ऋणी-देश के ऊपर हस्तान्तरण का गौण प्रभाव (Secondary Burden of Transfer) भी पड़ेगा परन्तु ओहलिन के अनुसार इस प्रकार की कोई आशङ्का नहीं है।

कीन्स का कहना है कि विदेशी व्यापारी ऋणी देश से माल तभी खरीदेंगे जब कि निर्यात की जाने वाली वस्तु का ऋणी देश में कम मूल्य होगा। परन्तु इन वस्तुओं के मूल्य को कितना कम किया जाए यह इस बात पर निर्भर है कि ऋण प्राप्त करने वाले देश के लिए ऋणी देश की वस्तुओं की माग की लचक कैसी है। यदि उसकी माग की लचक कम है तो मूल्य थोड़ा कम करना पड़ेगा परन्तु यदि माग की लचक अधिक है तो मूल्य अधिक कम करना पड़ेगा। इस प्रकार मूल्य कम करने पर ऋणी देश को हानि होगी। यह हानि उस समय और भी अधिक बढ़ जाएगी जब कि विदेशी आयात का मूल्य अधिक होगा। इस प्रकार ऋणी देश के ऊपर केवल ऋण चुकाने का ही भार नहीं पड़ता वरन् हस्तान्तरण का गौण प्रभाव भी पड़ेगा।

इसके विपरीत ओहलिन का विचार है ऋणी देश को अपने साधनों को विदेश में हस्तान्तर करने के लिए अपने मूल्य-स्तर को गिराने की कोई आवश्यकता नहीं इसलिए ऋणी देश पर हस्तान्तरण का कोई गौण प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस बात को सिद्ध करने के लिए ओहलिन इस प्रकार तर्क देता है। जब ऋणी देश किसी विदेशी देश को ऋण का भुगतान करता है तो ऋणी देश में लोगों की आय कम हो जाती है और विदेशी देश में आय बढ़ जाती है। ऐसा होने पर ऋणी देश में वस्तुओं की माँग कम हो जाती है परन्तु ऋण प्राप्त करने वाले विदेशी देश में वस्तुओं की माग बढ़ जाती है। ऐसा होने पर ऋण प्राप्त करने वाला विदेशी देश ऋणी देश से पुराने मूल्य पर ही माल खरीदता रहेगा। इस प्रकार यह हो सकता है कि ऋणी देश का व्यापारिक आधिक्य (Balance of Trade) बिना मूल्य गिराए ही उसके पक्ष में हो जाए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋणी देश को साधनों के हस्तान्तरण से कोई गौण हानि नहीं होगी।

इस वाद विवाद से हम इस परिणाम पर पहुचते है कि सच्चाई इन दोनो के बीच में है। यह सत्य है कि ऋण प्राप्त करने वाले देश में वास्तविक आय बढ जाने तथा उस देश की ऋणी देश से वस्तुओ की माँग बढ जाने से व्यापारिक आधिक्य ऋणी देश के पक्ष में हो जाए। यह भी सत्य है कि ऋणी देश को अपना माल विदेशो में भजने के लिए अपने देश में वस्तुओ के मूल्य कम करने पड़ें और इस प्रकार उस पर हस्तान्तरण का गौण प्रभाव पडे। व्यापारिक स्थिति कितनी किस दशा के पक्ष अथवा विपक्ष में होगी यह कई बातो पर निर्भर है, जैसे निर्यात की माग की लचक, निर्यात वस्तुओ की पूर्ति की स्थिति निर्यात वस्तुओ का साख कम करके मूल्य गिराने की सम्भावना विदेशियो द्वारा लगाए गए आयात-कर आदि। यदि ऋण प्राप्त करने वाले देश के लिए आयात वस्तुओ की माँग बेलोच है तो ऋणी देश को लाभ होगा परन्तु यदि माग लोचदार है तो ऋणी देश को हानि होगी। इसके अतिरिक्त यदि आयात करने वाला देश अपने देश में मूल्य को बढने नही देता तो ऋणी देश का ऋण भार और भी बढ जाएगा। इसी प्रकार जब ऋण प्राप्त करने वाला देश ऋणी देश से प्राप्त किए हुए माल पर आयात कर लगाता है तो उसका भार भी ऋणी देश पर ही पडता है।

बहुत से लोगो का विचार है कि ऋण प्राप्त करने वाले देश को व्यापार में बडी हानि होगी। इसका कारण यह है कि ऋणी देश में वस्तुओ का भाव कम होने के कारण उस देश का माल ऋण प्राप्त वाले देश में ही नही वरन् विदेशा में भी ऋण प्राप्त करने वाले देश के माल के साथ प्रतियोगिता करेगा। इसके कारण ऋण प्राप्त करने वाले देश के उद्योग धन्धो को बडा आघात पहुँचेगा तथा उस देश में बरोजगारी फैल जाएगी। परन्तु ऐसा सदा ही सत्य नही होता। यदि ऋण देने वाला देश कृषि प्रधान तथा ऋण प्राप्त करने वाला देश औद्योगिक है तो इस प्रकार की कोई बात न हो सकेगी। इसके अतिरिक्त ऋण प्राप्त करने वाले देश के लोगो की आय बढने पर उनकी वस्तुओ की माग बढ सकती है और इसलिए उस देश के उद्योग-धन्धो पर कोई विशेष प्रभाव न पडेगा। और यदि ऋण प्राप्त करने वाले देश को हानि भी होगी तो वह थोडे समय के लिए ही होगी। कुछ समय पश्चात वह देश अपने उद्योग धन्धो का नई परिस्थिति से सामजस्य कर लेगा और इस प्रकार उसकी कठिनाई दूर हो जाएगी।

परन्तु युद्ध ऋण के द्वारा इस प्रकार की लाभ व हानि पर वाद विवाद सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही उपयोगी हो व्यावहारिक दृष्टि से उसका कम उपयोग है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात अमरीका आदि को चुकाए जाने वाले ऋण का वर्णन करते हुए डा० डॉल्टन कहते है, 'जहा तक विदेशी राज्यो को युद्ध ऋण चुकाने

का प्रश्न है वहां तक अब हम सब बोल्शेविक हैं। ………भुगतान करने वाली सुन्दर तालिकाए जो कि १९८४ तक अथवा उससे आगे तक चलने वाली थी, आज केवल कागज के टुकड़े हैं।"* इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्ध-ऋण का प्रभाव थोड़े समय तक ही रहता है क्योंकि कुछ समय पश्चात उनका भुगतान बन्द कर दिया जाता है जैसे प्रथम महायुद्ध के पश्चात ऋणी देशों ने कर दिया था।

---

* Dalton— Principles of Public Finance— P. 299.

अध्याय ६

राजस्व का प्रबन्ध

(Financial Administration)

सरकार को अपना काय करने के लिए धन की आवश्यकता पडती है। यह धन करो द्वारा जनता से वसूल किया जाता है। इस धन को सरकार विभिन्न मदो पर खच करती है। धन को वसूल करते तथा खर्च करते समय सरकार के लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि धन इस प्रकार वसूल किया जाए कि किसी एक वर्ग के ऊपर उसका विशेष भार न पडे तथा इस प्रकार खर्च किया जाये जिससे कि उससे समाज का अधिकाधिक हित हो। जिस प्रकार व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह हिसाब को ठीक प्रकार से रखे तथा समय समय पर उसकी जाच पडताल करता रहे जिससे कि उसको आर्थिक स्थिति का ठीक अनुभव होता रहे इसी प्रकार सरकार के लिए भी हिसाब को ठीक रखना तथा उसकी जाच पडताल कराना बडा आवश्यक है। हमारे देश में सार्वजनिक वित्त पर नियन्त्रण करने के लिए निम्नलिखित चार सस्थायें है —

(१) व्यवस्थापक सभा (Legislature)
(२) शासन विभाग (Executive Government)
(३) वित्त मन्त्री-मण्डल (Finance Ministry)
(४) जाच विभाग (Audit Department)

व्यवस्थापक सभा—

यह सभा राज्य द्वारा प्राप्त की गई सब आय पर, राज्य द्वारा किए गए सब खर्च पर, राज्य द्वारा लिए गये सार्वजनिक ऋण पर तथा राज्य द्वारा रखे गए हिसाब पर नियन्त्रण करती है। यह सभा शासन करने वाले विभाग को नये कर लगाने अथवा वर्तमान करो की दर बढाने की आज्ञा देती है। यही किसी मद पर खर्च करने के लिए आज्ञा देती है। यही यह निश्चित करती है कि अमुक कार्य के लिए सार्वजनिक ऋण लिया जा सकता है। सार्वजनिक हिसाब की जाच पडताल करने के पश्चात् जाच विभाग अपनी रिपोर्ट इसी सभा को पेश करता है।

यद्यपि यह सभा शासन विभाग को कर लगाने अथवा उसको बढाने की आज्ञा देती है परन्तु यह कार्य इस सभा द्वारा स्वय इच्छा से नहीं किया जाता।

कर लगाने का प्रस्ताव शासन विभाग से प्राप्त होता है। इस प्रस्ताव को मानने अथवा न मानने का अधिकार तो इस सभा को है पर नये कर को लगाने का इस को कोई अधिकार नही है। इसी प्रकार कर की दर को बढ़ाने का प्रस्ताव भी शासन विभाग से ही प्राप्त होता है और उसको मजूर करने अथवा न करने का अधिकार भी इसी को है। यह सभा स्वय इच्छा से किसी कर की दर को नही बढा सकती

व्यवस्थापक सभा का नियन्त्रण दो समितियो द्वारा होता है—(१) अनुमान समिति (Estimate Committee) तथा (२) सार्वजनिक हिसाब समिति (Public Accounts Committee)। इनमें से अनुमान समिति यह देखती है कि व्यवस्थापक सभा द्वारा जो खर्च मजूर किया गया है वह मितव्ययिता से किया जाता है अथवा नही तथा सार्वजनिक हिसाब समिति यह देखती है कि सार्वजनिक व्यय उचित ढङ्ग से किया गया है अथवा नही। वास्तव में इन दोनो समितियो के कार्य एक दूसरे से टक्कर खाते हैं।

(२) शासन विभाग—

शासन विभाग का कार्य सारे राज्य के लिये एक सामान्य नीति का निर्धारित करना है। यही अर्थ सम्बन्धी सब कार्यों को करता है। यह विभाग अधिकारियो की जाच करने की शक्ति को निश्चित करता है तथा सरकारी कर्मचारियो का वेतन, छुट्टी, पेंशन आदि को निश्चित करता है।

वित्त सम्बन्धी वह सब प्रश्न जिनकी मजूरी मन्त्री मण्डल से लेनी आवश्यक है आजकल मन्त्रीमण्डल की अर्थ-समिति (Economic Committee) के पास भेजे जाते हैं। इस समिति में वित्त मन्त्री तथा पाच अन्य मन्त्री जो वित्त से सम्बन्धित होते हैं, होते हैं। हर मन्त्री अपने खर्च का प्रस्ताव इस समिति के सचिव के पास भेजता है जो इन सब की जाच पडताल करके समिति के पास मजूरी के लिए भेज देता है। जहा तक अनुमान का सम्बन्ध है इस समिति का निर्णय अन्तिम होता है।

(३) वित्त मन्त्रीमण्डल—

सार्वजनिक वित्त का नियन्त्रण केन्द्र में वित्त मन्त्री मडल द्वारा तथा राज्यो में वित्त विभाग (Finance Department) द्वारा किया जाता है। वित्त मन्त्री मडल का कार्य यह देखना है कि शासन करने वाले विभागो द्वारा जो सार्वजनिक धन खर्च किया जाता है उस में मितव्ययिता से काम लिया जाता है या नहीं। हर सरकारी कर्मचारी का यह कर्तव्य है कि वह खर्च करते समय उसी प्रकार की सावधानी से काम ले जिससे कि वह अपना निजी खर्च करता है। इस बात को देखने का काम ही वित्त मन्त्री मडल का है। इसके अतिरिक्त इस मन्त्री मडल को यह भी देखना पडता है कि राज्य के विभिन्न भाग उतना ही खर्च कर रहे है कि

नहीं जितना कि उनके लिए मंजूर हुआ है। यदि वह मंजूर किए हुए धन को वर्ष में खर्च न कर सके तो बचे हुए धन को लौटाना पड़ता है। इस धन को ठीक समय पर लौटाया गया है अथवा नहीं यह बात भी यही मंत्रीमण्डल देखता है। इस मन्त्रीमण्डल के पास खर्च करने वाले विभागों की रिपोर्ट समय समय पर आती रहती है। इन रिपोर्टों की जाँच करना तथा यदि आवश्यक हो तो कुछ सलाह देना भी इसी मन्त्री-मण्डल का काम है। वित्त-मन्त्री-मण्डल शासन के एक विभाग तथा दूसरे विभाग के खर्च में भी सामञ्जस्य स्थापित करता है। इसके पास सब विभागों की रिपोर्ट आने के कारण उसको यह पता रहता है कि किस विभाग में कोई कार्य किस मूल्य पर किया गया है। यदि एक विभाग में दूसरे की अपेक्षा अधिक खर्च कर दिया गया है तो यह विभाग उसको खर्च कम करने की सलाह देता है। इस प्रकार कम से कम दाम पर सब काम हो जाता है।

यह आवश्यक है कि वित्त विभाग का सार्वजनिक धन पर पूरा पूरा नियन्त्रण हो। हमारे देश में सार्वजनिक व्यय के ऊपर तो वित्त विभाग का काफी नियन्त्रण है परन्तु आय पर राज्यों में उसका नियन्त्रण कुछ सीमित है। राज्यों में मालगुजारी की *व्यवस्था आय विभाग (Revenue Department)* करता है और उसको मालगुजारी के लगाने, एकत्र करने, छूट देने आदि पर पूर्ण अधिकार है। वित्त विभाग का मालगुजारी पर बहुत कम नियन्त्रण है। इसी प्रकार वित्त विभाग का पानी की दर, आबकारी, मुद्रांक कर, रजिस्ट्री तथा जङ्गलात के ऊपर भी बहुत कम अधिकार है। परन्तु वित्त विभाग के पास इन सब विभागों की रिपोर्ट समय समय पर आती रहती है और आवश्यकता पड़ने पर वह इन विभागों को सलाह भी देता रहता है। परन्तु केन्द्र में केन्द्रीय आय विभाग वित्त विभाग के नियन्त्रण में ही कार्य करता है और केन्द्रीय आय विभाग के आधीन केन्द्र की अधिकतर आय है। परन्तु लोक सभा का आय पर कोई विशेष नियन्त्रण नहीं है।

वित्त विभाग को खर्च पर नियन्त्रण करने का पूर्ण अधिकार है। इस अधिकार के फलस्वरूप ही यह विभाग अपनी कुछ शक्तियों को सरकार के दूसरे विभागों को हस्तान्तर कर देता है। परन्तु इन विभागों को इस बात का अधिकार नहीं दिया जाता कि वह उस मद पर रुपया खर्च कर सकें जिनका बजट में कोई उल्लेख नहीं किया गया अथवा जिसको सैद्धान्तिक दृष्टि से उनको करने का अधिकार नहीं है।

राज्यों में वित्त विभाग का सचिव ही सारे वित्त का नियन्त्रण करता है परन्तु केन्द्र में अधिक काम होने के कारण इस कार्य को दो विभागों में बाँट दिया गया है। इन विभागों का कार्य सरकारी सचिव द्वारा होता है। इनमें से एक विभाग आय और व्यय का विभाग है और दूसरा विभाग आर्थिक कार्यों का विभाग है। आर्थिक विभाग का सम्बन्ध बजट बनाने तथा उसको देखने भालने से है।

यह मार्गोपाय अग्रिम प्रोग्राम (Ways & Means Programme) को बनाता, पूंजी व्यय के लिए धन निश्चित करता तथा देश की आर्थिक नीति को समय समय पर देखता भालता रहता है। आय और व्यय विभाग आय और व्यय पर नियन्त्रण करता है। यह नियन्त्रण वित्त विभाग के उप-सचिवों द्वारा किया जाता है जो कि विभिन्न मन्त्री मण्डलों (Ministries) के आर्थिक सलाहकारों के रूप में कार्य करते हैं। साधारणतया यह सहयोग से कार्य करते हैं परन्तु यदि इनमें आपस में मतभेद हो जाता है तो इङ्गलैंड के समान यह उप सचिव किसी मन्त्रीमण्डल की बात को नहीं टाल सकते। इस प्रकार के मतभेद दूर करने का दूसरा ढङ्ग रखा गया है।

(४) जाच विभाग—शासन विभाग जिस धन को प्राप्त करके खर्च करता है उसकी देख भाल के लिए जाच विभाग होता है। जाच विभाग का कार्य शासन विभाग से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होता है। यह विभाग शासन विभाग की गलतियों को व्यवस्थापक सभा की नजरों में लाने के लिए स्वतन्त्र है। वास्तव में यह होता भी इसी कार्य के लिए है। यदि हिसाब में कोई गलती होती है तो नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) उसको सार्वजनिक हिसाब समिति (Public Accounts Committee) की नजरों में लाता है। इस प्रकार महालेखा परीक्षक व्यवस्थापक सभा के बदले कार्य करता है।

व्यवस्थापक सभा के अतिरिक्त महा लेखा परिक्षक शासन विभाग के लिए भी कार्य करता है। शासन विभाग अपने नीचे काम करने वाले विभिन्न अधिकारियों की आर्थिक शक्ति को निश्चित करता है तथा आर्थिक कार्यों को करने, हिसाब रखने, सार्वजनिक धन को प्राप्त करने तथा खर्च करने के नियम बनाता है। यह देखने के लिए कि सरकार की सब आज्ञाओं का उचित रूप से पालन हो रहा है अथवा नहीं महा लेखा निरीक्षक ही होता है। यदि किसी विभाग के हिसाब में कोई गलती होती है तो उसको सरकार की नजरों में लाने का काम भी महालेखा निरीक्षक का ही है।

आर्थिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में साधारण बातें— आर्थिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में दो साधारण बातें होनी आवश्यक हैं— १ मितव्ययिता (Economy), २ उचित रूपता (Regularity)। मितव्ययिता का अभिप्राय यह है कि सार्वजनिक धन को इस प्रकार खर्च किया जाए जिससे कि रुपए का पूरा पूरा लाभ प्राप्त किया जा सके, अर्थात् इस धन को खर्च करते समय हर प्रकार की फिजूल खर्ची को दूर किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि सार्वजनिक धन को खर्च करने में उचित रूपता हो, अर्थात जो धन खर्च किया जाए वह उन्हीं बातों पर किया जाए जिनको व्यवस्थापक सभा द्वारा मंजूर कर दिया हो तथा हर व्यय उस

अधिकारी द्वारा मंजूर किया गया हो जिससे उस व्यय को मंजूर करने का अधिकार हो।

बजट

'बजट' शब्द का अर्थ—बजट शब्द एक फ्रांसीसी शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है चमड़े का एक छोटा सा थैला। जिस अर्थ में बजट शब्द का प्रयोग आजकल किया जाता है उसका इतिहास वालपोल (Walpole) की १७३३ ई० की आर्थिक योजना से प्रारम्भ होता है जबकि उपहास में उसको "बजट खुला" के नाम से सम्बोधित किया गया था। ऐसा कहने में वालपोल को एक मदारी के रूप में तथा उसके बजट को चालाकियों के पिटारे के रूप में रखा गया था। परन्तु आजकल थैले के ऊपर ध्यान न दिया जाकर केवल उस थैले में बन्द वस्तु के ऊपर ही ध्यान दिया जाता है और वह वस्तु होती है वह आर्थिक प्रस्ताव जो वित्त मन्त्री लोक सभा के सामने प्रति वर्ष प्रस्तुत करता है। इस प्रकार बजट किसी वर्ष में होने वाली आय तथा व्यय का विवरण होता है। भारत संविधान की धारा ११२ में लोक सभा के दोनों सदनों के सामने एक 'वार्षिक आर्थिक विवरण' (Annual Financial Statement) प्रस्तुत करने का उल्लेख है। यह विवरण बजट के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार का विवरण राज्यों में भी पेश किया जाता है।

बजट का महत्व— बजट का किसी देश के आर्थिक जीवन में बड़ा महत्व होता है। बजट शासन विभाग तथा व्यवस्थापक सभा द्वारा किए गए आर्थिक नियन्त्रण का प्रस्थान विन्दु है। यह उससे भी अधिक है। यह सुचारू वित्त का आधार है जिसके बिना कोई स्थायी सामाजिक उन्नति नहीं हो सकती। यह उन उद्देश्यों की परिभाषा करता है जिन पर सार्वजनिक धन कानूनी रूप से खर्च किया जा सकता है और उन विशिष्ट उद्देश्यों पर द्रव्य व्यय की सीमाएं निर्धारित करता है जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता।* यदि किसी देश में बजट नहीं बनाया जाता तो उसकी अर्थ व्यवस्था ग्रस्त व्यस्त हो जाती है और उसका शासन पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस बात की सत्यता संयुक्त राष्ट्र अमरीका की १९२१ ई० से पहले की स्थिति से जानी जा सकती है जबकि वहां पर कोई बजट नहीं बनाया जाता था वरन् हर एक विभाग अपना अपना वार्षिक अनुमान कांग्रेस के सामने प्रस्तुत करता था। इसमें हर एक विभाग इस बात का प्रयत्न करता था कि वह अधिक से अधिक खर्च करे। ऐसा होने से बड़ी कठिनाई होती थी। इसलिए १९२१ के पश्चात इस पद्धति को समाप्त करके बजट पद्धति को चालू किया गया। वास्तव में व्यवस्थापक

* P. K. Wattal— The A. B. C. of Indian Government Finance—P. 28

सभा शासन विभाग के कार्यों पर बजट के द्वारा ही नियन्त्रण करती है। शासन विभाग केवल उन्हीं चीजो पर तथा उन्हीं उद्देश्यो के लिए तथा उतना ही रुपया खर्च कर सकता है जितना कि व्यवस्थापक सभा द्वारा निश्चित कर दिया गया है। इस प्रकार शासन विभाग बिना सोचे समझे खर्च नही कर सकता।

वर्तमान युग में बजट के द्वारा ही सामाजिक उन्नति की जा सकती है। इसके द्वारा उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है तथा समाज मे धन वितरण की असमानता को दूर किया जा सकता है। बजट में किए गए कर के प्रस्तावो तथा बजट द्वारा उद्योग-धन्धो तथा कृषि को दी गई आर्थिक सहायता का उत्पादन पर बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त समाज मे फैली हुई धन वितरण की असमानता को बड़े बड़े अमीर लोगो पर कर लगा कर तथा इस प्रकार प्राप्त किए हुए धन को गरीब लोगो के लिए शिक्षा, चिकित्सा, मकान आदि का प्रबन्ध करके दूर किया जा सकता है।

बजट के द्वारा मुद्रा स्फीति की बुराई को भी बहुत कुछ कम किया जा सकता है। युद्ध काल में जब आवश्यकता से अधिक नोट छप जाते है तब बजट में किए गए सार्वजनिक ऋण तथा कर-प्रस्तावो द्वारा देश की अधिक क्रय-शक्ति को वापिस लिया जा सकता है।

आजकल के युग में प्राय सभी देश अपने सामने एक लोक हितकारी राज्य (Welfare State) का ध्येय रखते है। इस ध्येय की पूर्ति भी बजट द्वारा ही हो सकती है। आजकल के बजट केवल इसी बात को ही ध्यान में नही रखते कि सरकार जनता से रुपया ले कर किस प्रकार उसको लोगो की भलाई के लिए खर्च करे वरन् वह यह देखते है कि देश के वर्तमान साधन कितने है और उनको किस प्रकार इस ढङ्ग से गति प्रदान की जाए जिससे कि देश में सब लोगो को रोजगार मिल जाए तथा वह उचित मात्रा में चीजो का उपभोग कर सके। यह बात प्राप्त करने के लिए सरकार निजी पूंजी को आगे आने के लिए प्रोत्साहन देती है और जिन क्षेत्रो में यह पूंजी आगे नहीं आती वहां अपनी पूंजी लगाती है। सरकार की इस प्रकार की सब नीतियां बजट द्वारा ही लोगो के सामने आती है।

बजट के सम्बन्ध मे कुछ साधारण बातें— (१) जहा तक हो बजट सन्तुलित (Balanced) होना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर हीन बजट बनाया जा सकता है परन्तु बहुत से हीन बजट बनाने से देश की साख घटती है और देश में मुद्रा स्फीति हो जाती है। परन्तु यहा पर प्रश्न उठ सकता है कि बजट में कौन कौन से मद सम्मिलित किए जाए क्योकि आय और व्यय दो प्रकार के होते है— (१) पूंजीकृत (Capital) तथा (२) आगम (Revenue)। इन दोनो में

में बजट में केवल आगम आय और व्यय तथा ऐसा पूँजीकृत व्यय जो अनुत्पादक हो, सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार की आय और व्यय के सम्बन्ध में बजट सन्तुलित होना चाहिए। वास्तव में यदि देखा जाए तो बजट का सन्तुलन इस बात पर निर्भर होता है कि उसमें क्या क्या चीजें सम्मिलित की गई है। कई बार बजट को सन्तुलित दिखाने के लिए वित्त मन्त्री उसमें वह चीजें सम्मलित नहीं करता जो वास्तव में उसको करनी चाहियें। इसको डाल्टन आदि ने सार्वजनिक खातों की दिखावट की निपुणता कह कर पुकारा है। वैसे तो बजट का आधिक्य तथा हीनता केवल आगम आय और व्यय के सम्बन्ध में ही देखी जाती है परन्तु जहां तक हो बजट पूँजीकृत तथा आगम आय और व्यय के सम्बन्ध में ही सन्तुलित होना चाहिए।

बजट में जो आय और व्यय सम्मिलित किए जाते हैं वह वही होते हैं जिनकी उस वर्ष में जिसके लिए कि बजट बनाया गया है प्राप्त होने की आशा है। बही-खाते के समान बजट में वह आय और व्यय सम्मिलित नहीं किए जाते जो कि किसी वर्ष में होने वाले हैं वरन केवल वही आय और व्यय सम्मिलित किए जाते हैं जिनकी कि रुपये पैसे के रूप में लिए और दिए जाने की उस वर्ष में आशा है। उदाहरण के लिए यदि एक ठेकेदार का काम अगस्त १९५१ से शुरू हो कर अप्रैल १९५२ में समाप्त होने वाला है तो उस ठेकेदार का भुगतान करने के लिए १९५१—५२ के बजट में (जिसमें कि वह काम किया गया है) प्रबन्ध नहीं किया जाएगा वरन् १९५२—५३ के बजट में जिसमें कि उसको भुगतान किया जाएगा उसका प्रबन्ध होगा। इस प्रकार बजट बही खाते आधार (Book-keeping basis) पर न बनाया जाकर द्रव्य आधार (Cash basis) पर बनाया जाता है।

(२) बजट में सब प्रकार की आय और व्यय सम्मिलित होनी चाहिए। विशेष मदों के लिए अलग बजट नहीं बनाना चाहिए अथवा शासन के हर विभाग के लिए अलग बजट बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसा न करने से देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। हां बहुत से देशों में रेलवे का बजट अलग बनाया जाता है और ऐसा करने के दो कारण हैं—

(१) रेलवे नीति और रेलवे प्रबन्ध राजनीति से अलग होने चाहियें।

(२) एक बार जब रेलें एक निश्चित धन राशि सरकार को दे चुकती हैं तब उनके पास जो कुछ शेष बचता है उसको रेलों की उन्नति करने के लिए छोड़ देना चाहिए।

हमारे देश में १९२४ ई० से रेलवे बजट साधारण बजट से अलग बनाया जाता है। अभी हाल ही में दामोदर घाटी प्रमण्डल के लिए भी अलग बजट बनाया जाने लगा है। इसके लिए भारत की सचित निधि (Consolidated Fund) से धन प्राप्त होता है।

(४) बजट में सम्मिलित की गई आय और व्यय कुल (Gross) होती है। इसमें एक ओर वह सब आय दिखाई जाती है जो कि किसी वर्ष में मिलने वाली होती है। दूसरी ओर वह सब खर्च दिखाया जाता है जो कि उस आय को एकत्र करने मे होता है। हमारे देश में केवल मालगुजारी ही ऐसा मद है जो कि वास्तविक (Net) दिखाया जाता है। लम्बरदार जो मालगुजारी वसूल करता है उसमें से वह अपना भाग कम करके सरकारी खजाने में जमा करता है और राज्य सरकारें आय में इस वास्तविक आय को ही दिखाती हैं। इसी प्रकार पूँजीकृत आय को भी वास्तविक ही दिखाया जाता है। परन्तु इङ्गलैंड में ऐसा नहीं किया जाता। वहां पर वास्तविक आय दिखाई जाती है। इङ्गलैंड वाली पद्धति में लोक सभा का आय पर भी उतना ही नियन्त्रण हो जाता है जितना कि व्यय पर, परन्तु भारतवर्ष में लोक सभा का आय पर बहुत कम नियन्त्रण है। इसलिए इङ्गलैंड वाली पद्धति को भारतवर्ष में भी चालू किया जाए तो उचित होगा।

(५) बजट बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ तक हो आय और व्यय का अनुमान वास्तविकता के समीप हो। ऐसी बात सैद्धान्तिक दृष्टि से तो उचित जान पड़ती है परन्तु व्यवहार में इसका पालन करना बड़ा कठिन है। वह अफसर जो आय और व्यय का अनुमान लगाते है उनका साधारणतया यह प्रयत्न रहता है कि वह आय को कम और व्यय को अधिक दिखायें। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में तो आय का ठीक अनुमान लगा लेना बड़ा कठिन काम है क्योंकि यहां पर बजट मार्च के महीने में बन कर तैयार हो जाता है और वर्षा का मौसम उसके पीछे आता है। इसलिए इस बजट में मानसून की स्थिति को ध्यान में रख कर आय और व्यय निश्चित नहीं किए जा सकते। इसके अतिरिक्त हमारे देश में ठीक आंकड़े न मिलने के कारण आय और व्यय का ठीक अनुमान लगाना कठिन है। यही कारण है कि यहां पर वास्तविक आय और बजट आय में बहुत अन्तर रहता है। उदाहरण के लिए १९५३-५४ के केन्द्रीय बजट मे ९४ लाख रुपये का आधिक्य दिखाया गया था परन्तु जब आय और व्यय को दोहराया गया तो लगभग २६ करोड़ रुपये का घाटा निकला। यह इसी वर्ष नहीं इससे पूर्व के वर्षों में भी यह बात हो चुकी है। बजट का ठीक अनुमान दो बातों के कारण आवश्यक है। पहली, व्यवस्थापक सभा यह देखना चाहती है कि कर-दाता से आवश्यकता से अधिक कर न लिया जाये। दूसरी, वित्त विभाग यह चाहता है कि कोई भी शासन विभाग अपनी आवश्यकता से अधिक धन न ले क्योंकि ऐसा होने पर दूसरे विभागों को कम धन मिलेगा और इससे देश को हानि होगी।

(६) बजट केवल एक वर्ष के लिए ही बनाया जाता है। परन्तु संयुक्त राष्ट्र अमरीका के कुछ राज्यों में दो वर्ष के बजट भी बनायें जाते हैं।

(७) बजट में जो रुपया मन्जूर किया जाता है वह केवल एक वर्ष के लिए ही होता है। वर्ष के समाप्त होते ही उस रुपए को खर्च करने का अधिकार भी समाप्त हो जाता है इसको समाप्ति का नियम (Rule of lapse) कहते हैं। इस नियम के कारण वर्ष के अन्त में प्राय सभी सरकारी दफ्तरों में खर्च करने की दौड़ धूप लगी रहती है ताकि बजट में मन्जूर किया हुआ धन समाप्त न हो जाये।

(८) यह आवश्यक है कि बजट अनुमान उसी ढङ्ग से लगाया जाये जिस ढङ्ग से कि राष्ट्रीय हिसाब रखा जाता है। इससे देश के एक राज्य के अनुमान का दूसरे राज्य के अनुमान से मुकाबला किया जा सकेगा। ऐसा मुकाबला हो जाने से आर्थिक नियन्त्रण सरल हो जाता है हमारे देश में केन्द्र और राज्यों में बजट बनाने का एक सा ही ढङ्ग अपनाया गया है।

बजट का तैयार करना

बजट तैयार करने में तीन बातें सामने आती हैं—

(१) बजट कौन तैयार करता है ?

(२) बजट कब तैयार किया जाता है ?

(३) बजट कैसे तैयार किया जाता है ?

(१) **बजट कौन तैयार करता है ?**—प्राय सभी देशों में बजट शासन विभाग द्वारा तैयार किया जाता है। इसका कारण यह है कि यह विभाग ही धन को प्राप्त करता है और यही उसको खर्च करता है। इसलिए यह विभाग यह जानता है कि किस मद से कितनी और प्राय प्राप्त हो सकती है और किस मद पर कितना और धन खर्च करना उचित होगा। इसीलिए सभी देशों में बजट तैयार करने का कार्य शासन विभाग पर छोड़ दिया गया है।

(२) **बजट कब तैयार किया जाता ?**—हमारे देश के विस्तृत होने के कारण बजट तैयार करने के लिए कोई समय तो निश्चित नहीं किया गया है परन्तु प्राय सभी स्थानों पर बजट तैयार करने का कार्य सितम्बर मास में आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार हमारे देश में बजट कार्यान्वित होने से ६ से लेकर १८ मास पूर्व बनाया जाता है। इतनी पहले हर बात का ठीक अनुमान लगा लेना बड़ा कठिन है। इसी कारण भारत के एक वित्त मन्त्री ने कहा था कि भारतीय बजट 'मानसून में जुआ' (Gamble in Monsoon) है। भारत के एक वित्त आयोग ने यह सुझाव दिया था कि बजट का समय पहली अप्रैल से बदल कर पहली नवम्बर अथवा पहली जनवरी कर देना चाहिए।

(३) बजट कैसे तैयार किया जाता है ?—हमारा देश एक प्रजातन्त्र देश है। इसमें राज्यों को स्वशासन का अधिकार मिला हुआ है। इसलिए हमारे देश में हर राज्य अपना अपना बजट बनाता है और एक बजट केन्द्र द्वारा बनाया जाता है। बजट की तैयारी कई भागों में बांटी जा सकती है —

(१) स्थानीय अफसरों द्वारा अनुमान का लगाया जाना तथा इन अनुमानों का उच्च कार्यालय द्वारा एकत्र करना।

(२) अनुमानों की छान बीन करना।

(३) बजट का बनाना तथा लोक सभा में पेश करना।

(१) स्थानीय अफसर अपने अपने हिसाब को अपने प्रधान कार्यालयों में उसको दो भागों में बांट कर भेजते हैं —

पहले भाग में वर्तमान साधनों से प्राप्त आय तथा वर्तमान में होने वाले व्यय को दिखाया जाता है।

दूसरे भाग में नई नई योजनाओं पर होने वाले व्यय तथा यदि किसी वर्तमान आय के साधन को छोड़ना हो तो उसका वर्णन होता है।

पहले भाग में आय और व्यय अलग अलग दिखाए जाते हैं। इनको अर्थ विभाग से प्राप्त हुए फार्मों पर दिखाया जाता है। इन फार्मों में साधारणतया निम्न लिखित खाने होते हैं :—

(i) पिछले वर्ष की वास्तविक आय व व्यय,

(ii) चालू वर्ष में मंजूर आय व व्यय के अनुमान,

(iii) चालू वर्ष के दोहराये हुए आय व व्यय के अनुमान,

(iv) आने वाले वर्ष के बजट के अनुमान,

(v) चालू वर्ष तथा पिछले वर्ष की वास्तविक आय व व्यय जो बजट के समय तक मालूम हो जाती है।

इनमें से दूसरे खाने के अतिरिक्त सब खाने स्थानीय अफसरों द्वारा भरे जाते हैं। इन सब खानों में तीसरा और चौथा खाना मुख्य है। इनमें से प्रथम तीसरे खाने के आंकड़े एकत्र किये जाते हैं और उसके आधार पर चौथे खाने के अनुमानिक आंकड़े तैयार किये जाते है। यहां यह बात बताने योग्य है कि बजट के अनुमानों को बड़ी सावधानी से तैयार करना चाहिए, जिससे कि आने वाले वर्ष में अनुमान, वास्तविकता से बहुत दूर न जा पड़ें। हर वर्ष की परिस्थिति समान नहीं होती। इसलिए बजट के अनुमान पिछले वर्ष के वास्तविक आंकड़ों में कुछ जोड़ अथवा घटा कर प्राप्त नहीं हो सकते बरन् उनको भविष्य में होने वाली बातों को ध्यान में रख कर तैयार करना चाहिए।

नई नई योजनाओं पर होने वाले खर्च का विवरण दूसरे भाग में होता है। इस भाग में यह भी दिखाया जाता है कि इन योजनाओं पर कितना धन अधिक खर्च होने की आशा है तथा वर्तमान आय के साधनों को छोडने से कितनी आय की हानि होने की आशा है।

स्थानीय अफसर इन सूचनाओं को अपने अपने विभाग के सर्वोच्च अफसरों के पास भेजते है। सर्वोच्च अफसर सब जिलों से प्राप्त आय व व्यय के अनुमानों को जोड कर अपने विभाग की कुल आय व व्यय का अनुमान लगा लेते हैं। यदि आवश्यकता हो तो वह उस में कुछ परिवर्तन भी कर देते हैं। इसके पश्चात सर्वोच्च अफसर अपने अपने अनुमानों को सितम्बर से ले कर नवम्बर के महीने तक प्रबन्ध तथा अर्थ विभागों को भेजते है।

(२) प्रबन्ध विभाग सब विभागों से प्राप्त अनुमानों का निरीक्षण करके इन को अर्थ विभाग के पास अपनी टिप्पणियों सहित भेज देता है। इसके पश्चात अर्थ-विभाग प्रबन्ध विभाग के अनुमानों का निरीक्षण करता है। यदि प्रबन्ध विभाग के तथा अर्थ विभाग में किसी बात पर मतभेद होता है तो इस की सूचना सरकार को अन्तिम निर्णय के लिये दी जाती है। आय और व्यय के अनुमानों के अतिरिक्त इस बात का भी अनुमान लगाया जाता है कि किसी योजना को कार्यान्वित करने के लिए कितने ऋण की आवश्यकता होगी।

(३) इसके पश्चात अर्थ-विभाग बजट तैयार करता है। बजट में नये करों का लगाना तथा बचे हुए धन का खर्च करना तथा इसी प्रकार की दूसरी बातों का निर्णय सरकार द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के निर्णय के पश्चात विधान सभा में प्रस्तुत करने के लिये बजट बनाया जाता है। हमारे देश में राज्यों तथा केन्द्र में बजट इसी रीति से बनाया जाता है।

बजट का पास होना—बजट के तैयार हो जाने पर इसको फरवरी के अन्त अथवा मार्च के आरम्भ में विधान सभा अथवा लोक सभा के दोनों सदनों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। जिस समय बजट पेश किया जाता है उस समय बड़ी भीड होती है। दर्शक लोग मुँह बाये वित्त मन्त्री की ओर देखते हैं और इसके बजट के भाषण को सुनने के लिये उत्सुक रहते हैं। वित्त मन्त्री पहले पिछले दस, ग्यारह महीनों का हिसाब पेश करता है। इसके पश्चात बचे हुए एक या दो मास की आय व व्यय का विवरण देता है और अन्त में आने वाले वर्ष के अनुमानों को प्रस्तुत करता है। यदि पिछले वर्ष तथा आने वाले वर्ष के आंकडों में अधिक अन्तर रह जाता है तो वह उसका कारण देता है। इसके अतिरिक्त वह नये नये करों तथा पूँजी व्ययों का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। वित्त मन्त्री के बजट भाषण की एक प्रति सदन के प्रत्येक सदस्य को दी जाती है। जिस दिन बजट प्रस्तुत किया जाता है उस दिन उस पर

कोई बहस नही की जाती। परन्तु उस के पश्चात् कुछ समय बजट पर बहस के लिए निश्चित किया जाता है। बजट पर पहले तो साधारण बहस होती है। इसके पश्चात अनुदान की मांगों पर राय ली जाती है। यहां यह बात बताने योग्य है कि सदन को सब प्रकार के खर्चों पर राय देने का अधिकार नही है। विधान की धारा ११३ के अनुसार कुछ खर्चें ऐसे भी होते हैं जिन पर सदस्य अपनी राय नही दे सकते।* बजट पर दो या तीन रोज तक साधारण बहस होती है इस बहस के बीच कोई प्रस्ताव नही रखा जा सकता और न ही बजट पर राय ली जा सकती है। परन्तु साधारण बहस से यह लाभ हो जाता है कि सदस्य उस खर्चे पर भी बहस कर सकते हैं जिस पर उन को राय देने का अधिकार नही होता। इससे यह भी लाभ होता है कि सरकार को यह पता चल जाता है कि सदस्यों का बजट के प्रति कैसा रवैया है। इसके पश्चात अनुदान की मांग पर राय ली जाती है। अनुदान की मांग वही मन्त्री प्रस्तुत करता है जिसका उससे सम्बन्ध होता है। प्रत्येक अनुदान की मांग पर बहस करने के लिए एक समय निश्चित किया जाता है। यदि उस समय के बीच बहस पूरी नही होती तो अध्यक्ष उस पर बहस बन्द कर देने की आज्ञा देता है। इस प्रकार बहुत से मद ऐसे होते हैं जो कि बिना बहस किए ही पास करने पडते हैं। इस प्रकार समय निश्चित करने के कारण इङ्गलैंड जैसे देश में १/३ से १/२ तक का खर्च बिना बहस किए ही पास हो जाता है। भारतवर्ष में बहस के लिए ८ से १२ दिन तक दिए जाते हैं इसलिए यहां तो इससे भी अधिक खर्च बिना बहस के पास हो जाता है। भारतवर्ष में लेखानुदान (Votes on Account) पद्धति के चालू होने के कारण यह आवश्यक नही रह गया है कि बजट पर बहस वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ होने से पूर्व ही समाप्त कर दी जाये। इसी कारण बजट पर बहस के लिए अधिक दिन बढाए जा सकते हैं।

---

* इस प्रकार के खर्च वह होते हैं जो भारत की सञ्चित निधि (Consolidated Fund of India) में से किए जाते हैं। इस प्रकार के खर्चे निम्नलिखित हैं :—

(अ) राष्ट्रपति का वेतन, उसके भत्ते तथा उसके दफ्तर से सम्बन्धित दूसरे खर्चे ;

(आ) राज्य परिषद के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का वेतन तथा लोक सभा के स्पीकर तथा उप स्पीकर का वेतन ;

(इ) ब्याज जो भारत सरकार को देना है ;

(ई) सर्वोच्च, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का वेतन आदि ;

(उ) कम्प्ट्रोलर तथा आडीटर जनरल का वेतन भत्ते तथा पेन्शन ;

(ऊ) किसी मुकदमे से सम्बन्धित खर्च ;

(ए) अतिरिक्त खर्च जो विधान अथवा राष्ट्रपति द्वारा ऐसा घोषित कर दिया गया हो।

केन्द्र के समान राज्यों में भी कुछ मद ऐसे होते हैं जिन पर विधान सभा को मत देने का अधिकार नहीं होता।

किसी अनुदान की माग को कम करने के लिए सदस्यों को यह अधिकार होता है कि वह कटौती के प्रस्ताव (Cut motions) पेश कर सकें। इस प्रकार के प्रस्ताव दो उद्देश्यो से पेश किए जाते है—(१) खर्च में मितव्ययिता लाने के लिए तथा, (२) यह जानने के लिए कि किसी मद्द पर खर्च करने का जो प्रस्ताव रखा गया है वह उचित है अथवा नही। साधारणतया कटौती के प्रस्ताव इनमें से दूसरे उद्देश्य के लिए पेश किए जाते हैं। इन प्रस्तावो का उद्देश्य राजनैतिक होता है। इनके द्वारा सरकार की नीतियो की आलोचना की जाती है।

यदि वर्ष के समाप्त होने से पूर्व किसी मद्द अथवा कुछ मद्दों के लिए धन की आवश्यकता पडती है तो उसके लिए अनुपूरक माग (Supplementary demands) रखी जाती है। इन मांगों का अनुमान उसी रीति से लगाया जाता है जिससे कि बजट के अनुमान लगाये जाते हैं। अनुपूरक मांगों को भी बजट के समान ही पास कराना पडता है। अनुपूरक मागो को सदन के सदस्य अच्छी निगाह से नहीं देखते। परन्तु सरकार के सामने ऐसे अवसरो पर दो बातें रहती हैं। पहली यह कि वह अनुपूरक बजट पास करा ले और दूसरी यह कि वह बजट में ही हर मद्द के लिये उदारता से व्यय का प्रबन्ध करे। इन दोनो में से पहली बात अधिक अच्छी है क्योंकि अनुपूरक माग के पेश होने पर सदस्यो को उस पर बहस करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। परन्तु दूसरा रास्ता अपनाये जाने पर उन को ऐसा कोई अवसर नहीं मिलता।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि सरकार किसी ऐसे मद्द पर खर्च करना चाहती है जो कि किसी माग में सम्मिलित नही किया जा सकता अथवा व्यय का नया मद्द इतना आवश्यक है कि सरकार बिना उसको ससद की नजर में लाये हुए उस पर धन खर्च नही करना चाहती। ऐसे अवसरो पर सरकार एक रुपये की एक सांकेतिक माग (Token demand) पेश करती है। इसके साथ एक अलग विवरण में यह दिया रहता है कि इस माग को पूरा करने के लिए साधन कहा से लाये जायेंगे।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि वर्ष समाप्त होने पर पता चलता है कि कुछ मदो पर उससे अधिक खर्च हो गया है जो कि उसके लिए बजट में रखा गया था। यह अनुचित है। इस प्रकार के खर्च को उचित खर्च बताने के लिए अतिरिक्त अनुदान (Excess Grant) की पद्धति का निर्माण किया गया है। इस प्रकार के अतिरिक्त अनुदान विधान सभा के सामने पेश करने से पहले सार्वजनिक खाते समिति (Public Accounts Committee) के सामने पेश करने पडते हैं। इस समिति की मजूरी हो जाने पर इस प्रकार के खर्च को अगले वर्ष में पास कर दिया जाता है।

विनियोग विधेयक (Appropriation Bill)—जब बजट की मांग पर राय ले ली जाती है तब एक विनियोग विधेयक पेश किया जाता है। इस विधेयक का उद्देश्य पास की हुई मांगो को कानूनी रूप देना तथा संचित निधि (Consolidated Fund) में से धन निकालने का अधिकार देना है। यह विधेयक प्रारम्भिक मांगो, अनुपूरक मांगो आदि के लिए पेश किया जाता है। इस विधेयक के द्वारा ही पिछले वर्ष में अधिक खर्च किए गए रुपए को कानूनी रूप दिया जाता। इस विधेयक में संशोधन करने के लिए प्रस्ताव नहीं रखा जा सकता। यह इस लिए है जिससे कि लोक सभा द्वारा पास की गई मांगो में कोई बदल न की जा सके।

भारतवर्ष में जो धन करो आदि से एकत्र किया जाता है उसको सबसे पहले संचित निधि में जमा किया जाता है। इस के पश्चात इस कोष में से इस विधेयक के द्वारा ही धन निकालकर खर्च किया जाता है। यद्यपि इस विधेयक में सदस्य लोग कोई संशोधन पेश नहीं कर सकते तो भी इस का यह लाभ है कि उनको सुझाव देने का एक और अवसर मिल जाता है।

आपाती व्यय (Emergent Expenditure)—१६१६ के एक्ट के अनुसार आपाती व्यय के पास करने का अधिकार गवर्नर को था। १६३५ के विधान में इस व्यय के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं था। परन्तु नये विधान के अनुसार हमारे देश में एक आपाती कोष (Contingency Fund) है जिसमें से आवश्यकता पड़ने पर धन खर्च किया जा सकता है। इसके पश्चात व्यवस्थापक सभा से इस खर्च की स्वीकृति ली जाती है। इस प्रकार व्यवस्थापक सभा खर्च को मंजूर करती है तथा संचित निधि से धन निकालने की आज्ञा देती है।

करों पर मत लेना (Voting of Taxes)—हमारे देश के केन्द्र में सरकार के कर प्रस्ताव एक अर्थ बिल (Finance Bill) के द्वारा पेश किए जाते हैं। राज्यो में इस प्रकार के बिल पेश करने का रिवाज नहीं है। कुछ राज्यो में विभिन्न करो के लिए विभिन्न बिल पेश किए जाते हैं और कुछ में सब करो के प्रस्ताव का एक ही बिल पेश किया जाता है। इस बिल में प्रस्तावित करो को व्यवस्थापक सभा घटा तो सकती है और किसी कर को बिल्कुल समाप्त भी कर सकती है परन्तु कर को बढ़ा नहीं सकती अथवा किसी नये कर का प्रस्ताव नहीं रख सकती।

हमारे देश में अर्थ बिल तथा द्रव्य बिल (Money Bill) में कुछ भेद किया गया है। अर्थ बिल में कर और व्यय के अतिरिक्त और बातें भी सम्मिलित होती हैं परन्तु द्रव्य बिल में केवल कर और व्यय सम्बन्धी प्रस्ताव ही होते हैं।

पेश किया हुआ कोई बिल द्रव्य बिल है अथवा अर्थ बिल इस का निर्णय अध्यक्ष ही करता है। अध्यक्ष की बात को कोई चुनौती नहीं दे सकता। द्रव्य बिल के लिए अध्यक्ष के प्रमाण पत्र (certificate) की आवश्यकता होती है परन्तु अर्थ

बिल के लिये इस प्रकार के प्रमाण पत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु अर्थ बिल बिना राष्ट्र पति की सिफारिश के पेश नहीं किया जा सकता। यह दोनों बिल लोक सभा (Parliament) में ही पेश किये जा सकते हैं। अब बिल को जब लोक सभा पास करती है तो वह राज्य परिषद (Council of State) के पास भेजा जाता है। यदि राज्य परिषद उसको वैसा ही पास कर दे जैसा कि लोक सभा ने किया है तो कोई बात नहीं परन्तु यदि वह उसमें कोई संशोधन करे तो उन संशोधनों पर विचार करने के लिए बिल फिर लो सभा में आता है। लोक सभा उन संशोधनों को माने या न माने। यदि वह नहीं भी मानती तो भी बिल पास हो जाता है। इसके विपरीत अर्थ बिल पर यदि दोनों सदनों में मत भेद हो तो दोनों सदनों के सदस्यों की एक सभा बुलाई जाती है और उस सभा के बहुमत से यह बिल पास किया जाता है।

अर्थ बिल बजट के साथ ही पेश किया जाता है। इस बिल के अन्त में यह बात लिखी होती है कि जन हित में इस बिल पर १९३१ ई० के करो के अस्थायी रूप से एकत्र करने वाले एक्ट (Provisional Collection of Tax Act) के अंतर्गत कार्य करना प्रारम्भ कर दिया जाय। इस एक्ट के अनुसार अर्थ बिल में प्रस्तावित करो को एक दम लेना प्रारम्भ कर दिया जाता है। यदि लोक सभा कर को घटाती है अथवा समाप्त करती है तो कर का धन लौटा दिया जाता है। परन्तु इस प्रकार से कर केवल ६० दिन तक एकत्र किए जा सकते है। यदि ६० दिनो में अर्थ बिल पास न हो सके तो इस बिल के अन्तर्गत एकत्र किए हुए करो को लौटाना पड़ता है। इस प्रकार पास हो जाने के पश्चात् यह बिल एक्ट बन जाता है।

सार्वजनिक ऋण पर नियन्त्रण—

जिस प्रकार कि करो के ऊपर व्यवस्थापक सभा का नियन्त्रण होता है उसी प्रकार जब सरकार को सार्वजनिक ऋण लेना होता है तब उस को लोक सभा से इसकी अनुमति लेनी पड़ती है। लोक सभा (केन्द्र में) तथा विधान सभा (राज्यों में) यह निश्चित करती है कि ऋण किस काम के लिए लिया जाये तथा किस शर्त पर लिया जाये।

भारतवर्ष में सार्वजनिक ऋण तथा करो की स्थिति में अन्तर है। यहा पर करों को लगाने तथा एकत्र करने की आज्ञा लोक सभा से लेनी पड़ती है परन्तु सार्वजनिक ऋण भारतवर्ष की संचित निधि को धरोहर पर उस सीमा तक लिया जा सकता है जो कि समय समय पर लोक सभा द्वारा निश्चित की जाएगी। भारत सरकार राज्य सरकारों को उस सीमा तक भी ऋण दे सकती है अथवा उनके ऋण की गारण्टी कर सकती है जो कि लोक सभा द्वारा पास किए गए किसी कानून में निश्चित की जायेगी।

नियन्त्रण कुछ बढ़ जायेगा। भविष्य में ऐसी आशा है कि केंद्रीय सरकार प्रति वर्ष हीन बजट बनायेगी। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि संसद यह निश्चित करे कि सरकार किस सीमा तक ऋण ले सकती है क्योंकि यह बात अभी तक निश्चित नहीं की गई है।

देश की वर्तमान स्थिति में यह बात भी आवश्यक है कि बजट अनुमान जहाँ तक हों सही हों जिससे कि प्रति वर्ष की वास्तविक बजट हीनता दिखाई जा सके। इसके साथ साथ संसद को इस बात की भी तसल्ली होनी चाहिए कि सार्वजनिक खाते में अधिक धन आ रहा है जिससे कि संसद को पता चल जाये कि ऋण केवल आवश्यक बातों के लिये ही लिया जा रहा है।

कुछ लोगों का यह सुझाव है कि संसद को अपने परम्परागत कार्यों के अतिरिक्त कुछ नये कार्य भी करने चाहियें इसके अतिरिक्त खर्च में मितव्ययिता तथा समता लाने की बड़ी आवश्यकता होती है। मितव्ययिता देश की निर्धनता के कारण और समता योजना के भार को सब स्थानों पर समान रूप से फैलाने के लिए आवश्यक है।

द्वितीय खण्ड

भारतीय राजस्व

अध्याय १

केन्द्रीय राजस्व

(Central Finance)

किसी देश के राजस्व का प्रभाव उस देश के उद्योग, वाणिज्य, व्यवसाय, कृषि आदि पर बड़ा गहरा पड़ता है। यदि किसी देश में अच्छी राजस्व व्यवस्था है तो वह देश हर दृष्टि से उन्नति करेगा और यदि राजस्व व्यवस्था अच्छी नहीं है तो देश की सब प्रकार की उन्नति रुक जायगी।

भारतीय राजस्व पर प्रभाव डालने वाली बातें—

भारतीय राजस्व पर निम्नलिखित बातों का प्रभाव पड़ता है—

(१) जनता की कृषि पर निर्भरता—१९५१ की जन गणना के अनुसार हमारे देश में ६९.८% लोग खेती पर लगे हुए हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि सार्वजनिक कोष में कृषि ही अन्य व्यवसायों की अपेक्षा अधिक धन प्रदान करेगी और कृषि की स्थिति पर ही सार्वजनिक कोष में धन की कमी या अधिकता होगी। हमारे देश की कृषि मानसून पर निर्भर है। इसीलिए भारतीय बजट की स्थिति मानसून की स्थिति पर निर्भर होती है। यदि किसी वर्ष वर्षा अच्छी हो जाती है तो उस वर्ष व्यापार उद्योग धन्धे आदि खूब उन्नत हो जाते हैं। इससे सरकार की कर आय बढ़ती है तथा रेलों की आय भी बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि किसी वर्ष वर्षा नहीं होती तो व्यापार तथा उद्योगों की अवस्था खराब हो जाती है। रेलों की आय घट जाती है लगान में छूट करनी पड़ती है और अनाज का प्रबन्ध करने में बहुत सा धन खर्च करना पड़ता है। इस प्रकार आय तो घट जाती है परन्तु व्यय बढ़ जाता है। यही

कारण है कि भारतीय बजट को 'मानसून में जुआ' (Gamble in Monsoons) कहा गया है।

(२) जनता की निर्धनता—हमारे देश के लोगो की निर्धनता सर्व-विख्यात है। हमारे देश की प्रति व्यक्ति आय ससार के कुछ देशो को छोडकर कदाचित् सबसे कम है। १९४९ ई० के सयुक्त राष्ट्र सघ के अनुमान के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति आय ५७ डालर थी जबकि उसी वर्ष में यह आय सयुक्त राष्ट्र अमरीका में १४५३ डालर, इङ्गलैण्ड में ७७३ डालर, कनाडा में ८७० डालर, न्यूज़ीलैण्ड में ८५६ डालर थी। इन आकडो से हम भारत के लोगो की निर्धनता का कुछ अनुमान लगा सकते है। इस निर्धनता का प्रभाव राज्य की आय पर भी पडना स्वाभाविक है। भारतीय वाणिज्य मण्डल के एक अनुमान के अनुसार भारत में १९३८–३९ ई० मे २,८१,३०१ करदाता थे। इनकी सख्या बढकर १९४८–४९ में ४,६१,०७९ हो गई। इनमें से वह कर दाता जिनकी आय एक लाख से अधिक थी १९३८–३९ में ४३६ थे और १९४६–४७ में २,५८८ थे। देश के विभाजन के पश्चात् उनकी सख्या केवल २,४५२ रह गई। इन आकडो से हम यह अनुमान लगा सकते है कि भारतीय अर्थ कोष को आय-कर से कितनी कम आय प्राप्त होती है। आय की कमी के कारण सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा तथा जनता के हित के अन्य कार्यों पर बहुत कम धन खर्च हो पाता है।

(३) धन का असमान वितरण—भारतवर्ष में धन का वितरण समान नही है। यहा पर एक ओर तो करोडपति है और दूसरी ओर ऐसे लोग है जिनको दो समय भर पेट भोजन भी प्राप्त नही होता। धन के इस असमान वितरण के कारण कर आय अधिकतर बडी बडी आयो वाले व्यक्तियो से प्राप्त होती है। उक्त-कथित वाणिज्य मडल ने भारतीय कर-दाताओ को निम्नलिखित श्रेणियो में विभाजित किया है— श्रेणी १—५००० रु० तक की आय, श्रेणी २–५००० रु० से १०,००० रु० तक की आय, श्रेणी ३—१० ००० रु० से १५ ००० रु० तक की आय, श्रेणी ४–१५ ००० रु० से २५,००० रु० तक की आय, श्रेणी ५—२५,००० रु० से ५० ००० रु० तक की आय, श्रेणी ६—५०,००० रु० से १,००,००० रु० तक की आय, श्रेणी ७—१,००,००० अथवा उससे ऊपर की आय। इन में से पहली दूसरी, तीसरी तथा चौथी श्रेणियो के लोग १९३८–३९ में क्रमश १८७ १७ २, ११ १ तथा १४ ९ प्रतिशत कर सरकार को देते थे। परन्तु १९४८–४९ में इन श्रेणियो का अशदान घट कर क्रमश ३'४, ६'५, ६ २ तथा ९'७ प्रतिशत रह गया। इसके विपरीत, पाचवी, छठी तथा सातवी श्रेणियो के लोग, जो १९३८–३९ में कुल कर का क्रमश १५ १, ९'१ तथा १३ ९ प्रतिशत अशदान देते थे उनका अशदान बढ कर क्रमश १६'४, १५'७ तथा ४२'१ प्रतिशत होगया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १९४८-४९ में वह लोग जिनकी आय २५,००० रु० अथवा उससे अधिक थी कुल कर आय का लगभग ७५ प्रतिशत अंशदान देते थे।

(४) ग्रामों की अधिकता—भारतवर्ष में लगभग ८१ प्रतिशत लोग ग्रामो में रहते है। इन लोगो की आय बहुत कम होती है। भारत सरकार के अर्थ-उपदेष्टा के अनुसार १९४६-४७ में ग्रामो में प्रति व्यक्ति आय ४०१ रुपये थी। परन्तु नगरो में यह आय ११२१ रुपये थी। यही कारण है कि ग्रामो के लोग सरकारी कोष को बहुत कम अंशदान देते है।

केन्द्रीय शासन परिपाटी—भारतवर्ष सदा से केन्द्रीय शासन-पद्धति का अनुगामी रहा है। यहा सदा से ही राज्य के ऊपर यह भार रहा है कि वह रक्षा न्याय तथा जन हित कार्यो पर धन खर्च करे। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय की वृद्धि की हमारे देश में बड़ी आवश्यकता है।

एकक तथा संघानीय शासन पद्धति (Unitary and Federal System of Government)—

किसी देश में या तो एक शक्ति के हाथ में शासन सत्ता होती है या कई शक्तियो के हाथ मे शासन की बागडोर होती है। पहली अवस्था में शासन-पद्धति को एकक-शासन पद्धति (Unitary System of Government) कहा जायेगा और दूसरी स्थिति में शासन पद्धति को संघानीय शासन पद्धति (Federal System of Government) कहा जायेगा। एकक शासन पद्धति का अभिप्राय यह नही है कि किसी एक स्थान पर बैठकर कोई शासक कुछ अफसरो की सहायता से राज्य का काम चलाता रहता है। एकक-शासन पद्धति में राज्य को कुछ प्रान्तो में बाटा जा सकता है जैसे अकबर ने अपने राज्य को कई प्रान्तो में बाटा था। परन्तु प्रान्तीय शासक हर मामले में अकबर के आधीन थे। वह बादशाह की आज्ञा बिना कोई काम नही कर सकते थे। इस प्रकार शासन की सर्वोच्च शक्ति (Supreme Power) बादशाह में निहित थी। इसके विपरीत, संघानीय-शासन में राज्य को जितने भागो में बाटा जाता है उन सब को कुछ विषयो के अतिरिक्त शेष विषयो मे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है जैसे हमारे देश मे केन्द्रीय सरकार सारे देश की रक्षा, रेल, यातायात, मुद्रा व टकसाल आदि के लिए जिम्मेदार है। इन विषयो में प्रान्तीय शासन केन्द्र के आधीन है। परन्तु शेष विषयो मे प्रान्त पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। वह कर लगा सकते है, राज्य में लाभार्थ कोई उद्योग चला सकते हैं, कर की दर बढ़ा या घटा सकते है आदि और इस प्रकार प्राप्त आय को इच्छानुसार खर्च कर सकते हैं। केन्द्रीय शासन उनको

इन सब विषयों पर कुछ भी नहीं कह सकता। हमारे देश में १९३७ ई० में सघानीय शासन के लागू होने से पूर्व प्रान्तों को कर लगाने का कोई अधिकार न था। वह किसी बड़े अधिकारी की नियुक्ति नहीं कर सकते थे। वह कोई बड़ी योजना अपने हाथ में नहीं ले सकते थे। इस प्रकार प्रान्तों को हर विषय में केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता था। इस प्रकार उस समय हमारे देश में एकक शासन पद्धति थी और आजकल सघानीय शासन पद्धति है।

एकक शासन पद्धति तथा सघानीय शासन पद्धति दोनों में एक से ही राजस्व के सिद्धांत लागू होते हैं। दोनों प्रकार की शासन पद्धतियों में राजस्व का प्रबन्ध करने में मितव्ययिता तथा नियमितता की आवश्यकता है। परन्तु सघानीय शासन की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो एकक शासन पद्धति में नहीं पाई जाती। सघानीय शासन में आर्थिक साधनों को केन्द्रीय शासन तथा प्रान्तीय शासन तथा स्थानीय शासन में बांट दिया जाता है। इसके साथ ही साथ हर प्रकार के शासन को काम भी बाट दिया जाता है। केन्द्र के हाथ में वह विषय होते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं जैसे देश की रक्षा, विदेशी व्यापार, रेल यातायात, डाक खाने तथा तार घर, मुद्रा व टकसाल आदि। इन सब विषयों को यदि प्रान्तीय शासनों को दे दिया जाए तो देश में बड़ी अव्यवस्था होने की आशङ्का रहती है। इसलिए यह सब विषय केन्द्रीय शासन अपने हाथ में रखता है। परन्तु देश की आन्तरिक शान्ति को कायम रखने तथा सामाजिक जीवन को उन्नत करने से सम्बन्धित विषयों को प्रान्तीय शासनों को दिया जाता है। इस प्रकार प्रान्तीय शासनों को पुलिस, जेल, शिक्षा, सड़क, स्वास्थ्य, कृषि, उद्योग आदि दिए जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो विषय बचते हैं उनको कहीं तो केन्द्रीय शासन अपने हाथ में ले लेता है और कहीं वह प्रान्तीय शासन को दिये जाते हैं।

सघानीय शासन के सिद्धांत—सघानीय शासन में आर्थिक साधनों तथा कार्यों का बटवारा बड़े विचार के पश्चात किया जाता है। ऐसा करते समय यह देखा जाता है कि किस कार्य को कौन ठीक प्रकार से कर सकता है तथा किस साधन को कौन उचित रीति से विदोहन कर सकता है। परन्तु इस प्रकार कार्य और साधनों का बटवारा करने पर भी साधारणतया यह देखा जाता है कि केन्द्र अथवा प्रान्तों के पास अपना कार्य सुचारू रूप से सचालन करने के लिए साधनों की कमी रह जाती है। इस कमी को पूरा करने के लिए केन्द्र अथवा प्रान्त एक दूसरे को सहायक अनुदान (Grant-in aid) देते हैं। यद्यपि इस प्रकार की सहायता देना सैद्धान्तिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उचित नहीं है परन्तु इसको आर्थिक दृष्टि से करना पड़ता है। सघानीय शासन निम्नलिखित सिद्धांतो पर आधारित होता है।

(१) एकरूपता (Uniformity)— सघानीय शासन का पहला सिद्धांत यह है कि सघान की प्रत्येक इकाई केन्द्र को किसी एक ऐसे विषय के लिए जो सब

इकाईयों के लिए समान महत्व रखता हो एक सा ही अंशदान दें। परन्तु व्यवहार में ऐसा होना सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि संघ की प्रत्येक इकाई के पास समान आर्थिक साधन नहीं होते और न ही उनका समान व्यय ही होता है। यदि हमारे देश में कोई यह आशा करे कि उड़ीसा अथवा आसाम को बम्बई अथवा मद्रास के बराबर अन्शदान दे तो यह अनुचित होगा क्योंकि पहले तो आसाम तथा उड़ीसा के साधन बम्बई तथा मद्रास से बहुत कम है और दूसरे आसाम व उड़ीसा बम्बई और मद्रास की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए है इसलिये उनको उन्नत करने के लिये बहुत धन की आवश्यकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यद्यपि एकरूपता का सिद्धांत सैद्धान्तिक दृष्टि से तो ठीक है परन्तु व्यवहार में उसका पालन करना कठिन है।

(२) स्वतन्त्रता (Independence)— संघात्मक शासन का दूसरा सिद्धान्त यह है कि संघ की प्रत्येक इकाई को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाए अर्थात् प्रत्येक इकाई के पास अपना कार्य चलाने के लिए पर्याप्त साधन हो, उनको कर लगाने तथा ऋण लेने का अधिकार हो तथा उनको अपनी इच्छानुसार खर्च करने का भी अधिकार हो। इस प्रकार यह आवश्यक है कि संघ की एक इकाई दूसरी पर निर्भर न हो। परन्तु यद्यपि संघात्मक शासन प्रत्येक इकाई को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान करता है परन्तु फिर भी केन्द्र अपने पास अधिक साधन रख लेता है जिस के कारण प्रान्तों के पास साधनों की कमी हो जाती है और समय समय पर केन्द्र प्रान्तों को आर्थिक सहायता प्रदान करता रहता है।

(३) पर्याप्तता (Adequacy)— संघात्मक शासन का तीसरा सिद्धान्त यह है कि संघ की प्रत्येक इकाई के पास अपना कार्य चलाने के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन हों। साधनों की पर्याप्तता केवल वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् साधन भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी आवश्यक है। व्यवहार में प्रान्तों के पास व्यय के ऐसे मद होते है जिन पर भविष्य में व्यय बढ़ता जाता है परन्तु उनके साधन ऐसे होते है जिनसे आय आवश्यकतानुसार नहीं बढ़ाई जा सकती। इसके विपरीत केन्द्र के पास व्यय के ऐसे मद होते हैं जिन पर शान्ति काल में तो साधारणतया समान व्यय होता है परन्तु संकट के समय उन पर खर्च बहुत बढ़ जाता है। इसके विपरीत उसके पास आय के साधन ऐसे होते हैं जिनसे प्राप्त आय को आवश्यकतानुसार बढ़ाया या घटाया जा सकता है। यही कारण है कि प्रान्तों को अपना कार्य चलाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है परन्तु केन्द्र के सामने साधारणतया इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं आती। यही कारण है कि हमारे देश में प्रान्त इस बात की मांग करते रहते हैं कि उनको बढ़ने तथा घटने वाले आय के साधन दिए जाएं। इसी

लिए यह आवश्यक है कि सघान में इस बात का प्रबन्ध भी किया जाये कि यदि आवश्यकता पड़े तो साधनों का फिर से बटवारा किया जा सके।

(४) उचित प्रबन्ध (Administrative Expediency)—सघानीय शासन का चौथा सिद्धांत यह है कि आर्थिक साधनों का बटवारा करते समय साधारण कर दाताओं का हित सामने रखा जाये। जहां तक हो सके कर इस ढङ्ग से लगाने चाहिए जिससे व्यापार तथा उद्योगों पर उनका कम से कम प्रभाव पड़े। करों का भार सघान की सब इकाईयों पर एक सा पड़ना चाहिए। ऐसा न होने पर उन प्रांतों में तो व्यापार तथा उद्योगों की उन्नति हो जायेगी जिनमें कर भार कम होगा और उनमें इनकी उन्नति न हो सकेगी जहां कर भार अधिक होगा। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि सघान की जो इकाई कर लगाये वही उसको खर्च करे। ऐसा न होने पर खर्च करने वाली इकाई को खर्च करने में मितव्ययिता का कोई ध्यान नहीं रहता। भारतवर्ष में केन्द्र आय-कर तथा जूट निर्यात-कर लगाता तथा एकत्र करता है और उसका कुछ भाग प्रान्तों में बांट देता है। परन्तु यद्यपि यह सैद्धान्तिक तथा राजनीतिक दृष्टि से गलत है तो भी इसको आर्थिक दृष्टि से किया जाता है।

भारतवर्ष में संघानीय अर्थ व्यवस्था का विकास (Growth of Federal Finance in India)—अब हम यह बतायेंगे कि हमारे देश में सघानीय शासन पद्धति का विकास कैसे हुआ? ऐसा करने में हम अपने वर्णन को उस समय से प्रारम्भ करेंगे जब से कि ईस्ट इंडिया कम्पनी को बङ्गाल की दीवानी मिली। यह दीवानी १७६५ ई० में मिली थी। उस समय मालगुजारी राजकीय आय का सबसे प्रमुख साधन था। मालगुजारी जमींदारों द्वारा एकत्र की जाती थी और वही उसको सरकारी खजाने में जमा कर देते थे। परन्तु आय अनिश्चित थी। इसमें निश्चितता लाने के लिये लार्ड कार्नवालिस ने बङ्गाल में भूमि का स्थायी बन्दोबस्त किया जो आज तक पाया जाता है। यह कार्य १७९३ ई० में किया गया था। जमींदारों को कुल मालगुजारी का $\frac{10}{11}$ भाग सरकारी खजाने में जमा करना पड़ता था। शेष $\frac{1}{11}$ भाग जमींदारों के परिश्रम के प्रतिफल के रूप में उनके पास रह जाता था। उस समय आय के दूसरे साधन नमक कर, सीमा कर (Customs) तथा आन्तरिक आवागमन कर थे। परन्तु इन सब साधनों से प्राप्त हुई आय बहुत कम थी। इस प्रकार मालगुजारी ही उस समय आय का एक मात्र साधन था। परन्तु आवश्यकता को देखते हुए कम्पनी की आय बहुत कम थी। इसका कारण यह था कि कम्पनी उस समय बहुतसी लड़ाइयां लड़ने में व्यस्त थी। इसके अतिरिक्त कम्पनी के नौकरों को अपनी जेबें भरने की ही लगी हुई थी। इस लिए जब कम्पनी ने इङ्गलैंड की सरकार से ऋण मांगा तो उसने ऋण इस शर्त पर देना स्वीकार किया कि वह कम्पनी के हिसाब पर पूरी पूरी दृष्टि रखेगी। इसलिए १८३३ ई० में चार्टर एक्ट पास किया गया। इसके अनुसार बङ्गाल

के गवर्नर को भारत का गवर्नर जनरल बनाया गया और उसको सारे भारत के लिये कानून बनाने तथा उस में संशोधन करने तथा उसको हटाने की आज्ञा दी गई। बम्बई और मद्रास के गवर्नर बङ्गाल के गवर्नर जनरल के आधीन काम करते थे। १८३३ ई० से पहले मद्रास और बम्बई के गवर्नर आर्थिक मामला म पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थे। वह अपने अपने क्षेत्रों में स्वयं कर लगाते थे तथा लोगो को शान्ति और न्याय प्रदान करने का प्रयत्न करते थे। परन्तु १८३३ के एक्ट के पश्चात सब आय भारत सरकार के नाम से एकत्र तथा खर्च होने लगी। यही नही, वरन् जो ऋण मद्रास तथा बम्बई प्रान्तो ने स्वय लिए थे वह भी भारत सरकार के ऋण हो गए। इस प्रकार उस समय इतना केन्द्रीकरण हो गया था कि किसी प्रान्त को कानून बनाने का अधिकार नही था न ही प्रान्तो के पास आय के साधन ही थे और न ही वह किसी नौकर को रख सकते थे। इस प्रकार भारत सरकार को प्रान्तों की एक एक बात में हस्तक्षेप करने का अधिकार था।

इस पद्धति के दोष—इस पद्धति के निम्नलिखित दोष थे —

१— इस प्रकार के हस्तक्षेप के कारण प्रान्तो के गवर्नर बहुत असन्तुष्ट रहते थे।

२— प्रान्तो को केवल खर्च ही करना पड़ता था। इसलिए वह निसकोच खूब खर्च करते थे। वह बजट बना कर भारत सरकार के पास भेज देते थे और बजट के लिए आवश्यक धन भारत सरकार एकत्र करती थी।

३— उस समय के कर प्रतिगामी (Regressive) होते थे। उनका भार गरीबो पर अधिक पड़ता था। अमीर लोगो पर कर नही लगते थे। इससे खेती की स्थिति खराब होती चली गई और उसके साथ साथ भारत सरकार की आर्थिक कठिनाइयां भी बढने लगी। १८३३ और १८५८ के बीच भारत सरकार को ग्यारह बार हीन बजट बनाने पड़े।

४— इस पद्धति के कारण प्रान्तो में ईर्षा बढ़ गई क्योंकि अधिक धन उस प्रान्त को नही मिलता था जिसको उसकी आवश्यकता थी वरन् उसको मिलता था जो सबसे अधिक धन के लिए माग करता था।

विकेन्द्रीकरण की ओर पग (Steps towards Decentralization)—

पहला पग (१८६०—१८७०)— १८५७ ई० की क्रान्ति के पश्चात देश का शासन अंग्रेजी सरकार के हाथ में आ गया। उस समय कुछ लोगो ने एकक शासन पद्धति के अवगुणो को बताते हुए कहा कि देश की आर्थिक व्यवस्था में प्रांतो को भी साझीदार बनाना चाहिए जिससे कि वह ध्यान पूर्वक तथा मितव्ययिता से खर्च करें। उनका यह भी कहना था कि ऐसा होने पर आय भी बढ़ जाएगी क्योंकि प्रांत

आय के नए नए साधन खोजने का प्रयत्न करेंगे। उनका यह भी कहना था कि सथानीय शासन के द्वारा सब प्रान्तों के साथ समता का व्यवहार हो सकेगा। इस समता के कारण प्रान्तों की आपस की ईर्षा समाप्त हो जाएगी। इस विचार धारा के समर्थक सर हेनरी मेन तथा सर विलियम मैन्सफील्ड काउन्सिल के सदस्य तथा मैंसे वित्त मन्त्री थे। मैंसे का कहना था कि जेल, शिक्षा चिकित्सा तथा सडकें प्रांतो को सौंप देनी चाहिए। इन सब मद्दो पर व्यय करने के लिए कानून और न्याय से प्राप्त सारी आय मालगुजारी का $\frac{1}{18}$ भाग तथा प्रान्तों से एकत्र किए हुए अनुज्ञा-कर (License Tax) का $\frac{1}{2}$ भाग प्रान्तो को दे देना चाहिए।

परन्तु मद्रास और बम्बई के राज्यपालों के विरोध के कारण शासन का विकेन्द्रीकरण न हो सका। उन्होंने कहा सथानीय शासन लागू करने में यह कठिनाई उपस्थित होगी कि केन्द्र और प्रान्तों में आय और व्यय का बटवारा उचित प्रकार से न हो सकेगा। ऐसा करने में यह निश्चित करना भी कठिन हो जाएगा कि प्रान्तों में रखी हुई सेना का व्यय कितना है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना था कि विकेन्द्री शासन के अन्तर्गत केन्द्रीय शासन को आर्थिक मामलों में प्रान्तों पर निर्भर रहना पड़ेगा। उनका कहना था कि विद्रोहियों के हाथों से देश को केवल एकक शासन पद्धति के द्वारा ही बचाया जा सकता है। इस विरोध के कारण शासन के विकेन्द्रीकरण का कार्य उस समय न हो सका।

परन्तु जब लार्ड मेयो (Mayo) भारत के वाइसराय हुए तो उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में विकेन्द्री शासन का समर्थन किया। उनका कहना था कि स्थानीय परिस्थितियों से अनभिज्ञ होने के कारण कुछ चीजों का प्रबन्ध करना केन्द्र के लिए बड़ा कठिन है। इसलिए इन चीजों को प्रान्तों को सौंप देना चाहिए। उनके सुझाव के कारण १८७१ ई० में कुछ विभागों जैसे जेल, पुलिस, शिक्षा, रजिस्ट्री, चिकित्सा, छपाई, सड़कें, जनपद इमारतें आदि को प्रान्तों को सौंप दिया गया। कुछ समय पश्चात् कुछ और विभागों जिसमें इमारतों का बनाना तथा उनकी मामूली मरम्मत, चिकित्सा सम्बन्धी सेवाएं आदि सम्मिलित है का प्रबन्ध भी प्रांतों को सौंप दिया गया। परन्तु प्रान्त किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति नहीं कर सकते थे जिनका वेतन २५० रुपए मासिक से अधिक होता था। वह किसी अफसर का वेतन भी नहीं बढ़ा सकते थे। इन मद्दो पर खर्च करने के लिए प्रान्तों को उनको हस्तान्तरित किए गए विभागों से प्राप्त आय सौंप दी गई तथा इसके अतिरिक्त उनको ४, ६८, ८७, ११० रुपए वार्षिक की ग्रान्ट भी दी गई। यह ग्रान्ट प्रान्तों को उनकी आवश्यकतानुसार देने का निश्चय किया गया। यदि इससे भी व्यय पूरा न होता था तो प्रान्तों को नए कर लगा कर आय प्राप्त करनी पड़ती थी।

इस योजना के कारण सरकारी खजाने को दस लाख पौंड का लाभ हुआ तथा प्रान्तो ने धन को देख भाल कर खर्च किया तथा उनको इस बात का संतोष भी प्राप्त हुआ कि वह थोड़े से विषयो में तो केन्द्र से स्वतन्त्र हैं।

परन्तु इस योजना के कुछ दोष भी थे। पहला दोष यह था कि प्रान्तो में ग्राण्ट को बाटने का ढङ्ग संतोष जनक नही था। इसका दूसरा दोष यह भी था कि प्रान्तो को मितव्ययिता करने में प्रोत्साहन देने के लिए कोई चीज न थी। यदि प्रान्तो के पास वर्ष के समाप्त होने पर कुछ धन बच जाता था तो उनको उस धन को भारत सरकार को लौटाना पड़ता था।

दूसरा पग (१८७७—८२)—यद्यपि लार्ड मेयो की योजना से केन्द्र और प्रान्तो के सम्बन्ध कुछ सुधर गए परन्तु एक निश्चित ग्राण्ट के कारण प्रान्तो को अपने बढ़ते हुए व्यय को पूरा करना कठिन हो गया। ग्राण्ट पद्धति की इस योजना की कमजोरी की ओर उस समय के वित्त मन्त्री,सर जान स्ट्रैंचे (Sir John Strachey) का ध्यान आकर्षित हुआ। इसलिए उन्होंने एक योजना रखी जिससे कि कुछ विभागो जैसे सामान्य प्रबन्ध कानून और न्याय तथा कुछ दूसरे छोटे छोटे विभागो की आय प्रान्तो को मिले। परन्तु सरकार ने इस योजना को न माना।

१८७७ ई० में जब लार्ड लिटन भारत के वाइसराय हुए तब उन्होने सर जान स्ट्रैंचे की सहायता से विकेन्द्रीकरण की ओर एक नया पग उठाया। उन्होने कुछ और मद जिनमें उत्पादन कर, स्टाम्प, कानून और न्याय, सामान्य प्रबन्ध आदि थे, प्रान्तो को सौंप दिए। इसके साथ साथ कुछ मद्दो की आय भी प्रान्तो को सौंप दी गई। इन मद्दो में उत्पादक कर, स्टाम्प, कानून और न्याय सम्मिलित थे। परन्तु यह मद इस शर्त पर हस्तान्तरित किए गए थे कि प्रान्तो के नियन्त्रण के कारण इन मद्दो की आय में जो वृद्धि होगी उसका आधा भाग उनको भारत सरकार को देना पड़ेगा। परन्तु आय के इन मद्दो के मिलने पर भी प्रान्तो का व्यय पूरा नही हो सकता था। इस लिए सरकार ने प्रान्तो को ग्राण्ट देना भी स्वीकार किया। इस प्रकार प्रान्तों को तीन साधनो से आय प्राप्त होती थी— १ १८७१ ई० में प्रान्तो को हस्तान्तरित विभागो की आय, २ नई योजना के अन्तर्गत प्रान्तो को हस्तान्तरित सेवाओ की आय तथा ३ केन्द्रीय सरकार से सहायता।

प्रान्तों पर पाबन्दियाँ—१८७७ ई० के एक प्रस्ताव के अनुसार प्रान्तीय सरकारो पर निम्नलिखित पाबन्दियाँ लागू की गईं—

१—वे नए कर नही लगा सकती थीं और न वर्तमान करो के प्रबन्ध में कोई परिवर्तन कर सकती थी।

२—प्रान्तीय सरकारें कोई नया कार्य उस समय तक नही कर सकती थीं जब तक कि उसको करने के लिए उनके पास पर्याप्त धन नही होता था।

३—वे २५० रुपए मासिक से अधिक वेतन पाने वाले लोगो को नौकरी से नही हटा सकती थी और न ही उस नौकरी के स्थान को समाप्त कर सकती थी।

४—सार्वजनिक हिसाब के रूप में वे कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थीं।

प्रान्तीय सरकारो को सरकारी खजाने में एक न्यूनतम धन राशि रखनी पड़ती थी। अपने खाते में जमा धन से अधिक वे खजाने से नही निकाल सकती थी। वे अपनी चालू आय से अधिक खर्च नही कर सकती थीं।

१७७८ के एक दूसरे प्रस्ताव के अनुसार प्रान्तीय सरकार भारत सरकार से आज्ञा प्राप्त किए बिना बजट के आकड़ों से अधिक खर्च नहीं कर सकती थीं। परन्तु यदि उनकी आय बजट के आकड़ो से अधिक होती थी तो उनको उस अधिक आय तक खर्च करने का अधिकार था।

१८७७ ई० की योजना के दोष—*इस योजना के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों* को आय के जो मद् दिए गये थे उनसे पर्याप्त आय नही मिलती थी। प्रान्तीय सरकारो को केवल आय वाले मद्दो से ही दिलचस्पी थी।

परन्तु इस योजना से केन्द्रीय सरकार को आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभ हुआ। यह लाभ बङ्गाल तथा उत्तरी पश्चिमी प्रान्त तथा अवध के अच्छे प्रबन्ध के कारण हुआ।

तीसरा पग (१८८२-१९२१)—१८७७ ई० की योजना के दोष भारत सरकार को शीघ्र ही पता चल गए। इस कारण लार्ड रिपन (Lord Ripon) के आने पर कुछ और परिवर्तन किये गए। भविष्य में आय के मद्दो को तीन भागों में बाट दिया गया—१. पूर्ण रूप से केन्द्रीय, २ पूर्ण रूप से प्रान्तीय तथा ३ केन्द्रीय और प्रान्तीय।

[१] पूर्ण रूप से केन्द्रीय— इनमें सीमा-कर (ब्रह्मा को छोडकर), नमक-कर (ब्रह्मा को छोड कर), अफीम की आय, डाक-खाने की आय, रेलो की आय, उपहार, तार की आय, फौजी लोक-कर्म (Military Public Works), विनिमय से लाभ आदि सम्मिलित थे।

[२] पूर्ण रूप से प्रान्तीय—इनमें प्रान्तीय कर, साधारण लोक-कर्म, कानून और न्याय से प्राप्त आय, शिक्षा, पुलिस, स्टेशनरी तथा छपाई, प्रान्तीय प्रतिभूतियों का ब्याज, प्रान्तीय रेलें, चिकित्सा-आय, विविध मद्द, तथा छोटे छोटे किराए थे।

इनके अतिरिक्त कुछ प्रान्तो को कुछ और आय के विभाग भी दिए गए थे, जैसे ब्रह्मा को मछलियों की आय, उत्तरी पश्चिमी प्रान्त तथा अवध को तराई,

आदर तथा दूटी सम्पत्ति की आय, पानी की मिलों तथा पत्थर की खानों का किराया आदि, बम्बई प्रान्त को फिर से चालू की गई आवागमन की सेवा से प्राप्त आय आदि।

[३] प्रान्तीय तथा केन्द्रीय—इन में मालगुजारी, वन (बर्मा को छोड़कर), उत्पादन कर, निर्धारित कर, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन सम्मिलित थे।

इस प्रकार के प्रबन्ध के फलस्वरूप लगभग ⅔ आय जो ४२ करोड़ रुपए थी भारत सरकार के पास चली गई और ⅓ आय जो लगभग १६ करोड़ रुपए थी प्रान्तों के पास आ गई।

परन्तु इस प्रकार के उदार प्रबन्ध के किए जाने पर भी भारत सरकार ने देश की बढ़ती हुई सम्पत्ति से प्राप्त आय को लेने का अधिकार अपने अन्दर ही निहित रखा। इस कारण भारत सरकार इस बात पर आग्रह करती थी कि केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच होने वाली प्रसंविदाओं (Contracts) को समय समय पर बदला जाए। इसके अतिरिक्त प्रान्त किसी एक निश्चित सीमा से अधिक खर्च नहीं कर सकते थे। इस प्रकार प्रान्तों को कुछ समय पश्चात इस बात का ज्ञान हो गया कि यह प्रबन्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से उदार भले ही हो पर व्यवहार में वह उदार नहीं था। प्रान्तों को अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिए आवश्यक धन प्राप्त नहीं हो सकता था।

लार्ड रिपन ने जनता को स्व-शासन की शिक्षा देने के लिए नगर पालिकाओं तथा जिला बोर्डों की भी स्थापना की।

पञ्च वर्षीय प्रसंविदे—इसके पश्चात केन्द्र और प्रान्तों में हर पांचवे वर्ष नये प्रसंविदे होने की प्रथा पड़ी। हर पांचवे वर्ष प्रान्तों के हिसाब की अच्छी प्रकार जांच की जाती थी जिससे कि केन्द्रीय सरकार को आय में हुई वृद्धि का उचित अंश प्राप्त हो जावे। यह प्रसंविदे १८८६-८७, १८९१-९२, १८९६-९७, १९०४-५ आदि में बदले गए। १८८६-८७ में सरकार को रूस के आक्रमण का भय था तथा १८९१-९२ में रुपए की विनिमय दर गिर रही थी। इसलिए केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तों की मिलने वाली सब बचत को स्वयं ले लिया। परन्तु १८९६-९७ में अकाल के कारण प्रान्तों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई थी इसलिए केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तों को कुछ सहायता प्रदान की।

इन प्रसंविदों के दोष—इन प्रसंविदों से प्रान्तीय शासन बड़ा असंतुष्ट था क्योंकि इन के कारण वह अपनी आर्थिक नीतियों को अविराम चलने वाली नहीं बना सकता था। इसका कारण यह था कि उसकी सारी बचत केन्द्रीय शासन अपने लाभ के लिए ले लेता था। इसके अतिरिक्त आय का बटवारा केन्द्र और प्रान्तों के बीच ही असमान न था वरन् प्रान्तों प्रान्तों के बीच भी असमान था। इसलिए प्रान्तों में आपस में

बड़ी ईर्षा रहती थी। इन प्रसंविदों का एक यह भी दोष था कि इनके रहते हुए प्रांत मितव्ययिता की बात सोच ही नहीं सकते थे क्योंकि जब पांच वर्ष के पश्चात प्रसंविदा बदला जाता था तो पहले पांच वर्षों में किए गए खर्च को ध्यान में रख कर ही दूसरे पांच वर्षों के लिए उनको बचत का भाग दिया जाता था। इस प्रकार जो प्रान्त अधिक खर्च करता था उसको बचत का अधिक भाग मिलता था और जो कम खर्च करता था उसको कम भाग मिलता था।

इन सब दोषों के होते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि इस नये प्रबन्ध के कारण प्रान्त पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र हो गए तथा वह शासन प्रबन्ध में पहले से अधिक दिलचस्पी लेने लगे।

१६०४ ई० के पश्चात इन प्रसंविदों को आभास-स्थायी (Quasi-permanent) बना दिया गया, अर्थात इनमें तभी बदल की जाती थी जब उसकी आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त पिछड़े हुए प्रान्तों को उन्नत करने के लिए सरकार ने प्रान्तों और केन्द्र में बटने वाली आय का लगभग आधा भाग उनको देना स्वीकार किया। परन्तु १६०७ में भारत सरकार ने प्राय सभी प्रान्तों को बटे हुए मद्दों की आय का आधा भाग देना स्वीकार किया जिससे कि प्रान्तों का आपसी भेद भाव समाप्त हो जाए।

उस समय तक प्रान्तों की आर्थिक शक्ति (Financial Powers of the Provinces at that time)— १६०५ ई० तक प्रान्त भारत की कुल आय का लगभग ⅙ भाग प्राप्त करते थे। उनके अधिकार में कुछ ऐसे भी आय के मद् थे जो लचकीले थे और वह उनकी बचत अपने पास रख सकते थे।

परन्तु फिर भी भारत सरकार का प्रान्तों पर बड़ा कड़ा नियन्त्रण था। भारत सरकार प्रान्तों के बजटों को मजूर ही नहीं करती थी वरन् उनमें अपनी इच्छानुसार बदल भी कर सकती थी। प्रान्तों को यह अधिकार नहीं था कि वह कोई महत्वपूर्ण नियुक्ति कर सकें। वे २५,००० रुपये वार्षिक से अधिक स्थायी-स्थापना (Permanent establishment) नहीं बढ़ा सकते थे। प्रांतों को केन्द्र की आज्ञा बिना नए कर लगाने का अधिकार न था। मालगुजारी पर भी केन्द्र का नियन्त्रण था। वे केन्द्र की आज्ञा बिना कोई भी भूमि सम्बन्धी नियम नहीं बना सकते थे। उनको भारत या इङ्गलैंड में ऋण लेने का अधिकार भी न था। प्रान्तों को लोक-कर्मों [Public Works] पर दस लाख रुपए तक खर्च करने का अधिकार था परन्तु यदि वह ऋण के द्वारा कोई ऐसा कार्य करना चाहते थे तो उनको भारत सरकार की आज्ञा लेनी पड़ती थी और उसकी भारत सरकार द्वारा बड़ी देख भाल होती थी। इस प्रकार १६०५ ई० तक केन्द्रीय सरकार प्रान्तों पर बड़ा कड़ा नियन्त्रण रखती थी क्योंकि अंग्रेजों का विश्वास था कि भारत के लोग राज्य करने के योग्य नहीं हैं। पर यहां यह बात

बतानी आवश्यक है कि १९०५ ई० तक भारत में कांग्रेस के परिश्रम के कारण बड़ी जागृति पैदा हो गई थी।

विकेन्द्रीकरण आयोग (Decentralisation Commission)—१९०९ ई० में केन्द्र और प्रान्तों के आपसी सम्बन्धों की जानकारी के लिए एक विकेन्द्रीकरण आयोग की नियुक्ति की गई। परन्तु इस आयोग की जाच का क्षेत्र इतना सीमित था कि वह कोई महत्वपूर्ण सुझाव न दे सका। इस आयोग का सुझाव था कि प्रान्तों को निश्चित अनुदान (Fixed grants) न दिये जावें। भारत सरकार ने इस सुझाव को मान लिया और १९१२ में प्रान्तीय प्रसंविदों को स्थायी बना दिया गया। आय के साधनों के पहले के समान तीन भाग ही रहे पर केन्द्र और प्रान्तों में बटे हुए आय के मद्दों में आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन कर दिए गए। निम्नलिखित तालिका से इसका ज्ञान हो सकता है* —

आय		व्यय	
आय के मद्	प्रान्तीय अंश	व्यय के मद्	प्रान्तीय अंश
१ मालगुजारी (सिंचाई के अंश सहित)	$\frac{5}{8}$ ब्रह्मा के लिए $\frac{1}{4}$ पंजाब के लिए	१ मालगुजारी	$\frac{5}{8}$ ब्रह्मा, $\frac{1}{4}$ पंजाब
२ उत्पादक-कर	पूर्वी बङ्गाल, आसाम तथा बम्बई को सारा, तथा मध्य प्रदेश, बङ्गाल तथा संयुक्त प्रान्त को $\frac{3}{4}$	२ उत्पादक कर	आय के खाने के समान
३ पी० डब्लू० डी०	$\frac{1}{2}$	३ —	—
४ वन	सारा	४ वन	सारा
५ बड़े सिंचाई के साधन	$\frac{1}{2}$ पंजाब न्यूनतम सीमा ४ लाख	५ बड़े सिंचाई के साधन	$\frac{1}{2}$
६ बड़े और छोटे सिंचाई के साधन	$\frac{1}{2}$ बङ्गाल	६ बड़े और छोटे सिंचाई के साधन	$\frac{1}{2}$ बङ्गाल

१९१२ में किया गया प्रबन्ध १९१९ तक रहा। १९०५ और १९२० ई० के बीच भारत सरकार की आय और व्यय में बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस

* Dr B R Ambedkar's Evolution of Provincial Finance in British India P. 132

बीच में शिक्षा, खेती तथा दूसरी सामाजिक आवश्यकताओं का व्यय बढ़ रहा था। प्रथम महायुद्ध के कारण रक्षा व्यय भी बढ़ गया था। आय के पुराने मद् जिनमें मालगुजारी, अफीम तथा नमक-कर थे अपर्याप्त आय प्रदान करते थे। इस लिए सीमा-कर, आय कर, उत्पादन कर आदि से आय बढ़ाई जाने लगी।

चौथा पग (१६१६ ई० से सुधार)—प्रथम महायुद्ध के पश्चात सम्राट का ओर से यह घोषणा की गई कि वह चाहते हैं कि भारत में स्वशासित संस्थाओं की उन्नति हो तथा भारतवासी शासन की हर शाखा में अधिकाधिक भाग लें जिससे कि उनको हुकूमत की जिम्मेदारी महसूस होने लगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत मन्त्री मोन्टेगू तथा भारत के वाइसराय चेम्सफोर्ड ने भारत का भ्रमण करके एक सामूहिक रिपोर्ट (Joint Report) दी जिसमें इस बात पर बल दिया गया कि प्रान्तों को उचित रूप से अपनी जिम्मेदारियों को निबाहने देने के लिए उनको वैधानिक प्रणाली (Administrative) तथा आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करनी पड़ेगी। इसको प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होगा कि केन्द्रीय सरकार के आय के मद् प्रान्तीय सरकारों के आय के मदों से बिल्कुल अलग कर दिये जाएं। इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि पहले केन्द्रीय सरकार की आवश्यकताओं के लिए व्यय निश्चित करना चाहिए। इस व्यय को पूरा करने के लिए उसको पर्याप्त साधन दे देने चाहिए। शेष साधनों को प्रान्तों को सौंप देने चाहिऐं और उनको सब प्रान्तीय सेवाओं के लिये जिम्मेदार बनाना चाहिए। विभाजित मदों में से कुछ तो केन्द्रीय सरकार को दे दिए जाएं और कुछ प्रान्तीय सरकारों को दे दिए जाएं। इस प्रकार सुधारों के पश्चात आय के मद् या तो केन्द्रीय होंगे या प्रान्तीय।

केन्द्रीय सरकार के आय के मद्—सीमा-कर, आय-कर, नमक, अफीम, रेलें, डाक और तार आदि।

प्रांतीय सरकारों के आय के मद्— मालगुजारी [सिंचाई सहित], स्टाम्प, रजिस्ट्री, मादक-कर, वन आदि।

इस प्रकार १६१६ ई० के सुधारों के पश्चात भारत वर्ष में जिस आर्थिक पद्धति का विकास हुआ वह एकक तथा संघानीय पद्धतियों के बीच की थी। जहाँ तक आय के मदों के बटवारे का प्रश्न था यह पद्धति पूर्ण रूप से संघानीय थी क्योंकि इसमें केन्द्र और प्रान्तों के आय के मद् एक दूसरे से पूर्ण रूप से अलग थे। परन्तु हिसाब बनाने तथा उसकी जाँच करने तथा ऋण आदि लेने के मामलों में प्रान्त केन्द्र पर निर्भर थे।

इन सुधारों के फलस्वरूप केन्द्र को १३६३ करोड़ रुपये की घाटा होने की सम्भावना थी। इस घाटे को पूरा करने के लिए इस रिपोर्ट में यह सुझाव

दिया गया था कि प्रान्त अपनी सामान्य बचत (Normal Surplus) के आधार पर केन्द्र को अंश दान दें। इसके फलस्वरूप मद्रास और संयुक्त प्रान्त को क्रमश ४·२८ करोड रुपये तथा ३·७४ करोड तथा बङ्गाल और बम्बई को क्रमश ६६ लाख रुपए तथा ३८ लाख रुपये देने पड़ेंगे।

मेस्टन परिनिर्णय (Meston Award)— कुछ प्रान्तो जैसे मद्रास तथा संयुक्त प्रान्त ने इस योजना का कड़ा विरोध किया। इस कारण प्रान्तो और केन्द्र के आर्थिक सम्बन्धो की पूर्णत जाँच करने के लिए सरकार ने लार्ड मेस्टन (Lord Meston) की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की। जाँच के पश्चात यह समिति इस परिणाम पर पहुची कि सामान्य बचत के आधार पर अंश दान देने मे कुछ प्रातो, जिन्होने युद्ध काल में मितव्ययिता से काम लिया, के साथ अन्याय हो जायेगा। इसलिये इस समिति ने सुझाव दिया कि प्रान्तो को अपनी बढ़ी हुई खर्च करने की शक्ति (Increased spending powers) के अनुसार अंश दान देना चाहिये। दूसरे शब्दो में उनका कहना था कि सुधारो के फलस्वरूप प्रान्तो की जितनी आय बढेगी उसके आधार पर ही प्रान्तो को अंशदान देना चाहिये।

परन्तु मेस्टन के परिनिर्णय से भी स्थिति में कोई विशेष बदल नही हुई क्योकि अब भी मद्रास को कुल का ३५½ प्रतिशत, संयुक्त प्रान्त को २४¾ प्रतिशत देना था। इसके विपरीत बम्बई को केवल ५½ प्रतिशत तथा बङ्गाल को ६½ प्रतिशत देना था।

मेस्टन समिति ने यह स्वीकार किया कि उपर्युक्त अंशदान न्याय सङ्गत नहीं है। इसलिए भविष्य के अंशदानो के लिए उसने एक आदर्श आधार तलाश किया जो कि प्रान्तो की कर देने अथवा अंशदान देने की योग्यता पर आधारित था। कुछ संशोधन के साथ लोक सभा ने इस सुझाव को मान लिया और भविष्य के लिए निम्नलिखित प्रामाणिक अंशदान माने गये—

प्रांत	अंशदान का अनुपात
मद्रास	१७/९०
बम्बई	१३/९०
बङ्गाल	१९/९०
संयुक्त प्रान्त	१८/९०
पंजाब	९/९०
ब्रह्मा	६½/९०
मध्य प्रदेश और बरार	५/९०
आसाम	२½/९०
बिहार और उडीसा	कुछ नही

यह भी निश्चय किया गया कि जब केन्द्रीय सरकार की आर्थिक स्थिति सुधर जायेगी तो यह अंश दान समाप्त कर दिये जायेंगे।

इन सुधारों द्वारा प्रान्तों को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह अपनी आय की प्रतिभूति (security) पर भारत अथवा इङ्गलैंड से ऋण ले सकते हैं। भारत में ऋण लेने के लिये उनको गवर्नर-जनरल से तथा इङ्गलैंड से ऋण लेने के लिए भारत मन्त्री से आज्ञा लेनी आवश्यक थी। ऋण केवल उसी व्यय के लिए लिये जा सकते थे जो या तो चालू आय में से पूरा न हो सके और या उस ऋण से स्थायी जन-हित सम्पत्ति उत्पन्न होती हो। भविष्य में प्रान्तों के बजट केन्द्र से अलग बनने लगे।

यह आशा की जाती थी कि सुधारों के लागू हो जाने के पश्चात प्रान्तों तथा केन्द्रीय सरकार की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार होगा परन्तु युद्ध व्यय बढ़ने, मूल्यों के ऊंचा होने, विनिमय दर के गिरने तथा १६२० में वर्षा न होने के कारण स्थिति पहले से खराब हो गई जिसके कारण निम्नलिखित बातें हुईं—

१ हीन बजट, २ एक बहुत भारी लघु कालीन ऋण, ३ अस्थायी विनीमय दर, ४ मुद्रा संकट।

इचकेप सीमित (Inchcape Committee) यह सब बातें प्रान्तों और केन्द्र दोनों में हुईं। इन सब बातों के कारण भारतवर्ष की साख विदेशों में बहुत गिर गई और उसको विदेशों से अधिक ब्याज पर ऋण लेना पड़ा। सरकार ने नये कर लगाकर परिस्थिति का सामना करना चाहा परन्तु वह ऐसा करने में सफल न हो सकी। इसलिए सरकार ने इचकेप (Inchcape) समिति की नियुक्ति की जिसने केन्द्रीय सरकार के व्यय में १६ २५ करोड़ रुपये घटाने की तथा रक्षा व्यय को ५०½ करोड़ रुपये पर लाने की सिफारिश की। परन्तु जब इन बातों से भी स्थिति में कोई बदल न हुई तब सरकार ने नमक-कर को दुगना कर दिया जिससे कि हीन बजट बचत वाले बजट में बदल गया।

इचकेप समिति के अतिरिक्त इस काल में और भी कई आयोग और समितियां नियुक्त की गई जिनमें एकवर्थ समिति, भारतीय प्रशुल्क मण्डल (Indian Tariff Board), भारतीय कर जाच समिति, हिल्टन यङ्ग आयोग आदि मुख्य हैं। इन सब समितियों तथा आयोगों का उद्देश्य भारत की आर्थिक स्थिति में सुधार करना था।

१६२३ ई० के पश्चात केन्द्रीय सरकार की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ क्योंकि वर्षा के कारण फसलें अच्छी हो गई तथा यूरोप से भारतीय वस्तुओं की मांग बढ़ जाने के कारण हमारा व्यापार-आधिक्य हमारे पक्ष में हो गया। उस

समय केन्द्रीय सरकार को यह प्रतीत हुआ कि मेस्टन परिनिर्णय के अन्तर्गत प्रान्तों को जो अंशदान केन्द्र को देना पड़ता है वह न्याय सङ्गत नहीं है, इसलिए वह उसको उस समय तक वापस करती रही जब तक कि सारा प्रान्तीय अंशदान समाप्त न हो गया। इसके अतिरिक्त प्रान्तों की ऋण लेने की शक्ति को भी बढ़ा दिया गया। इसके फलस्वरूप प्रान्तों ने सार्वजनिक ऋण लेना आरम्भ किया परन्तु प्रान्तों को यह ऋण उससे ऊंची दर पर मिला जिस पर कि यह केन्द्रीय सरकार से लेते थे। इस लिए प्रांतों ने केन्द्रीय सरकार से ही ऋण लेना आरम्भ किया। प्रान्तीय सरकारों द्वारा लिये गए ऋण को सुव्यवस्थित करने के लिए एक प्रान्तीयऋण कोष (Provincal Loans Fund) चालू किया गया जिसमें से कि उनको कम ब्याज पर ऋण मिल जाता था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने यह भी घोषणा की कि यदि कोई प्रान्त किसी वर्ष में केन्द्र से अपने धन से अधिक लेगा तो उसको उस वर्ष के अन्त तक उस पर कोई ब्याज न देना पड़ेगा पर वर्ष बीतने के पश्चात उससे ब्याज अवश्य लिया जाएगा।

मेस्टन परिनिर्णय के विरुद्ध प्रान्तों की शिकायतें—प्रान्तीय अंशदान के समाप्त कर देने पर भी प्रान्तों को मेस्टन परिनिर्णय से शिकायत बनी रही। शिकायत करने वाले प्रांतों में से बंगाल और बम्बई मुख्य थे। इन प्रान्तों का कहना था कि यद्यपि केन्द्रीय सरकार का व्यय प्राय प्रति वर्ष समान ही रहता है परन्तु इस के अधिकार में आय के ऐसे मद् हैं जिन से आय घटती बढ़ती रहती है। इसके विपरीत यद्यपि प्रान्तों का व्यय आए वर्ष बढ़ता रहता है क्योंकि उनके पास राष्ट्रीय विकास सम्बन्धी मद् है परन्तु उनके आय के मद् मालगुजारी तथा मद्य-कर आदि हैं जिनकी आय प्रति वर्ष प्राय समान ही रहती है। आय बढ़ने की बात तो दूर रही इनमें से मद्य-कर से तो आय घटने की सम्भावना है क्योंकि लोगों की माग है कि मद्य निषेध किया जाए। जङ्गलों से तब आय प्राप्त हो सकती है जब कि उन पर पहले पर्याप्त पूंजी खर्च की जाये। इस प्रकार प्रान्तों के पास आय के जो मद् हैं उन से आय बढ़ाने की सम्भावना बहुत कम है परन्तु उन का व्यय आये दिन शिक्षा, सड़कों चिकित्सा, अकाल आदि पर बढ़ता रहता है।

प्रान्तों की यह भी शिकायत थी कि एक प्रान्त और दूसरे प्रान्त में आय की दृष्टि से विषमता पाई जाती है। यह विषमता कई बातों के कारण है जैसे सब प्रांतों का समान आर्थिक विकास नहीं हुआ है, उनके आय के मद् भिन्न भिन्न हैं तथा प्रान्तीय अंशदान की समाप्ति पर कुछ प्रान्तों को दूसरों से अधिक लाभ हुआ है।

बङ्गाल और बम्बई प्रान्तों का यह भी कहना था कि केन्द्रीय सरकार उन के क्षेत्र से संयुक्त प्रान्त तथा मद्रास की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त करती है परन्तु उनको कोई विशेष सहायता नहीं करती।

व्यापारिक मंदी का प्रभाव—व्यापारिक मंदी के कारण केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कृषि-वस्तुओं का मूल्य निरन्तर गिर रहा था जिसके कारण व्यापार तथा उद्योगों की बड़ी बुरी हालत हो गई थी। इसके कारण रेलों की आय घट रही थी तथा आय-कर की आय भी बहुत कम हो रही थी। जन-साधारण की क्रय शक्ति कम हो जाने के कारण तथा गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के कारण विदेशी माल का आयात तथा निर्यात भी कम हो रहा था। इसलिए सीमा-कर की आय भी बहुत घट रही थी। इन सब बातों के कारण केन्द्रीय सरकार यदि हीन बजट बना रही हो तो कोई आश्चर्य की बात न थी। सरकार ने मितव्ययिता के प्राय सभी सम्भव साधनों को अपनाया परन्तु फिर भी स्थिति में कोई विशेष सुधार न हुआ।

प्रांतों की हालत तो केन्द्रीय से भी खराब हो गई। उनकी मद्य, उत्पादक-कर रजिस्ट्री तथा स्टाम्प की आय बहुत घट गई। इसके अतिरिक्त उनको मालगुजारी में भी छूट करनी पड़ी। भूचाल तथा बाढ़ आ जाने के कारण उनको बहुतसा धन भी खर्च करना पड़ा। इस प्रकार उनकी आय बहुत घट गई थी और व्यय बहुत बढ़ गया था। प्रांतों ने इस स्थिति का सामना करने के लिए बहुत से मितव्ययिता के साधन अपनाये तथा अपनी आय को बढ़ाने का प्रयत्न किया और अन्त में वह स्थिति पर काबू पाने में सफल हो गए।

इस बीच में केन्द्रीय सरकार ने प्रांतों की कई प्रकार से सहायता की जैसे उसने १९३४–३५ में जूट उगाने वाले प्रान्तों को जूट-कर का आधा भाग दे दिया। उसने बिहार के काल पीड़ितों की भी बहुत सहायता की। उसने पिछड़े हुए प्रान्तों को १९३५–३६ में सहकारी आन्दोलन की उन्नति करने, सड़कें बनाने आदि के लिए भी सहायता की।

पांचवा पग—(१९३५ का विधान तथा स्वतन्त्र भारत का नया विधान)

१९३५ ई० के विधान के अनुसार आय के स्रोतों को तीन श्रेणियों में बाटा गया है—(अ) संघीय, (ब) समामी (Concurrent) तथा (स) प्रांतीय।

(अ) संघीय स्रोत—इसमें निम्नलिखित सम्मिलित हैं —

(१) *आयात और निर्यात कर,* (२) *औषधियों तथा कुछ अन्य नशीले* पदार्थों को छोड़ कर भारत में तैयार किये जाने वाले माल पर उत्पादन-कर, (३) कारपोरेशन कर, (४) नमक कर, (५) कृषि को छोड़ कर अन्य आय पर कर, (६) कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पत्ति कर, (७) उत्तराधिकार-कर (कृषि भूमि को छोड़ कर) (८) तमाम व्यापारिक आज्ञा पत्रों पर स्टाम्प कर, (९) वायु तथा रेल मार्ग द्वारा भेजे जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमा-कर, (१०) मुद्रा तथा सिक्के बनाने पर होने वाली आय, (११) डाक, तार,

टेलीफोन, बे तार का तार, ब्राडकास्टिङ्ग, (१२) रेलें, (१३) समुद्र-तटीय जहाजों की आय, (१४) हवाई जहाजों से प्राप्त आय, (१५) अफीम, (१६) तम्बाकू कर आदि।

(घ) सगामी—इन में निम्नलिखित स्रोत सम्मिलित हैं —

(१) कृषि भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकारी कर (२) चैक, बिल आदि पर मुद्राक कर (३) मुसाफिरों तथा माल पर सीमा कर (४) भाड़े तथा महसूल पर लगाये हुए कर।

उपर्युक्त कर संघ द्वारा लगाये तथा एकत्र किए जाते थे परन्तु प्रान्तों को इन में से कुछ भाग मिलता था।

इनके अतिरिक्त (१) आय-कर (कृषि आय-कर को छोड़ कर), (२) प्रांतीय सूची में अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं को छोड़कर अन्य वस्तुओं पर उत्पत्ति कर, (३) निर्यात कर, जट का निर्यात-कर आदि से होने वाली आय का संघ तथा प्रांतों में विभाजन हो जाता था किंतु संघ-सरकार को यह अधिकार था कि वह यदि उस की आर्थिक स्थिति अच्छी न हो प्रांतों को कोई हिस्सा न दे।

(ख) प्रांतीय—निम्नलिखित मद प्रांतीय सरकारों के हाथ में थे —

(१) शांति और न्याय, (२) पुलिस (३) प्रान्तों का सार्वजनिक ऋण, (४) प्रान्तीय पेंशनें, (५) चिकित्सा, (६) शिक्षा (७) सड़क पुल अथवा छोटी छोटी रेलें, (८) सिंचाई, (९) कृषि, उसकी शिक्षा तथा अनुसंधान, (१०) वन, (११) खानें तथा तेल के क्षेत्र, (१२) प्रान्तीय व्यापार (१३) उद्योगों की उन्नति (१४) भाग, चरस, सुलफा आदि मादक वस्तुएं (१५) जूआ, (१६) मालगुजारी -उसका लगाना तथा एकत्र करना, (१७) कृषि आय पर कर, (१८) भूमि तथा इमारतों पर कर, (१९) कृषि-भूमि का उत्तराधिकारी कर (२०) खनिज पदार्थों के अधिकार पर कर, (२१) पशुओं तथा नावों पर कर, (२२) बिक्री तथा विज्ञापन कर, (२३) विलासिता, तथा मनोरंजन कर, (२४) प्रान्तीय स्टाम्प आदि।

१९३५ ई० के विधान के द्वारा केन्द्र तथा प्रान्तों को सार्वजनिक ऋण लेने का अधिकार पहले से भी अधिक दिया गया था परन्तु संघीय सरकार की आज्ञा बिना प्रान्तीय सरकारें भारतवर्ष से बाहर सार्वजनिक ऋण नहीं ले सकती थी। भारत मन्त्री को अब भारत के आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था। परन्तु कुछ ऐसी चीजें थी जिन पर विधान सभा को अपनी राय देने का अधिकार न था जैसे गवर्नर-जनरल, उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों आदि का वेतन। परन्तु इस विधान में गवर्नरों तथा गवर्नर-जनरल को बहुत अधिक अधिकार दिए गए थे। इन अधिकारों के कारण वह आय और व्यय के किसी भी मद पर आपत्ति करके उसको नामन्जूर कर सकता था।

ओटो नीमियर रिपोर्ट (Otto Niemeyer Report)—१९३५ ई० के विधान की धाराओं १३८ (१) और (२), १४०, (२) तथा १४२ के अन्तर्गत सरकार के लिए यह आवश्यक था कि एक विशारद समिति (Expert Committee) नियुक्त की जाये जो कि यह सुझाव दे कि आय-कर (कृषि-कर के अतिरिक्त), जूट निर्यात-कर का बटवारा केन्द्र और प्रान्तो में किस प्रकार किया जाये तथा प्रांतों को और किस प्रकार की सहायता दी जाये। भारत मन्त्री ने सर ओटो नीमियर को इस कार्य के लिए नियुक्त किया। सर ओटो नीमियर भारत में १९३६ ई० की जनवरी में आये और तीन मास तक अच्छी प्रकार छान बीन करके एक रिपोर्ट पेश की।

रिपोर्ट—अपनी रिपोर्ट में सर ओटो नीमियर ने दो बातो को अपने सामने रखा। पहली, भारत सरकार की आर्थिक स्थिति और साख पर कोई आघात न पहुचे। दूसरी, प्रांतो को ऐसी आर्थिक सहायता दी जाये जिससे कि प्रान्तीय स्व शासन की स्थापना के समय उनके पास पर्याप्त साधन रहें। सर ओटो नीमियर ने सबसे पहले यह महसूस किया कि केन्द्रीय सरकार का व्यय कम होने की कोई आशा नहीं है। इस लिए केन्द्रीय सरकार प्रांतो को कोई बडी अर्थ-सहायता नही दे सकती और न ही इस प्रकार की अर्थ सहायता कुछ प्रान्तो के लिए आवश्यक ही है। हाँ कुछ प्रांतो की आर्थिक स्थिति अवश्य ही खराब होने की आशंका है, इस लिए उनको कुछ सहायता देनी आवश्यक है जिससे कि उनको अपना कार्य सचालन करने में कोई कठिनाई उपस्थित न हो। कुछ नए निर्माण किए हुए तथा कुछ पुराने निर्धन प्रान्तो को इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता पडेगी। इस बात को ध्यान में रख कर उन्हों ने दो प्रकार की सहायता देने का सुझाव दिया—(१) प्रारम्भिक तथा (२) अन्तिम। प्रारम्भिक सहायता मद्रास, बम्बई तथा पजाब प्रान्तों को छोड कर शेष सभी प्रान्तों को दी गई। फिर भी मद्रास को कुछ सहायता इसलिये दी गई क्योंकि उसमें से कुछ उड़िया-भाषा बोलने वाला भाग अलग कर दिया गया था और बम्बई को इसलिये सहायता दी गई थी क्योंकि उसमें से सिंध अलग कर दिया गया था। इस प्रकार बङ्गाल को ७५ लाख, बिहार को २५ लाख, मध्य प्रदेश को १५ लाख, आसाम को ४५ लाख, उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त को ११० लाख, उडीसा को ५० लाख, सिंध को १०५ लाख तथा सयुक्त प्रांत को २५ लाख (पाच वर्षों तक) रुपये वार्षिक दिए गये। सिंध के अलग होने के कारण बम्बई को २० लाख रुपये वार्षिक तथा उडीसा के अलग हो जाने के कारण मद्रास को २० लाख और बिहार को ८ लाख रुपये वार्षिक दिए गए। इसके अतिरिक्त उडीसा तथा सिंध को क्रमशः १९ लाख तथा ५ लाख रुपये की अनावर्ती सहायता (Non-recurring grant) दी गई।

प्रांतो की सहायता करने के उन्हों ने निम्नलिखित तीन ढङ्ग बताये :—

(१) प्रांतों द्वारा केन्द्र से लिये गये ऋण को समाप्त करके—उन्हो ने

सुझाव दिया कि बङ्गाल, बिहार, आसाम, उड़ीसा तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त का अप्रैल १६३६ के पहले का सब ऋण समाप्त कर दिया जाये। मध्य प्रदेश का १६३६ ई० के पूर्व का तथा १६२१ ई० के पूर्व का दो करोड़ रुपये का ऋण समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार ऋण को समाप्त करने पर प्रांतों को निम्नलिखित वार्षिक बचत होगी —

प्रान्त	वार्षिक बचत
बङ्गाल	३३ लाख
बिहार	२२ ,,
आसाम	१४½ ,,
उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त	१२ ,,
उड़ीसा	६½ ,,
मध्य प्रदेश	१५ ,,

जूट निर्यात-कर को बांट कर—जूट पैदा करने वाले प्रान्तों को पहले ही जूट निर्यात कर का ५० प्रतिशत भाग मिल रहा था। ओटो नीमियर ने सुझाव दिया कि उनको ६२½ प्रतिशत दिया जाये। परन्तु इस सम्बन्ध में उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी कि यह सहायता जूट उत्पन्न करने वाले प्रान्तों को इसलिए नहीं दी जा रही है कि इस पर इन प्रान्तों का कोई विशेष प्राकृतिक अधिकार है वरन् इस लिए दी जा रही है कि उनको सहायता की आवश्यकता है।

(३) **अर्थ-सहायता दे कर**—इन दोनों प्रकार की सहायता के अतिरिक्त उन्होंने कुछ वार्षिक सहायता देने का भी सुझाव दिया। इस प्रकार संयुक्त प्रांत को (पांच वर्ष तक) २५ लाख, आसाम को ३० लाख, उड़ीसा को ४० लाख, उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रांत को १०० लाख तथा सिंध को १०५ लाख रुपये (जो १० वर्ष पश्चात् धीरे धीरे कम कर दिये जायेंगे) देने का सुझाव दिया गया।

अन्तिम सहायता—सर ओटो नीमियर का सबसे महत्व पूर्ण सुझाव आय-कर वितरण सम्बन्धी था। उनके सुझाव के अनुसार आय-कर का ५० प्रतिशत भाग प्रांतों को मिलना था। परन्तु आय-कर में कारपोरेशन कर सम्मिलित न था। इस सुझाव के देते समय ओटो नीमियर ने केन्द्र को प्रान्तों का आय कर का सारा अथवा आंशिक भाग पांच वर्ष तक उस स्थिति में अपने पास रखने का अधिकार दिया जब तक कि केन्द्र का आय-कर का भाग तथा रेलों द्वारा केन्द्र को दिया गया लाभ मिला कर १३ करोड़ रुपये न हो जाये। उसके आगे पांच वर्षों में केन्द्र प्रान्तों का अपने पास रखा हुआ आय-कर का भाग धीरे धीरे लौटायेगा। इस प्रकार प्रांतीय स्व शासन के ११ वें वर्ष में प्रांतों को अपने आय-कर का पूरा भाग मिल सकेगा।

प्रांतों में आयकर बाँटने के लिए ओटो नीमियर ने इस बात को ध्यान में रखा कि किसी प्रांत से कितना आय-कर एकत्र किया जाता है तथा किस प्रांत की कितनी जनसंख्या है। इस प्रकार उसने हर प्रान्त को निम्नलिखित ढङ्ग से आय-कर बाटने का सुझाव दिया।

मद्रास १५ प्रतिशत, बम्बई २० प्रतिशत, बङ्गाल २० प्रतिशत, संयुक्त प्रांत १५ प्रतिशत पंजाब ८ प्रतिशत, बिहार १० प्रतिशत, मध्य प्रदेश ५ प्रतिशत, आसाम २ प्रतिशत, उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त १ प्रतिशत, उड़ीसा २ प्रतिशत तथा सिंध २ प्रतिशत।

इन सब सुझावों को सरकार ने मान लिया।

ओटो नीमियर रिपोर्ट पर एक दृष्टि

ओटो नीमियर परिनिर्णय से कोई भी प्रान्त सन्तुष्ट नहीं हुआ और सबने अपनी शिकायत भारत मन्त्री के पास लिख कर भेजी। बम्बई प्रांत का कहना था कि लगभग २५ प्रतिशत आय-कर बम्बई से ही एकत्र किया जाता है। इसलिए उसको आय के स्रोत के आधार पर आय-कर में से भाग मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त बम्बई प्रान्त का यह भी कहना था कि जब बङ्गाल को जूट निर्यात कर से लाभ पहुंचाया जाता है तो फिर उसको कपास-कर से लाभ क्यों नहीं पहुंचाया जाता। मद्रास प्रांत का कहना था कि आय-कर के विभाजन का आधार जन-संख्या होना चाहिए और इस आधार पर उसको २४ प्रतिशत भाग मिलना चाहिए। बिहार का भी यही मत था कि आय-कर का बटवारा जन-संख्या के आधार पर होना चाहिए। यह इसलिए अधिक आय-कर का भाग चाहता था क्योंकि वह सबसे अधिक निर्धन था। संयुक्त प्रांत का कहना था कि बम्बई तथा बङ्गाल को आय-कर का एक बड़ा भाग दिया जाता है और उसको भी अधिक भाग मिलना चाहिए। इस प्रकार प्रायः हर प्रान्त ने किसी न किसी आधार पर अधिक भाग मांगने का प्रयत्न किया। और क्योंकि ओटो नीमियर परिनिर्णय से सब असन्तुष्ट थे इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह सब के लिए ठीक था।

यह बात सत्य है कि प्रान्तों को राष्ट्र-विकास सम्बन्धी मदों को सौंपने के कारण आय-कर का अधिक भाग मिलना चाहिए। यह भी कहा जा सकता है कि यह शर्त लगाना कि प्रान्तों को उनके आय-कर का भाग रेलों की आर्थिक स्थिति सुधरने पर मिलेगा अनुचित है। यह बात भी सच है कि ओटो नीमियर ने आय-कर का कम भाग प्रान्तों में बांटने की सलाह दी थी। परन्तु इन सब बातों के विपरीत यह

भी कहा जा सकता है कि यद्यपि केन्द्रीय सरकार का व्यय प्राय स्थायी रहता है तो भी उस को देश की रक्षा करने, देश मे शान्ति स्थापित करने, भारत की विदेशो में साख बढाने आदि के लिए अधिक धन की आवश्यकता है।

अर्थ साहाय्य के कारण प्रान्तो का द्वेष बहुत बढ गया। यह सहायता प्रान्तो की आवश्यकता के आधार पर दी गई थी। इसके फल स्वरूप जो प्रान्त धनी, मितव्ययी तथा सतर्क थे उनको कम सहायता मिली और जो प्रान्त फिजूल खर्च थे उनको अधिक सहायता मिली। अर्थ-साहाय्य प्रान्तो को कुछ वर्षों तक मिलने वाली थी। परन्तु उस समय तक प्रान्तो की स्थायी रूप से उन्नति करने की कोई आशा नही थी। इस परि-निर्णय में यह नही बताया गया था कि अर्थ-साहाय्य के न मिलने पर प्रान्तो की आर्थिक स्थिति सुधारने का कौन सा ढङ्ग है।

एक आलोचक का यह भी कहना था कि प्रान्तो को आय-कर का भाग मिलने की आशा एक शैक्षिक (Academic) आशा है। यह भाग उनको दस वर्ष के पश्चात मिलेगा। उस समय तक प्रान्त अपनी आर्थिक स्थिति का परिस्थिति के अनुसार समायोजन करलेंगे।

परन्तु इन सब आलोचनाओ के होते हुए भी यह कहना उचित ही होगा कि ओटो नीमियर का कार्य बडा कठिन था। वह सब प्रान्तो को अपने निर्णय से कैसे सन्तुष्ट कर सकते थे। इसके अतिरिक्त उन का प्रातो को अर्थ साहाय्य उनकी आवश्यकताओ के अनुसार देना उचित ही था क्योकि उस समय यह बात देखने की नही थी कि किस प्रात ने भूतकाल में किस प्रकार की नीति से काम लिया परन्तु यह बात देखनी की थी कि भविष्य मे अब प्रान्त किस प्रकार सुचारू रूप से कार्य कर सकते है और यह कहना उचित ही है कि उनके निर्णय के फल स्वरूप प्रान्त और केन्द्र अपने सन्तुलित बजट बना सके।

यहा पर यह बात बतानी अनुचित न होगी कि जब प्रातो में स्व शासन चालू होने के पहले वर्ष (१९३७-३८) में ही केन्द्र और रेलो की आर्थिक स्थिति इतनी सुधर गई तब प्रातो को आय-कर का भाग भी मिलने लगा। इस प्रकार प्रातो को उस वर्ष निम्नलिखित प्रकार से धन मिला :—

बम्बई २५ लाख रु०, बङ्गाल २५ लाख रु०, मद्रास १८.७५ लाख रु०, सयुक्त प्रान्त १८.७५ लाख रु०, बिहार-१२.५० लाख रुपये, पजाब १० लाख रु०, मध्य प्रदेश ६.२५ लाख रुपये, सिंध २.५० लाख रु०, उडीसा २.५० लाख रु०, आसाम २.५० लाख रु०, उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रात १.२५ लाख रु०—इस प्रकार कुल १२५ लाख रुपये मिले।

ओटो नीमियर परिनिर्णय में पहला संशोधन (१९३९-४१)—द्वितीय विश्व युद्ध के छिड जाने पर केन्द्रीय सरकार का रक्षा-व्यय बहुत अधिक बढ गया। जिसके

फलस्वरूप प्रातो और केंद्रो में आय-कर का बटवारा करने के लिये रेलो की आय से कोई सम्बन्ध नही रखा गया। इसके अतिरिक्त केन्द्र को यह अधिकार दिया गया कि प्रातीय आय-कर के भाग में से १९३९-४० से ले कर १९४१-४२ तक प्रति वर्ष ४½ करोड रुपये अपने पास रख ले। अगले तीन वर्षों के लिए भी उसी प्रबन्ध को कायम रखा गया। परन्तु १९४६-४७ में केन्द्र ने प्रान्तीय आय-कर के भाग में से केवल ३.७५ करोड रुपये अपने पास रखे।

दूसरा संशोधन (१९४८)—१५ अगस्त १९४७ ई० को देश का विभाजन हुआ। इसके फलस्वरूप सिंध और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त हमारे देश में से निकल गए तथा बङ्गाल तथा पंजाब प्रातो का विभाजन हो गया। इस कारण यह आवश्यक हो गया कि प्रातो में आय-कर का भाग बाटने के लिए एक नई योजना बनाई जाए। यह योजना १७ मार्च १९४८ ई० को घोषित की गई। यह १५ अगस्त १९४७ ई० से लागू होने वाली थी और केवल १९४७-४८ तथा १९४८-४९ के लिए थी। इसके अनुसार निम्नलिखित परिवर्तन किये गए।

(१) *भविष्य में प्रातीय आय-कर का भाग निम्नलिखित ढङ्ग से बाटने का निश्चय किया गया* :—

बम्बई २१ प्रतिशत, पश्चिमी बङ्गाल १२ प्रतिशत, मद्रास १८ प्रतिशत, संयुक्त प्रात १९ प्रतिशत, बिहार १३ प्रतिशत, पूर्वी पंजाब ५ प्रतिशत, मध्य प्रदेश तथा बरार ६ प्रतिशत, आसाम ३ प्रतिशत, उडीसा ३ प्रतिशत।

(२) ओटो नीमियर परिनिर्णय के अनुसार जूट उगाने वाले प्रातो को जूट निर्यात कर का ६२½ प्रतिशत भाग मिल रहा था। इस को घटा कर २० प्रतिशत कर दिया गया।

(३) *केवल आसाम और उडीसा को अर्थ साहाय्य दिया जाये गा। यह इस प्रकार होगा* —

	आसाम	उडीसा
१९४७-४८	१८.७५ लाख	२५ लाख
१९४८-४९	३० ,,	४० ,,

(४) आय-कर की विशुद्ध आय का १ प्रतिशत चीफ कमिश्नर के प्रान्तों को देने का निश्चय किया गया।

प्रान्तो में आय-कर का भाग बाटने का आधार जन-संख्या रखा गया। इसका प्रान्तों ने बड़ा विरोध किया। बम्बई और बङ्गाल ने इसलिए अधिक भाग मांगा क्योंकि उनमें आय कर का अधिक भाग एकत्र किया जाता है। मद्रास का कहना था कि जब कि उसको ओटोनीमियर परिनिर्णय के अनुसार संयुक्त प्रान्त के बराबर

मिलता था परन्तु नई योजना के अनुसार उसको कम मिलता है। पंजाब का कहना था कि विभाजन का सबसे अधिक भार उसके ऊपर पड़ा है परन्तु फिर भी बङ्गाल को उससे अधिक भाग दिया गया है। इस प्रकार नई योजना के कारण प्रान्तों की आपसी ईर्षा फिर पैदा हो गई।

सरकार समिति (The Sarkar Committee)—क्योंकि मार्च १९४८ की योजना केवल दो वर्षों के लिए थी और विधान सभा तब तक इस निर्णय पर न पहुंची थी कि प्रांतीय आय-कर के भाग को किस प्रकार विभाजित किया जाये इसलिए सरकार ने श्री एन० आर० सरकार की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिससे कि वह इस सम्बन्ध मे अपना सुझाव रख सके। यह समिति प्रांतो की ओर अधिक झुकी हुई थी। इस कारण उसने सुझाव रखा कि प्रान्तों को आय-कर में से ६० प्रतिशत विभाजित किया जाये और आय-कर में कारपोरेशन कर तथा केन्द्र को होने वाले कुछ और लाभ भी सम्मिलित किये जायें। परन्तु सरकार ने सरकार समिति के इन सुझावों को नहीं माना।

तीसरा संशोधन (देश मुख परिनिर्णय)—मार्च १९४८ की योजना से प्रान्तीय सरकारों में बड़ा असन्तोष था। इसको कम करने के लिए सरकार ने श्री देश मुख (जो आज कल हमारे वित्त मंत्री हैं) को अपने सुझाव इस सम्बन्ध में देने के लिए नियुक्त किया। देश मुख परिनिर्णय केवल १९५०-५१ और १९५१-५२ के लिए ही था और पूर्ण रूप से लागू होने वाला था।

देश मुख परिनिर्णय निम्नलिखित ढङ्ग पर था —

आय कर का विभाजन—आय-कर के विभाजन में देश मुख ने उसी पद्धति को अपनाया जो कि सर ओटो नीमियर ने अपनाई थी। इस प्रकार उसने प्रान्तों को निम्नलिखित ढङ्ग पर आय-कर बाटने का सुझाव दिया —

बम्बई २१ प्रतिशत, उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रान्त) १८ प्रतिशत, मद्रास १७.५ प्रतिशत, पश्चिमी बङ्गाल १३.५ प्रतिशत, बिहार १२.५ प्रतिशत, मध्य प्रदेश ६ प्रतिशत, पूर्वी पंजाब ५.५ प्रतिशत, आसाम ३ प्रतिशत, उड़ीसा ३ प्रतिशत।

जूट निर्यात कर—नए विधान के अनुसार जूट निर्यात-कर पूर्ण रूप से केन्द्रीय सरकार के आधीन है। परन्तु जूट उगाने वाले प्रान्तों को कुछ समय के लिए आर्थिक सहायता दी जा सकती है। इसीलिए देश मुख साहब ने जूट उगाने वाले प्रान्तों को निम्नलिखित सहायता देने का सुझाव दिया —

पश्चिमी बङ्गाल १०५ लाख रुपये, आसाम ४० लाख रुपये, बिहार ३५ लाख रुपये तथा उड़ीसा ५ लाख रुपये।

देश मुख परिनिर्णय की आलोचना—इस परिनिर्णय का देश में कोई विशेष स्वागत नहीं हुआ। कोई भी प्रान्त इससे सन्तुष्ट न था। बम्बई, पश्चिमी बङ्गाल

मद्रास, बिहार आदि ने इसकी बडी आलोचना की। यह बात बतानी आवश्यक है कि श्री देश मुख का कार्य वितरण सम्बन्धी किसी विशेष सिद्धान्त का निश्चय करना नहीं था। उनका उद्देश्य विभाजन के पश्चात होने वाली गडबडी के कारण बच हुए अतिरिक्त कोष का उचित वितरण करना था। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में यदि विशेष परिवतन किय जाते तो देश के आर्थिक सतुलन के बिगडने का काफी भय था। इसलिए इस निर्णय को विशेष दोष पूर्ण नहीं ठहराया जा सकता।

वित्तीय आयोग (The Finance Commission)—भारतीय सविधान की धारा २८० के अनुसार राष्ट्रपति ने १९५२ में एक वित्तीय आयोग की नियुक्ति की जिसने अपने सुझाव फरवरी १९५३ में दिय। यह सुझाव निम्नलिखित हैं —

आय कर—इस आयोग के सुझावो के अनुसार भविष्य में राज्यो को आय कर का ५५ प्रतिशत भाग बाटा जायेगा। इसमें से २० प्रतिशत इस आधार पर बाँटा जायेगा कि कितनी आय किस राज्य में हुई है और ८० प्रतिशत जन-सख्या के आधार पर बाटा जायेगा। इस प्रकार प्रान्तो को निम्नलिखित ढङ्ग से आय कर का भाग मिलेगा —

राज्य	आय-कर का प्रतिशत	राज्य	आय-कर का प्रतिशत
बम्बई	१७ ५०	राजस्थान	३ ५०
उत्तर प्रदेश	१५ ७५	पजाब	३ २५
मद्रास	१५ २५	ट्रावनकोर-कोचीन	२ ५०
पश्चिमी बङ्गाल	११ २५	आसाम	२ २५
बिहार	९ ७५	मैसूर	२ २५
मध्य प्रदेश	५ २५	मध्य भारत	१ ७५
हैदराबाद	४ ५०	सौराष्ट्र	१ ००
उडीसा	३ ५०	पेप्सू	० ७५
		तृतीय खण्ड के राज्य	२ ७५

सघीय उत्पादक कर—तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति पर प्राप्त किए हुए उत्पादक कर का ४० प्रतिशत राज्यो में उनकी जन सख्या के आधार पर विभाजित किया जायेगा।

जूट निर्यात-कर—जूट निर्यात कर में से जूट उगाने वाले राज्यो को अग्रलिखित सहायता दी जायेगी :—

पश्चिमी बङ्गाल १५० लाख रुपये, आसाम ७५ ... रुपये, बिहार ७५ लाख रुपये उड़ीसा १५ लाख रुपये।

सहायक अनुदान—वित्तीय आयोग ने कई प्रकार के ... क अनुदानों के देने का भी सुझाव रखा है। यह अनुदान साधनों की कमी को ... करने, विकास योजनाओं में सहायता देने तथा इसी प्रकार के दूसरे कामों के लि... ए जायेंगे। वित्तीय आयोग के विचार में मद्रास, उत्तर प्रदेश, बिहार मध्य प्रदेश ... राबाद, राजस्थान, मध्य भारत तथा पेप्सू को सहायक अनुदान की कोई आवश्यकता ... है। पश्चिमी बङ्गाल, उड़ीसा तथा सौराष्ट्र की सीमान्त स्थिति है और उनको प्रति ... ८० लाख रुपये, ७५ लाख रुपए तथा ४० लाख रुपए दिए जाने चाहियें। पंजाब और आसाम को अवश्य ही सहायता की आवश्यकता है और उनको क्रमशः १.२५ करोड़ रुपये तथा १ करोड़ रुपये दिये जाने चाहिये। मैसूर तथा कोचीन-ट्रावनकोर को क्रमशः ४० लाख रुपये तथा ४५ लाख रुपये की सहायता अपनी उन्नति कायम रखने के लिए दी जानी चाहिए।

शिक्षा अनुदान—कुछ राज्यों को प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार के लिए भी अनुदान दिये जायेंगे। यह चार वर्षों के लिए होंगे। १९५३-५४ के अनुदान इस प्रकार होंगे—

बिहार	४१ लाख रुपये	उड़ीसा	१६ लाख रुपये
मध्य प्रदेश	२५ ,, ,,	पंजाब	१४ ,, ,,
हैदराबाद	२० ,, ,,	मध्य भारत	६ ,, ,,
राजस्थान	२० ,, ,,	पेप्सू	५ ,, ,,

इस प्रकार वित्तीय आयोग के सुझावों के फलस्वरूप राज्यों की आय इस प्रकार बढ़ जाएगी।

पश्चिमी बङ्गाल	२.०६ करोड़ रुपये	मद्रास	२.५४ करोड़ रुपये
आसाम	१.३४ ,, ,,	उत्तरप्रदेश	२.८२ ,, ,,
बिहार	२.०० ,, ,,		

परन्तु बम्बई को ३५ लाख रुपये का घाटा होगा।

आलोचनायें—वित्तीय आयोग के सुझावों के विरुद्ध निम्नलिखित आलोचनायें की गई हैं—

(१) आय-कर को आय के स्रोत के अनुसार बांटना चाहिए। इस प्रकार बङ्गाल और बम्बई को आय-कर का अधिक भाग मिलना चाहिए।

मद्रास, दिहार आदि ने इसके उपभोग के अनुसार प्रत्येक राज्य में भिन्न है। इसलिए
कि श्री देश मुख का कार्य त आय के अनुसार बाटना चाहिए।
नही था। उनका उद्दे अनुदानो के कारण राज्यो को केन्द्र पर निर्भर रहना पडेगा
अतिरिक्त कोष का सघानीय सिद्धात के विरुद्ध है।
विशप परिवतन ास्तविक सघानीय शासन में आय के ऐसे मद जिनका केन्द्र तथा
इसलिए इस वारा होता है कम से कम होने चाहियें। परन्तु नई पद्धति के अनुसार
जा रहे हैं।

की ग **नये विधान के अनुसार आय के स्रोतों का बटवारा**—नये विधान में
कोष के स्रोतो का बटवारा उसी ढङ्ग से किया गया है जिस ढङ्ग पर कि १६३५ ई०
के एक्ट मे था। अब भी तीन अलग अलग तालिकाए हैं—सघीय, राज्य तथा सगामी।
कानून बनाने का अवशिष्ट अधिकार लोक सभा को है। नये विधान में करो के
बटवारे के सम्बन्ध में कुछ बदल हो गई है। राज्यो को बिक्री कर लगाने का तो
अधिकार है परन्तु केन्द्रीय सरकार को यह शक्ति है कि वह प्रत्येक राज्य में बिक्री-कर
का समान ढाचा बनाने के लिए आवश्यक आदेश दे सकती है। राज्य सरकार उन
चीजो पर बिक्री-कर नही लगा सकती जो उस राज्य के बाहर बिकती है अथवा जो
भारत के विदेशी व्यापार से सम्बन्धित है अथवा जो लोक सभा ने आवश्यक वस्तुए
घोषित कर दी है। सघीय शासन अब पत्रो के क्रय तथा विक्रय पर कर लगा सकता
है परन्तु इस प्रकार एकत्र किया गया धन वह राज्यो को बाट देता है। सङ्घ राज्यो को
आय-कर का एक भाग देगा। लोक सभा यदि चाहे तो वह यह नियम बना सकती है
कि किसी भी उत्पादक-कर का धन सघीय शासन एकत्र करेगा परन्तु इस से प्राप्त
धन राज्य को दिया जायेगा। लोकसभा को यह भी अधिकार दिया गया है कि
वह अपने लाभ के लिए करो पर अधिभार (Surcharge) लगा दे। भविष्य मे
जूट उगाने वाले प्रान्तो को जूट निर्यात कर में से कोई भाग नही मिलेगा पर उनको
दस वर्ष तक अथवा जब तक कि जूट निर्यात कर लगेगा (इन दोनो में जो भी पहले
हो) अनुदान मिलेगा। यदि लोक सभा यह देखती है कि किसी राज्य को अनुदान
की आवश्यकता है तो उसको अनुदान दिया जायेगा। राज्यो को उन स्वीकृत विकास
योजनाओं के लिए भी अनुदान दिये जायेंगे जिनसे कि सामाजिक हितो की वृद्धि
होती है।

ऋण लेने की शक्ति पहले के समान ही। केन्द्र भारत की सचित निधि
(Consolidated Fund of India) की धरोहर पर ऋण ले सकता है। राज्य
अपनी सचित निधि की धरोहर पर भारतवर्ष से ऋण ले सकते हैं। भारत
सरकार किसी राज्य को या तो ऋण दे सकती है या उसके ऋण की गारन्टी दे
सकती है।

विधान में दो वर्ष के भीतर ही एक वित्तीय आयोग नियुक्त करने का आयोजन है। इसके पश्चात वह हर पाँचवें वर्ष अथवा यदि राष्ट्रपति चाहे तो उससे पहले ही बैठाया जायेगा। यह आयोग निम्नलिखित बातों पर अपना मत प्रगट करेगा।

(१) संघ और राज्यों में आय-कर के बटवारे की विधि तथा वह ढङ्ग जिस से राज्यों को अपना भाग प्राप्त हो सकें।

(२) भारत की संचित निधि में से राज्यों को अनुदान देने के सिद्धांत।

(३) भारत सरकार तथा 'ब' श्रेणी के राज्यों में हुए समझौते को चालू रखा जाये अथवा उसमें कोई बदल की जाये। जैसा ऊपर बताया जा चुका है यह आयोग नियुक्त किया गया था और उसकी रिपोर्ट भी सरकार के सामने पेश हो चुकी है और उस पर कार्य होना भी आरम्भ हो गया है।

इस प्रकार नये विधान के अन्तर्गत राज्यों की स्थिति पहले से भी खराब हो गई है। उनको आय कर का ६० प्रतिशत भाग जो कि वह मांगा करते थे नहीं मिला वरन् केवल ५५ प्रतिशत मिला है। इसके अतिरिक्त जूट उगाने वाले राज्यों को जूट निर्यात कर का कोई भी भाग न मिल कर केवल थोड़ा अनुदान ही मिलेगा और वह भी दस वर्ष से अधिक नहीं मिलेगा। बिक्री कर पर कुछ पाबन्दियाँ लग जाने के कारण कुछ राज्यों को बड़ी हानि हुई है। उनमें बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश, बिहार आदि है। कुछ कर जैसे उत्तराधिकारी कर, माल तथा यात्रियों आदि के रेल हवाई जहाज, पानी के जहाज आदि में यात्रा करने पर लगा हुआ सीमा-कर (Terminal Tax), अखबारों के क्रय विक्रय पर कर आदि को संघ सरकार लगायेगी तथा उससे प्राप्त आय को राज्यों में बांटा जा सकता है। परन्तु इस आय के मिलने की कम आशा है। इस प्रकार राज्यों की आर्थिक स्थिति पहले से खराब हो गई है। उनके हाथ में आय के जो मद्‌ है उनसे प्राप्त आय प्रायः निश्चित रहती है परन्तु व्यय के मद्‌ ऐसे हैं जिन पर व्यय प्रति वर्ष बढ़ता जाता है। इस कारण प्रान्तों की कठिनाई नये विधान में घटने के बदले बढ़ गई है।

संघ सरकार आय के कुछ मुख्य स्रोत

आय-कर (Income Tax)—भारतवर्ष में आय-कर का महत्व निरंतर बढ़ता जा रहा है। यह कर सब से पहले १८६० ई० में लगाया गया था। उस समय यह कर-कृषि तथा गैर-कृषि दोनों प्रकार की आय पर लगाया गया था। परन्तु यह कर थोड़े ही समय रहा और १८६५ ई० में इस को हटा दिया गया। १८६७ ई० में सब पेशों तथा व्यापारों (कृषि सहित) पर एक अनुज्ञा-पत्र-कर (Licence Tax) लगाया गया। परन्तु इसको १८७३ ई० में फिर समाप्त कर दिया गया। इसके पश्चात १८७७ ई० में इसको फिर से चालू किया गया। १८८६ ई० में पुराना अनुज्ञा-पत्र-कर सामान्य आय कर में बदल दिया

गया। इस प्रकार उस समय से भारतीय कर-पद्धति में आय-कर एक स्थायी आय का साधन बन गया है।

१९१४ ई० से पूर्व आय-कर की दरें नीची थी और कर से प्राप्त आय भी कम थी। परन्तु १९१६ में कर की दर बढ़ा कर आय बढ़ाने का प्रयत्न किया गया और १९१७ ई० में ५०,००० रु० से अधिक आय पर अधि कर (Super tax) भी लगाया गया और १९१८ में अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profits Tax) लगा दिया गया।

१९२२ ई० में एक भारतीय आय-कर एक्ट पास किया गया। इस एक्ट में समय समय पर बहुत से संशोधन किये गये। १९३९ ई० में आय-कर (संशोधन) एक्ट पास किया गया। इस एक्ट के अनुसार भारत में 'स्टैप सिस्टम' के स्थान पर 'स्लैब सिस्टम' चालू कर दिया गया है। पहली पद्धति के अनुसार एक प्रकार की सब आय पर कर की एक ही दर लगती थी परन्तु अब उसी आय के विभिन्न विभाग किये जाते हैं और उन विभागों की जो कर-दर निश्चित है उसके अनुसार हर विभाग पर कर लगा कर सारी आय का कर भार निश्चित किया जाता है।

द्वितीय महायुद्ध (१९३९–४५) के कारण कर की दरों में बहुत से परिवर्तन किये गए। मार्च १९४० में अतिरिक्त आयकर लगाया गया। इसके अनुसार, ३०,००० रुपये से अधिक असमान्य युद्ध-लाभ पर ५० प्रतिशत कर लगाया गया। १९४१ में इसको बढ़ा कर ६६⅔ प्रतिशत कर दिया गया। १९४० के एक अनुपूरक वित्तीय एक्ट के अनुसार सब आय-करों (जिन में अधिकर तथा कारपोरेशन कर भी सम्मिलित थे) पर २५ प्रतिशत के हिसाब से एक अधिभार (Surchage) केवल केन्द्रीय सरकार के लिए लगाया गया। १९४१ ई० में इस को बढ़ा कर ३३⅓ प्रतिशत कर दिया गया। १९४१ के एक एक्ट के अनुसार अतिरिक्त-लाभ कर का ⅓ भाग सरकार के पास रखना पड़ता था। १९४४ ई० में इस को १९।६४ से बढ़ा दिया गया। १९४६ में इस कर को समाप्त कर दिया गया। १९१५ ई० से अर्जित आय (Earned income) तथा अनर्जित आय में भेद कर दिया गया है। यदि कोई मनुष्य किसी आय को अपने अतिरिक्त परिश्रम के द्वारा प्राप्त करता है तो उस को आय के १/५ पर कोई कर नहीं देना पड़ता। कर की यह छूट ४००० रुपए से अधिक नहीं हो सकती।

भारतीय आय-कर-पद्धति की विशेषतायें—भारतीय आय-कर पद्धति के तीन भाग हैं—व्यक्तिगत आय पर कर, अधि कर तथा कारपोरेशन-कर। व्यक्तिगत आय में कर लगाये जाने वाले वर्ष से पहले के वर्ष की प्राप्त आय सम्मिलित की जाती है चाहे वह व्यक्तिगत परिश्रम से प्राप्त की गई हो अथवा व्यापार से अथवा और किसी स्रोत से। एक न्यूनतम सीमा से नीचे (जो १९५३ में ४२०० रुपये थी) कोई

कर नहीं लगाया जाता। सामूहिक परिवार पर उसी ढङ्ग से कर लगाया जाता है जिस प्रकार कि व्यक्ति पर, सामूहिक परिवार की छूट की न्यूनतम सीमा कुछ अधिक होती है। आजकल वह ८४०० रुपए थी। जिन लोगो पर कर लगने वाला है उन को अपनी आय का एक विवरण अपने हल्के के आय-कर अधिकारी के पास भेजना पड़ता है। कर लगाते समय व्यक्ति की स्त्री तथा छोटे बच्चो की आय को व्यक्ति की आय म सम्मिलित कर लिया जाता है। आय पर कर स्लैब सिस्टम पर लगाया जाता है। जीवन बीमे तथा भविष्य निधि (Provident Fund) के रूप में दिये गए रुपए पर कोई कर नहीं लगाय जाता। परन्तु इस प्रकार की छूट आय के १/६ अथवा ६००० रुपए (इन दोनो मे से जो भी कम हो) से अधिक नहीं दी जा सकती। अर्जित आय पर भी १/५ अथवा ४००० रुपए (इन दोनो में जो भी कम हो) की छूट दी जाती है। कम्पनियो के ऊपर व्यक्तियों से अधिक दर पर कर लगाया जाता है और उनको सारी आय पर कर देना पड़ता है। उनको अधिभार भी देना पड़ता है।

१९४७ ई० में एक लाख से अधिक के व्यापारिक लाभ पर १६¼ प्रतिशत व्यापारिक लाभ कर (Business Profits Tax) लगाया गया। इसका बड़ा विरोध किया गया। १९४७ में इस कर की दर को कम कर दिया गया और १९५० में इसको समाप्त कर दिया गया।

१९४७ ई० में १५००० रुपये से अधिक लाभ पर जो कि पूंजी सम्पत्ति को बेच कर प्राप्त किया गया हो एक पूंजी-लाभ-कर (Capital Gains Tax) लगाया गया। परन्तु इस कर का विनियोजनो (Investments) पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इसलिये इस कर को १९४९ ई० में समाप्त कर दिया गया।

भारतीय आय-कर पद्धति के दोष— इस पद्धति में निम्नलिखित दोष पाए जाते हैं—

(१) छूट देने की न्यूनतम सीमा अभी तक कम है।

(२) कर लगाते समय यह नहीं देखा जाता कि कर-दाता के परिवार में कितने व्यक्ति हैं। सब लोगों पर चाहे उनका परिवार छोटा हो अथवा बड़ा एक ही दर पर कर लगाया जाता है।

(३) अभी कुछ ही वर्ष पूर्व तक कृषि आय पर कोई कर नहीं लगाया जाता था और अब भी क्योंकि इस कर को राज्य सरकारें लगाती हैं इसलिये इस कर की सब राज्यो में समान दर नहीं है।

(४) बड़ी बड़ी आयो पर विदेशों की अपेक्षा कर-भार अधिक है जिसके कारण बचत कम होती है तथा विनियोजन भी कम होते हैं।

(५) हमारे देश में बहुत से लोग कर से बच जाते हैं। आय-कर-जाँच-

आयोग १९४९(Income-Tax Investigation Commission 1949)के अनुसार भारत में छुपी हुई आय जिस पर कर लगाया जा सकता है १००० करोड़ रुपये है।

कारपोरेशन कर (CorporationTax)—यह कर संयुक्त स्कंध प्रमण्डल (Joint Stock Companies) पर इसलिये लगाता है क्योंकि उनको राज्य की ओर से कुछ ऐसी सुविधायें मिली हुई होती है जिनके कारण वह अपना कार्य सुचारु रूप से चला सकते है जैसे यह प्रमण्डल का नाम रख कर उस नाम से व्यापार कर सकते है इस नाम से वह न्यायालय में अपने ऋणियों के विरुद्ध मुकदमा दायर कर सकते है, वह जनता से रुपया एकत्र कर सकते हैं, वह सार्वजनिक सड़कें, गाड़ियां आदि अपने प्रयोग में ला सकते हैं आदि। कारपोरेशन कर में कोई न्यूनतम छूट नहीं दी जाती वरन् वह सारी आय पर एक ही दर पर लगाया जाता है।

१९३९ ई० से पूर्व कारपोरेशन कर के स्थान पर अधिभार (Super Tax) शब्द का प्रयोग किया जाता था और यह व्यक्तियों के समान ५०,००० रुपये से अधिक आय पर लिया जाता था। इसके अतिरिक्त प्रमण्डलों को व्यक्तियों के समान कर भी देना पड़ता था। परन्तु भारतीय कर जांच समिति के अनुसार "अधिभार जो प्रमण्डलों की आय पर लगाया जाता है वास्तव में अधिभार नहीं है, वरन् एक कारपोरेशन लाभ कर है।" इस कारण यह आवश्यक हो गया कि प्रमण्डलों की आय पर वर्तमान रीति से कर न लगाया जाए तथा उनको कोई न्यूनतम छूट न दी जाये। १९३६ ई० की भारतीय आय-कर जांच समिति ने इन दोनों बातों के सम्बन्ध में सुझाव दिए थे। इसलिए १९३९ ई० के पश्चात भारतीय कर (संशोधन) एक्ट में इन दोनों दोषों को दूर कर दिया गया। इस प्रकार आजकल प्रमण्डलों के लाभ पर कोई छूट नहीं दी जाती और १९५३-५४ की आय करों की दर से प्रत्येक प्रमण्डल पर २½ आने प्रति रुपया कारपोरेशन कर लगाया जाता है।

उत्तराधिकारी अथवा मृत्यु अथवा सम्पदा कर (Inheritance Tax or Death Duties or Property Tax)—उत्तराधिकारी अथवा मृत्यु अथवा सम्पदा कर आय पर न लगा कर सम्पत्ति पर लगाया जाता है। यह एक पुराना कर है। कहते हैं कि ईसा से ७०० वर्ष पूर्व मिस्र में यह कर लगाया गया था। उसके पश्चात यह कर यूनान में भी लगाया गया। उसके पश्चात भी यह किसी न किसी रूप में लगाया जाता रहा। १४वीं शताब्दी के अन्त में इसको इटली और जर्मनी में लागू किया गया। १७वीं शताब्दी में इसको इङ्गलैण्ड, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड, आदि देशों ने मामूली ढङ्ग से लगाया। संयुक्त राष्ट्र में यह १९वीं शताब्दी में लगना आरम्भ हुआ।

भारतवर्ष में मुगल काल में जब किसी सूबे का गवर्नर मर जाता था तो उस

समय उसकी सम्पत्ति को बादशाह ले लेता था। इस प्रकार सरकार को बडी आय हो जाती थी। परन्तु अंग्रेजी शासन में इस कर को नहीं लगाया गया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात जब सरकार को रुपये की आवश्यकता पडी तब उसको मृत्यु कर लगाने का सुझाव दिया गया परन्तु सरकार ने उसको न माना। परन्तु १६२६ ई० में सरकार ने रिक्त पत्र-प्रमाणन-कर (Probate duty) लगाया जो कि उस समय लिया जाता था जबकि किसी व्यक्ति को कोई सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिलती थी। द्वितीय महायुद्ध में भी इस कर को लगाने की बात छिडी परन्तु कुछ लोगों के विरोध के कारण यह न लगाया जा सका। अन्त में श्री लियाकत अली ने १६४७–४८ में इस कर को लगाने की बात कही और उस समय इस पर विचार करने के लिये एक प्रवर समिति (Select Committee) बैठाई गई। इस समिति की रिपोर्ट अगस्त १६४७ में प्राप्त हुई परन्तु देश के विभाजन के कारण इस पर कोई विचार न किया गया। इसके पश्चात १६४८–४६ में इस सम्बन्ध में एक बिल पेश किया गया और वह फिर एक प्रवर समिति को सौंप दिया गया जिसकी रिपोर्ट मार्च १६४६ ई० में प्राप्त हुई। परन्तु फिर भी कुछ समय तक इस बिल को कानून का रूप न दिया जा सका। अन्त में नवम्बर १६५२ में श्री देशमुख ने फिर एक सम्पदा बिल पेश किया जिसको एक प्रवर समिति को सौंप दिया गया। इस समिति की रिपोर्ट प्राप्त होने पर अन्त में यह बिल पास हो गया और १५ अक्तूबर १६५३ ई० से यह लागू कर दिया गया।

इससे पहले कि हम भारतीय सम्पदा कर की मुख्य बातें बतायें हम यह आवश्यक समझते हैं कि इसके गुण व अवगुणों पर विचार कर लें।

सम्पदा कर के अवगुण—इसके निम्नलिखित अवगुण बताये जाते हैं—

(१) जिस परिवार में थोड़े २ समय पश्चात मृत्यु के कारण सम्पत्ति शीघ्र ही हाथों को बदलती रहती है उस परिवार पर इसका भार दूसरे उस परिवार से अधिक पडता है जिसमें मृत्यु देर में होती है। यह तर्क आदम स्मिथ द्वारा दिया गया है और इसका प्रो० शीराज ने समर्थन किया है। इस अन्याय के दूर करने के लिए कानून में ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता है जिससे कि उस परिवार को जिसमें कि मृत्यु शीघ्र होती रहती है कम कर देना पडे।

(२) मृत्यु अथवा सम्पदा कर लगाते समय यह बात नहीं देखी जाती कि कोई सम्पत्ति किस प्रकार प्राप्त की गई है। कुछ सम्पत्तियां तो ऐसी होती हैं जो आसानी से खरीद ली जाती हैं परन्तु कुछ को प्राप्त करने में बड़ा कष्ट उठाना पडता है। पर सम्पदा कर दोनों पर एकसा लगाया जाता है।

(३) सम्पत्ति का मूल्य उस समय लगाया जाता है जबकि मृत्यु होती है। यह अनुचित है क्योंकि मंदी के समय सम्पत्ति का मूल्य कम होता है परन्तु तेजी के

समय उसी सम्पत्ति का मूल्य अधिक होता है। इसलिए मंदी के समय कम सम्पदा कर देना पड़ता है और तेजी के समय अधिक। परन्तु यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि इस कर का भार देखते समय हमें यह नहीं देखना चाहिए कि किसी व्यक्ति ने कितने रुपये कर के रूप में दिये है वरन् यह देखना चाहिए कि उन रुपयो का वास्तविक मूल्य क्या है ? और यदि कर का इस प्रकार विचार किया जायेगा तो उपर्युक्त आपत्ति समाप्त हो जायेगी।

(४) इस कर की दर समय समय पर बदलती रहती है। इसलिए एक से मूल्य वाली सम्पत्तियो पर विभिन्न समयो पर विभिन्न कर भार पड़ता है, यह अनुचित है। परन्तु यह तर्क मृत्यु कर के विरुद्ध नही वरन् उस कर की दर में समय समय पर होने वाले परिवर्तन के विरुद्ध है। सब करो की दरो में इसी प्रकार परिवर्तन होते रहते है।

(५) इस कर के विरुद्ध यह भी तर्क दिया जाता है कि इसके लगाने के कारण पूंजी के सचय करने में बाधा उत्पन्न होती है। इस लिए देश के उद्योग धन्धो पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह तर्क भी गलत है क्योकि उत्तराधिकारी जो सम्पत्ति प्राप्त करता है उसके बचाने की इच्छा पर इस कर का कोई प्रभाव नही पडता क्योकि उसको वह स्वय नही बचाता वरन् उसके लिये दूसरा व्यक्ति बचाता है और यह दूसरा व्यक्ति बचाते समय यह नही देखता कि बचाई हुई सम्पत्ति का कितना भाग उसके उत्तराधिकारी को मिलेगा वरन् अपने से सम्बन्धित बहुत सी बातो के कारण बचाता है। और यदि वह यह भी देखे कि उत्तराधिकारी को कितनी सम्पत्ति मिलती है तो वह इसका बीमा कर इसके कर-भार को बहुत से वर्षों पर फैला सकता है। इसके अतिरिक्त सम्पदा कर से जो धन सरकार को प्राप्त होता है उसको सरकार बहुत से उद्योगो पर खर्च करती है। इस प्रकार इस कर से देश की पूंजी पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता। श्री देशमुख ने सम्पदा बिल को पेश करते समय यह बताया था कि लगभग ४० देशो का यह अनुभव है कि इस कर के कारण पूंजी का सचय कम नही होता।

गुण—इस कर के निम्नलिखित गुण बताए जाते है—

(१) आय-कर लगाते समय यह नही देखा जाता कि कोई आय सुरक्षित स्रोत से प्राप्त की गई है अथवा असुरक्षित स्रोत से। यह अन्याय सम्पदा कर से दूर हो जाता है क्योकि सुरक्षित स्रोत से आय प्राप्त करने वालो की सम्पत्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक होगी और उनको अधिक कर देना पड़ेगा।

(२) आय कर न तो इस बात की ओर ध्यान देता है कि किसी व्यक्ति की सम्पत्ति में कितनी वृद्धि हुई है और न इस बात का कि किसी व्यक्ति को किसी

सम्पत्ति से कितनी उपयोगिता अथवा संतोष प्राप्त होता है। परन्तु सम्पदा कर से कुछ सीमा तक यह भी दोष दूर जाता है।

(३) सम्पदा बिल का समर्थन करते हुए श्री गाडगिल ने कहा, 'द्रव्य शक्ति और पद का मार्ग है। इस द्वार को नष्ट कर देना चाहिये और विषमता की सबसे बड़ी जिम्मेदारी उत्तराधिकार की प्रथा पर है।" आगे चल कर उन्होंने कहा कि आय-कर और सम्पदा कर एक दूसरे के सहायक है। आय कर से लोग बच सकते है परन्तु इसको उचित रूप से लगाने पर बचना कठिन है। इसके पश्चात उन्होंने कहा कि यह कर पूंजी पर एक चोट है और हम पूंजी तथा व्यक्तिगत साहस को समाप्त करना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि जिन व्यक्तियों के हाथ में पूंजी होती है अन्त में उन्हीं का सरकार पर नियन्त्रण होता है। उन्होंने आगे कहा कि इसका व्यक्तिगत प्रमण्डलों पर ही प्रभाव पड़ेगा सार्वजनिक प्रमण्डलों पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। इस हानि के कारण व्यक्तिगत प्रमण्डल सार्वजनिक प्रमण्डलों मे बदल जायेंगे। इसके पश्चात उन्होंने बताया कि इस कर से लोगों की कार्य करने की योग्यता तथा उनकी बचाने की इच्छा पर कोई प्रभाव न पड़ेगा क्योंकि जब उत्तराधिकारी को यह पता लगेगा कि उसको अधिक सम्पत्ति नहीं मिलेगी तो वह और परिश्रम से कार्य करेगा।

भारतीय सम्पदा कर की मुख्य बातें

सम्पत्ति शब्द की परिभाषा— (क) चल या अचल सम्पत्ति में कोई भाग, (ख) 'क' में वर्णित भाग की बिक्री से प्राप्त रकम, (ग) 'ख' में वर्णित रकम या उसमें से फिलहाल लगी हुई रकम, (घ) किसी भी तरह से एक सम्पत्ति से दूसरी में बदली गई कोई सम्पत्ति (च) न्यायानुकूल हिस्सा, (छ) किसी व्यक्ति का ऋण या उसकी मर्जी से उसके द्वारा छोड़ा हुआ ऋण, (ज) कोई और ऐसा अधिकार जिसका रुपए में मूल्य लगाया जा सकता हो।

कुछ ऐसी सम्पत्ति भी है जो वास्तव में मृत्यु के पश्चात हस्तान्तर नहीं होती किन्तु उसको मृत्यु के पश्चात हस्तान्तरित होने वाली सम्पत्ति मान कर उसके लिए व्यवस्था कर दी गई है

(क) ऐसी सम्पत्ति जिसे मृतक कानूनन तय सकता था (ख) ऐसी सम्पत्ति जिसमें मृतक या किसी व्यक्ति का हिस्सा हो और मृतक की मृत्यु होने पर वह हिस्सा समाप्त हो जाता हो, (ग) मृतक की जो सम्पत्ति किसी व्यक्ति को दान में उसकी मृत्यु के बाद में मिले, (घ) मृतक की मृत्यु के छ महीने पहले से दो साल तक की

अवधि में जो सम्पत्ति दातव्य या अन्य कार्यों के लिये उपहार स्वरूप दी गई है उस पर शुल्क लगेगा। विवाह के लिये पांच हजार रुपये तक की व्यवस्था पर शुल्क नहीं लगेगा। (ङ) मृत्यु के छः महीने पहले तक दातव्य कार्यों के लिए तथा दो वर्ष पहले तक अन्य कार्यों के लिए दी या निर्धारित की गई सम्पत्ति पर शुल्क लिया जायेगा, (च) ऐसी सम्पत्ति जिसका मृतक द्वारा निपटारा किया गया हो और उसमें उसने किसी प्रकार का भाग अपने जीवन भर के लिये रख लिया हो, (छ) ऐसी सम्पत्ति जो मृतक और किसी व्यक्ति के साझे में हो और उस व्यक्ति को वह सम्पत्ति उत्तर-जीवी के रूप में मिली हो (ज) किसी मनोनीत या प्रतिभाजन भागी के लिए मृतक व्यक्ति द्वारा चालू रखी गई बीमा पालिसि, (झ) मृतक की मृत्यु के समय तक जमा वार्षिक वृत्ति (ञ) ऐसी कम्पनी की लेनदारी जिसका नियन्त्रण पांच से अधिक व्यक्तियों के हाथ में न हो, जिसमें मृतक की सम्पत्ति लगी हो और वहां से उस उसकी मृत्यु से पहले के तीन सालों में लाभ मिला हो या प्राप्त करने का उसका अधिकार रहा हो।

शुल्क से छूट— कुछ ऐसी भी सम्पत्ति होती है जो किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात किसी को हस्तान्तर नहीं होती। ऐसी सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लिया जायेगा। इस प्रकार की सम्पत्तियां निम्नलिखित होती हैं—

(क) सम्पत्ति, जिसमें मृतक का हित किसी पद पर रहने के कारण हो। (ख) निर्धारित परिस्थितियों में ट्रस्टी के रूप में मृतक के आधीन रहने वाली सम्पत्ति। (ग) ऐसी सम्पत्ति जो किसी व्यक्ति द्वारा मृतक को केवल अपने जीवन के लिए मिली हो और उसकी मृत्यु के पश्चात वह फिर देने वाले को मिलती हो।

मूल्यांकन— सम्पदा शुल्क की दर निर्धारित करने के लिए मृतक की हस्तान्तरित होने वाली सब सम्पत्ति एक सम्पदा के रूप में जोड़ली जाएगी। अनुसूचित कृषि भूमि जैसी कुछ ऐसी भी सम्पत्ति है, जिस पर यद्यपि छूट दी जाती है, किन्तु सम्पदा का पूरा मूल्य निकालने के लिए उसको भी जोड़ना पड़ता है। सम्पत्ति का मूल्य खुले बाजार की दर पर आंका जाता है। मूल्यांकन करने में सम्पत्ति के मूल्य ह्रास आदि बातों पर पूरा ध्यान दिया जायेगा।

सम्पत्ति के मूल्य में से कुछ कटौतियाँ—सम्पदा-शुल्क के लिए सम्पदा का मुख्य मूल्य आंकते समय कई प्रकार के ऋणों एवं खर्चों की रकमें छोड़ दी जायेंगी, जैसे—(१) क्रिया कर्म का खर्च, जो एक हजार रुपये से अधिक नहीं होना चाहिए (२) वास्तविक ऋण तथा दूसरी रकमें जो देनी है, (३) पति की सम्पत्ति में पत्नी का भाग (जीवन काल के लिए), और (४) विदेशी सम्पत्ति के प्रबन्ध या वसूली में होने वाला खर्च, जो सम्पत्ति के मूल्य के पांच प्रतिशत से अधिक न होने चाहिये।

शुल्क की दरें— यह स्तरों के हिसाब से निश्चित की गई है। मिताक्षरा,

मरुमक्कतायम या अलियसतान विधी द्वारा शासित हिन्दू परिवार की सम्पत्ति में अधिकार मिलने पर पचास हजार रुपये तक के पहले खंड पर कोई शुल्क नहीं होगा। दूसरी सम्पत्तियों के लिए छूट की यह सीमा एक लाख रुपए रखी गई है।

शुल्क से छूट— निम्नलिखित सम्पत्तियों को शुल्क से छूट दी जायेगी, पर शुल्क की दर निश्चित करने के लिए मुख्य मूल्यांकन में उन्हें सम्मिलित रखा जायेगा—

(क) सार्वजनिक धर्मार्थ कार्यों के लिए, मृत्यु से छ महीने के भीतर दिए गये दान, जो २५०० रुपये तक हो सकते है।

(ख) अन्य कार्यों के लिये मृत्यु से दो वर्ष के भीतर दिये गये दान, जो १५०० रुपये तक हो सकते हैं।

(ग) सम्पदा शुल्क के भुगतान के लिए बीमे की पालिसी से मिली रकमें, ये रकमें, भुगतान किये जाने वाले शुल्क के बराबर की मात्रा में सरकार के नाम की हुई हों, पर पचास हजार रुपये से अधिक न हो।

(घ) सम्पदा शुल्क भुगतान के लिए सरकार के पास जमा किया गया रुपया, भुगतान किये जाने वाले शुल्क की मात्रा तक जो पचास हजार रुपये से अधिक न हो।

(ङ) मृत व्यक्ति के बीमे का रुपया-पाँच हजार तक।

(च) बीमे या ट्रस्ट की घोषणा या समझौते के जरिये किसी उस रिश्तेदार लड़की के विवाह के लिये अलग निकाला गया रुपया जिसको कि मृतक ने पाला है। परन्तु इस प्रकार का धन पांच हजार रुपये से अधिक न होगा।

यह सब रकमें कुल सम्पदा के मूल्य में सम्मिलित की जायेंगी परन्तु उन पर औसत दर के हिसाब 'रिबेट' दिया जायेगा।

यदि एक मृत्यु के बाद के तीन महीनों के भीतर उसी सम्पत्ति के सम्बन्ध में और मृत्युएं होंगी, तो ऐसी दशा में पहली वाली ही मृत्यु के लिये सम्पदा कर चुकाया जायेगा।

प्रशासन— इस अधिनियम (Act) के प्रशासन का काम आय-कर विभाग के अफसरों के द्वारा होगा। इनकम टैक्स कमिश्नर सम्पदा-शुल्क के नियन्त्रक होंगे, पर्यवेक्षक सहायक आयुक्त उप-नियन्त्रक होंगे और आय-कर अफसर सहायक नियन्त्रक होंगे। मृतक व्यक्ति की आय पर पहला भार सम्पदा कर का होगा।

सीमा-कर (CUSTOM DUTIES)

सीमा कर दो प्रकार से लगाया जा सकता है— १ निर्यात-कर के रूप में, २ आयात कर के रूप में।

[१] निर्यात कर (Export duties)—अब से कुछ समय पूर्व यह कर बहुत अधिक लगाया जाता था क्योंकि लोगों का विश्वास था कि इसका कर-भार विदेशियों पर पड़ता है। परन्तु यह बात सदा ही सत्य नहीं होती। वास्तव में इस कर का भार आयात और निर्यात करने वाले देशों की अपेक्षित मांग और पूर्ति की लचक पर निर्भर है।

[२] आयात कर (Import duties)— विदेशों से आने वाले माल पर जो कर लगाया जाता है उसको आयात कर कहते हैं। यह कर दो दृष्टिकोण सामने रख कर लगाया जाता है—१ आय बढ़ाने के लिये २. देश के उद्योगों को संरक्षण देने के लिये। जब पहला दृष्टिकोण सामने होता है तब आयात खूब किए जाते हैं परन्तु जब दूसरा दृष्टिकोण सामने होता है तब आयात बहुत कम किये जाते हैं।

सीमा-कर लगाने के ढङ्ग— सीमा-कर दो प्रकार से लगाया जा सकता है— १ मूल्यानुसार (Ad valorem) तथा २ परिमाणानुसार (Specific)। मूल्यानुसार कर वस्तु के मूल्य के अनुसार लगाया जाता है। इस कर को वसूल करने के लिये सीमा कर अधिकारियों को आयात अथवा निर्यात कर्ता के बीजक अथवा द्रव्य-रसीद पर निर्भर रहना पड़ता है और हो सकता है कि यह चीजें जाली बनाई गई हों। इस प्रकार की शङ्का होने पर सीमा-कर-अधिकारी माल को खुलवा कर भी देख सकते हैं। इन सब कठिनाई के कारण बहुत से देशों में परिमाणानुसार कर लगाया जाता है जो कि वस्तु के भार अथवा उसकी संख्या के अनुसार लगाया जाता है। इस कर को लगाने में कोई कठिनाई पेश नहीं आती। परन्तु प्राय सभी देशों में साधारणतया यह दोनों प्रकार के ही कर लगाये जाते हैं। जो चीजें मूल्यवान होती हैं जैसे सोना, चांदी, मोटर, घड़ी आदि उन पर मूल्यानुसार कर लगाया जाता है और शेष पर परिमाणानुसार।

भारत में सीमा-कर का इतिहास (*History of Custom duties in India*)—भारत में सीमा-कर इतिहास को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) १८६१ तक, (२) १८६१ से १९१५ तक, (३) १९१६ से १९२१ तक, (४) १९२२ के पश्चात।

(१) १८६१ तक का समय—मुगल-शासन काल में बहुत मामूली सीमा-कर लगाया जाता था, जैसे १६०६ ई० में यह कर खाद्य-सामग्री पर ३ प्रतिशत, सोने, चांदी पर २ प्रतिशत तथा शेष वस्तुओं पर ढाई प्रतिशत था। इसके अतिरिक्त पारगमन-कर (Transit duties) भी थे जो कच्चे माल पर ३ प्रतिशत थे और पक्के माल पर ३½ प्रतिशत से ५ प्रतिशत तक थे। जब अंग्रेज भारत में आये तो उन्होंने इन करों में कोई बदल नहीं की। उन्होंने केवल करों की दर में परिवर्तन किया। वह अंग्रेजी तथा गैरअंग्रेजी माल पर विवेचक कर (Discriminating duties) लगाते थे। अन्त

में १८५७ ई० के संग्राम के पश्चात कर की दर ५ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक कर दी गई और कुछ चीजो पर तो २० प्रतिशत तक कर लगा दिया गया। परन्तु यह कर केवल आय को बढाने के लिए लगाए गए थे।

(२) १८६२-१९१५ का समय (अबाध व्यापार)—१८३१ से ले कर १८८२ ई० तक धीरे धीरे प्राय सभी चीजो पर से सीमा कर हटा दिया गया। १८८८ स ले कर १८९४ तक केवल हथियारो, बारूद, शराब, अफीम तथा नमक पर आयात कर था और केवल चावल पर निर्यात कर। परन्तु १८९४ ई० के पश्चात इस अबाध व्यापार की नीति मे बदल करनी पड़ी और ५ प्रतिशत का सामान्य-कर लगा दिया गया। सूती माल और धागे के आयात पर भी कर लगाया गया। पर भारतीय धागे के ऊपर उतना ही प्रति-प्रभावी कर (Counter vailing duty) लगाया गया। लोहे और फौलाद के सामान पर भी १ प्रतिशत कर लगाया गया। १८९७ से १९१० तक इन करो की यही दर रही। १९१०-११ मे शराब, तम्बाकू, चादी तथा पैट्रोल पर आयात-कर बढा दिया गया।

(३) १९१६ से १९२१ तक का समय (महा युद्ध और उसके पश्चात)—युद्ध का व्यय बढ जाने के कारण १९१६-१७ मे सामान्य आयात कर को ५ प्रतिशत से बढा कर ७½ प्रतिशत कर दिया गया और १९२१-२२ मे इसको बढा कर ११ प्रतिशत कर दिया गया परन्तु सूती माल पर ११ प्रतिशत ही कर रहा। रेल के सामान पर १९१६ मे २½ प्रतिशत और १९२२-२३ में १० प्रतिशत कर लगा दिया गया। इस वर्ष लोहे और फौलाद के माल पर भी यही कर था। १९२२-२३ में चीनी के ऊपर भी २५ प्रतिशत कर लगा दिया गया। विलासिता की वस्तुओ जैसे मोटर, सिनेमा,-फिल्म, घडियो आदि पर १९२२-२३ में ३० प्रतिशत कर लगा दिया गया। १९२२-२३ मे तम्बाकू के ऊपर ७५ प्रतिशत मूल्यानुसार कर लगा दिया गया। १९१६ में जूट तथा जूट के माल तथा चाय पर निर्यात-कर लगा दिया गया और उससे अगले ही वर्ष उसको दुगना कर दिया गया। यह सब कर आय बढ़ाने के लिए ही लगाए गए थे।

(४) १९२२ ई० के पश्चात—१९२३ ई० से भारत सरकार ने सरक्षण की नीति को अपनाया और सबसे पहले १९२४ ई० में लोहे और फौलाद के उद्योग को सरक्षण दिलाया गया। १९२७ ई० के पश्चात रुई तथा १९३१ ई० में चीनी के उद्योग को भी सरक्षण दिया गया। १९३३ ई० से भारतवर्ष ने साम्राज्य अधिमान की नीति (Imperial Preference Policy) को अपना लिया और उसके फल स्वरूप सयुक्त राज्य (United Kingdom) तथ अंग्रेजी उपनिवेशो से आने वाले माल पर कम कर लगाया जाने लगा। इस प्रकार के समझौते को १९३९ में फिर से किया गया। परन्तु द्वितीय महा युद्ध में सीमा-कर की दरो को बढाना पडा १९३९-४०

में कपास के आयात-कर को दुगना कर दिया गया। १६४१–४२ में कृत्रिम रेशमी धागे पर २ आने से ५ आने प्रति पौंड कर लगा दिया गया और १६४२–४३ में कुछ चीजों को छोड कर शेष पर २० प्रतिशत अधिभार लगाया गया। परन्तु इस प्रकार कर बढाए जाने पर भी सीमा-कर की आय जो १६३८–३६ में ४० ५१ करोड रुपये थी १६४३–४४ में २६ २० करोड रुपए रह गई। इसका कारण यह था कि बहुत से देशो से व्यापार होना बन्द हो गया और जहाजो में जगह मिलने में कठिनाई होने लगी। १६४६–४७ के पश्चात हमारे देश के सीमा-कर मे कई प्रकार के परिवर्तन हुए जैसे शराब के ऊपर ½ से ⅓ अधिभार कर दिया गया। सुपारी पर ५½ आने प्रति पौंड का कर लगाया गया। परन्तु ब्रिटिश उपनिवेशो से आने वाले माल पर ६ पाई प्रति पौंड कम कर लगता था। कपास पर २ आने प्रति पौंड का कर लगा दिया गया। सोने पर २५ रु० प्रति तोला तथा चादी पर ८ आने प्रति तोला कर लगाया गया। १६४८–४६ मे कई चीजो पर कर घटा दिया गया जैसे वनस्पति घी पर २०० रु० प्रति टन मे घटा कर १६० रु० प्रति टन कर दिया गया। १६४६–५० में बहुत सी विलासिता की वस्तुओ जैसे शराब, रेशम, ऊन, कागज, घडियो आदि पर आयात-कर बढा दिया गया। इसके अतिरिक्त सिग्रेट, सिगार आदि पर १५ प्रतिशत मूल्यानुसार निर्यात-कर लगाया गया। सरसो के तेल तथा कागज पर भी निर्यात-कर लगाया गया और जूट पर कर बढाया गया। परन्तु १६५२–५३ तक जूट कर को १५०० रु० प्रति टन मे घटा कर २७५ रू० प्रति टन कर दिया गया।

हमारे देश में सीमा-कर आय का एक अच्छा साधन रहा है। १६३७–३८ में इस से ४३ ११ करोड रुपये की आय थी (उस समय इस में केन्द्रीय उत्पादक कर भी सम्मिलित था)। १६४६–४७ में यह बढ कर ८६ २२ करोड हो गई और १६५२–५३ में इस स्रोत की आय बढ कर १७० करोड रुपये हो गई। १६५३–५४ में इस से लगभग १७० करोड रुपये की आय होने की आशा है।

केन्द्रीय उत्पादन-कर (Central Excise)—

उत्पादन-कर उन वस्तुओ पर लगाया जाता है जो देश में उत्पन्न होती है। यह कर या तो वस्तु के बनते समय लगाया जाता है या उसके बन चुकने पर लगाया जाता है। इस कर का भार साधारणतया गरीबो पर पडता है। इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसी वस्तुए कर लगाने के लिए छाटनी चाहियें जो अमीर लोगो के उपभोग में आती है। हमारे देश में साधारणतया विलासिता तथा रूढ आवश्यकताओ पर यह कर लगाया जाता है। भारत में केन्द्रीय सरकार कपडे, चीनी, दियासलाई, तम्बाकू तथा जूट पर यह कर लगाती है।

हमारे देश में मुगल काल में शराब बनाने पर उत्पादन कर लगाया जाता था। अंग्रेजों ने उत्पादन-कर नीति में स्थानीय सुविधा के अनुसार बहुत से परिवर्तन किये। १६०६ के सुधारों के अन्तर्गत इन स्रोत को प्रांतों को दिया गया था परन्तु १६१६ के सुधारों के अनुसार इसके दो भाग कर दिये गए हैं। यह विभाजन वैज्ञानिक रीति से न हो कर सुविधा की दृष्टि से किया गया था। इस प्रकार देशी शराब भांग चरस, गांजा आदि पर प्रान्तीय सरकार कर लगाती थी और अफीम विदेशी शराब दियासलाई चीनी पर केन्द्रीय सरकार लगाती है। १६३५ के विधान तथा भारत के नये विधान के अनुसार भी तम्बाकू, जूट अफीम दियासलाई चीनी कपड़े पर केन्द्रीय सरकार उत्पादन कर लगाती है।

चीनी पर उत्पादन-कर—१६३४ ई० में खाड पर १० आने तथा चीनी पर १ रु० ५ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट की दर से उत्पादन कर लगाया गया। इसका कड़ा विरोध हुआ परन्तु सरकार ने कुछ ध्यान न दिया। १६३७ई० में खाड पर १ रु० ५ आने तथा चीनी पर २ रु० प्रति हन्ड्रेडवेट की दर से लगाया गया। १६४०–४१ में चीनी पर कर की दर बढ़ा कर ३ रु० प्रति हन्ड्रेडवेट कर दी गई और १६४६–५० में इस को बढ़ा कर ३ रु० १२ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट कर दिया गया।

दियासलाई पर उत्पादन कर—१६३४ ई० के दियासलाई (उत्पादन-कर) एक्ट के अनुसार दिया सलाई के उत्पादन पर उत्पादन कर लगाया गया। यह कर उन डिब्बियो पर जिनमें ४० से ६० तक सीक होती थी १ रु० प्रति ग्रोस की दर से और जिनमें ६० से अधिक सीक होती थी २ रु० प्रति ग्रोस की दर से लगाया गया। १६४१ ई० में इस कर को दुगना कर दिया गया। १६४८–४६ में यह कर २ रु० ८ आ० प्रति ग्रोस कर दिया गया। १६५०–५१ में यह कर उत्पादन की दृष्टि से वर्द्धमान कर दिया गया। जो उत्पादक प्रति दिन १०० ग्रोस से कम उत्पादन करते हैं उनको ६० सीकों वाले बक्स पर २ रु० १४ आ० प्रति ग्रोस तथा ४० सीकों वाले बक्स पर १ रु० १४ आने प्रति ग्रोस देना पड़ता है। इसके विपरीत जिन का उत्पादन १०० ग्रोस से ५ लाख ग्रोस तक है उनको ६० और ४० सीकों वाले बक्सो पर क्रमश २ रु० १४ आ० ६ पा० तथा १ रु० १५ आ० प्रति ग्रोस देना पड़ता है। इनके अतिरिक्त दूसरे सभी उत्पादकों को २ रु० १५ आ० तथा १ रु० १५ आने प्रति ग्रोस की दर से यह कर देना पड़ता है।

मिट्टी के तेल पर उत्पादन-कर—मिट्टी के तेल पर सबसे पहले उत्पादन-कर १६३८–३६ में लगाया गया था। उस समय कर की दर २ आने ६$\frac{3}{4}$ पाई प्रति गैलन था। १६४२ में यह कर बढ़ा कर ३ आने ६ पाई प्रति गैलन और १६४४ में ४ आने ६ पाई प्रति गैलन कर दिया गया। १६४६–४७ में यह कर घटाकर ३ आने प्रति गैलन कर दिया गया और तब से अब तक कर की यही दर है।

वनस्पति घी पर उत्पादन-कर—हमारे देश में घी पर उत्पादन-कर १९४३-४४ में लगाया गया था। उस समय दर ५ रु० प्रति हुण्ड्रेडवेट थी। परन्तु १९४८-४९ में इस को बढ़ा कर ७½ रुपये कर दिया गया और आजकल यह ८ रु० प्रति हण्ड्रेडवेट है।

चाय, कहवे तथा सुपारी पर कर—यह कर सबसे पहले १९४४ में लगाया गया था और कर की दर २ आने प्रति पौंड थी। १९४६-४७ में सुपारी पर कर की दर घटा कर १ आना कर दी गई परन्तु चाय और कहवे पर वही दर रही। १९४८-४९ में सुपारी पर से कर पूर्ण रूप से हटा दिया गया, परन्तु चाय और कहवे पर कर की दर २ आने से तीन आने प्रति पौंड कर दी गई। १९५३-५४ के बजट में सुपारी पर २ आने प्रति पौंड की दर से कर बढ़ा दिया गया।

मोटर के तेल पर कर—यह कर १९२९ में सड़कों की स्थिति सुधारने के लिए लगाया गया था। १९३७ ई० से इस कर का १५ प्रतिशत खोज तथा व्यवस्था आदि कार्यों में लगाने केलिए एक प्रस्ताव पास किया। इसलिए इस कर की आय राज्यों में सड़कों की उन्नति करने के लिए इनके पैट्रोल के उपभोग के अनुसार दी जाने लगी। इस कर की दर द्वितीय महा युद्ध में कई बार बढ़ाई गई और अन्त में १९४९-५० में यह १५ आने प्रति गैलन हो गई।

तम्बाकू पर कर—केन्द्रीय सरकार ने इसको सबसे पहले १९४३-४४ में लगाया था। १९४८-४९ में यह कर बिना बने तम्बाकू पर बढ़ा कर १२ आने प्रति पौंड कर दिया गया। इसके पश्चात इस कर में कुछ और भी परिवर्तन हुए। आजकल यह कर ३१ रु० ८ आने प्रति पौण्ड है।
इस प्रकार तम्बाकू से केन्द्रीय सरकार को बहुत सी आय प्राप्त होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार की बहुत सी आय उत्पादन कर से प्राप्त होती है। पर यह कर अधिकतर या तो दृढ आवश्यकताओं पर या आवश्यक आवश्यकताओं पर लगाया जाता है। इस लिए यह प्रतिगामी है।

नमक कर (Salt Duty)—हमारे देश में नमक कर एक बहुत पुराना कर था। कहते हैं कि इस को हिन्दु राजा भी लगाया करते थे। मुगल काल में यह कर पारनयन कर (Transit Duty) के रूप में रहा। परन्तु अकबर ने दूसरे पारनयन करों के साथ इस कर को भी समाप्त कर दिया। लेकिन प्रान्तीय शासक इसको अपने लाभ के लिए लगाते रहे। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को हमारे देश में राज्य सत्ता मिली तब उसने भी इस कर को लगाया। परन्तु उस समय सब प्रान्तों में कर की दर समान नहीं थी। जब कम्पनी को बङ्गाल की दीवानी मिली तब लार्ड क्लाइव ने इस को एकाधिकारी के रूप में बेचना आरंभ किया। परन्तु इससे कम्पनी को घाटा हुआ। इसलिए १७८० ई० में वारन हेस्टिंग्ज ने इस को एक निश्चित मूल्य पर बिकवाना शुरू किया। परन्तु जब इससे भी सरकार की आय में विशेष वृद्धि न

हुई तब लार्ड कार्नवालिस ने १७८८ में सार्वजनिक नीलाम की पद्धति निकाली। यह पद्धति १८३६ ई० तक चलती रही। इससे सरकार को तो बहुत लाभ हुआ परन्तु इसकी बड़ी आलोचना हुई। इस लिये इस पद्धति को समाप्त करके निश्चित मूल्य पर बेचने वाली पद्धति को फिर से चालू किया गया। इसी समय विदेशी नमक पर ३ रु० प्रति मन का कर लगाया गया। इस कर की दर कुछ समय पश्चात घटा कर २॥ रु० प्रति मन कर दी गई। परन्तु नमक कर सब स्थानों पर समान न था १८५७ ई० के स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात नमक पर कर की दर बढ़ा दी गई। १८६१ में यह दर और भी बढ़ा दी गई। १८६९—७० में इस बात का प्रयत्न किया गया कि सारे भारत वर्ष में कर की दर समान कर दी जाये और १८८२ ई० में बंगाल, पंजाब तथा ब्रह्मा को छोड़ कर सारे भारत वर्ष में कर की दर २ रु० ६ आ० प्रति मन थी। कुछ समय पश्चात ब्रह्मा को छोड़ कर सब स्थानों पर २ रु० ८ आ० प्रति मन कर था। यह १९०३ तक चलता रहा। परन्तु १९०३ में कर की दर घटा कर २ रु० प्रति मन कर दी गई। १९०५ में यह दर घटा कर १॥ रु० कर दी गई परन्तु इसको १९०७ में १ रु० प्रति मन कर दिया गया। यह दर ब्रह्मा सहित सारे भारत वर्ष में लागू की गई। युद्ध काल में सरकार ने इस कर की दर को बढ़ा कर १ रु० ४ आ० कर दिया। १९२२ ई० में सरकार इसको २ रु० ८ आ० करना चाहती थी परन्तु भारतीय सदस्यों ने इसका बड़ा विरोध किया। इस लिये यह कर न बढ़ाया जा सका। १९२३—२४ में सरकार फिर इस कर को बढ़ा कर २ रु० ८ आ० करना चाहती थी परन्तु भारतीय सदस्यों ने इसका कड़ा विरोध किया। अन्त में गवर्नर जनरल ने इसको अपने विशेष अधिकारों से लगा दिया। विरोध के कारण अगले वर्ष वित्त मन्त्री ने इसको घटा कर २ रु० प्रति मन कर दिया। परन्तु सदन के भारतीय सदस्यों ने इसको १¼ रु० तक घटाने की मांग की जो वित्त मन्त्री ने स्वीकार करली। यह दर सितम्बर १९३१ तक रही जब कि यह १ रु० ९ आ० कर दी गई। अन्त में १९४७—४८ में जब देश में मध्यवर्ती सरकार (Interim Government) बनी तब इस कर को समाप्त कर दिया गया।

नमक कर के विरुद्ध आलोचनायें—यद्यपि नमक कर हमारे देश में बहुत पुराने समय से लगता आ रहा है परन्तु यहां सदा ही इसका कड़ा विरोध किया गया। सरकार इस कर को लगाते समय यह तर्क देती थी कि यह कर पुराना होने के कारण लोगों को महसूस नहीं होता। इसके अतिरिक्त समस्त जनता तक पहुंचने के लिये और कोई दूसरा कर नहीं है। सरकार का यह भी कहना था कि वह इस कर को समाप्त करके प्रति वर्ष ८ करोड़ रु० की आय नहीं छोड़ सकती। परन्तु जनता इन तर्कों से सन्तुष्ट न होती थी। अन्त में महात्मा गांधी ने अपना १९३१ ई० का असहयोग आंदोलन नमक का कानून तोड़ कर ही आरम्भ किया।

इस करके विरुद्ध लोगोंका कहना था कि नमक जीवन की आवश्यक आवश्यकता है। इस लिये कर लगा कर इसके उपभोग को कम नहीं करना चाहिये। भारतीय कर जाच समिति ने छान बीन के पश्चात यह बात बताई थी कि यदि नमक का कर कम कर दिया जाये तो इससे उसका उपभोग बढ़ता है।

आलोचकों का यह भी कहना था कि यह प्रतिगामी है क्योंकि इसका भार गरीबों पर अधिक पड़ता है। इसका कारण यह है कि उनको नमक पर अपनी आय का एक बड़ा भाग खर्च करना पड़ता है परन्तु अमीर लोग इस पर अपनी आय का एक बहुत ही छोटा भाग खर्च करते हैं।

जब भारत स्वतन्त्र हुआ तब इस कर के सम्बन्ध में फिर वाद विवाद हुआ। कुछ लोगों का कहना था कि जब तक देशकी सत्ता अंग्रेजों के हाथ में थी तब तक नमक कर गुलामी की निशानी थी। परन्तु स्वतन्त्र होने पर इस पर से वह काला धब्बा धुल गया है। इसके अतिरिक्त उनका कहना था कि नमक कर का विरोध आर्थिक कारणों की अपेक्षा भावनाओं से अधिक सम्बन्धित था। इस लिये यदि इस कर को अब लगा दिया जाये तो कोई विशेष हानि न होगी। उनका यह भी कहना था कि आखिर सीमा-कर और उत्पादन कर भी तो अप्रत्यक्ष और प्रतिगामी कर हैं तो फिर इस कर का विरोध क्यों किया जाता है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि नमक-कर हटाने से गरीबों को कोई लाभ नहीं हुआ है क्यों कि नमक का मूल्य बहुत बढ़ गया है। उनका यह भी कहना है कि किसी कर के प्रतिगामी होने के कारण सदा ही उसको समाप्त नहीं कर देना चाहिये। देश में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के कर लगाने पड़ते हैं और यदि हमको यह देखना हो कि कर लगाना चाहिये अथवा नहीं तो हमको देश की सारी कर-पद्धति पर विचार करना होगा। वह यह भी कहते हैं कि सरकार की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखते हुए इस कर का लगाना उचित है। यहां यह बात बतानी उचित है कि भारतीय संविधान इस कर को लगाने की आज्ञा देता है।

बिना वाद विवाद में पड़े इन सब तर्कों के विरुद्ध यह कहना अनुचित न होगा कि हमको सब स्थानों पर आर्थिक दृष्टि कोण को ही सामने नहीं रखना चाहिये, लोगों की भावनाओं पर भी ध्यान देना चाहिये। यदि यह बात न की गई तो जनता उसके विरोध में खड़ी हो जायेगी और उसका देश की शासन व्यवस्था पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। जनता कभी भी इस बात से सन्तुष्ट नहीं होगी कि स्वतन्त्र होने पर इस कर पर से दासता का काला धब्बा धुल गया है और इस लिये इस कर को लगा दिया जाये। और यदि हम विचार करें तो हम कह सकते हैं कि जो कर एक शासन काल में बुरा था वह दूसरे में कैसे अच्छा होगया। इसके बदले सरकार कोई दूसरा कर लगा सकती है जिससे आय तो इतनी ही प्राप्त हो जाये और लोगों

तो यह कर महत्वपूर्ण भी न हो। इस कर को लगाने से देश की गरीब जनता कभी भी इस बात को मानने को तैयार न होगी कि उसको आजादी मिल गई है क्यों कि जनता आजादी मिली हुई तभी समझेगी जब कि उसको पहले से अधिक सुविधा मिलेगी और जीवन की आवश्यक आवश्यकताए कम मूल्य पर प्राप्त होंगी। इन सब बातों के कारण इस कर का लगाना उचित नहीं जान पड़ता।

अफीम कर (Opium Duty)—कहते हैं कि अफीम को कोई मुसलमान आक्रमणकारी फारस से भारतवर्ष में लाया था। उस समय से भारतवर्ष में अफीम की खेती खूब होने लगी। मुसलमान शासकों को इस से बड़ी आय होती थी। जब भारतवर्ष में ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्य हुआ तब उसके नौकर उससे बहुत लाभ उठाने लगे। इसके पश्चात १७७३ ई० में वारन हेस्टिंगस ने इसकी व्यवस्था को अपने हाथ में ले लिया। परन्तु इससे भी स्थिति में कोई सुधार न हुआ। इसके पश्चात १७९९ ई० से कम्पनी के नौकरों को इसकी एजेन्सी दी जाने लगी। इससे आय में बड़ी वृद्धि हुई। १८१६ ई० में चीन के साथ होने वाले अफीम के व्यापार में बड़ा संकट आया जिसके फलस्वरूप लार्ड डलहौजी को इसके नियन्त्रण तथा इसकी व्यवस्था में बहुत सी बदल करनी पड़ी। जब भारत का शासन क्राउन के आधीन चला गया तब इस स्रोत से ५० लाख पौंड की आय होती थी। इसके पश्चात जो वित्त मंत्री नियुक्त किये गये उनमें इस बात पर बड़ा मत भेद था कि इस स्रोत से चीन को अफीम भेज कर आय प्राप्त की जाये अथवा नहीं। १८८३ ई० में एक आयोग की नियुक्ति हुई जिसका सबसे महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि भारत सरकार को अफीम की खेती किसानों पर न छोड़कर स्वयं करानी चाहिये। १८९३ ई० में इंगलैंड की सरकार ने एक आयोग की नियुक्ति की जिसका सुझाव था कि चीन जाने वाली अफीम का निर्यात उस समय तक न रोका जाये जब तक कि चीनी सरकार इस बात की इच्छा प्रगट न करे।

१९०६ ई० में चीन की सरकार ने अपने देश में यह आज्ञा दी कि अफीम की पैदावार तथा उसका उपभोग १० वर्ष में बन्द कर दिया जाये और उसने इस मामले में भारत सरकार से सहायता करने की प्रार्थना की। परन्तु भारत सरकार इसको आसानी से नहीं मानने वाली थी क्यों कि उसको इससे बहुत हानि होने वाली थी। अन्त में १९०७ ई० में भारत सरकार ने १० वर्षों के अन्दर अफीम की निर्यात रोकने का वचन दिया।

१९१५ ई० से भारत सरकार इसको दूसरे देशों के व्यापारियों को न देकर सीधे विदेशी सरकारों को देने लगी।

लीग आफ नेशन्स के विमर्श के अनुसार भारत सरकार ने आयात अनुज्ञा-पत्र पद्धति (Import certificate system) चालू की जिसके अनुसार अफीम

किसी देश को तभी भेजी जा सकती थी जब कि वह इस बात का सबूत दे कि उसको जायज कामों के लिये ही अफीम चाहिये। इसके पश्चात १९२६ ई० में भारत सरकार ने यह घोषणा की कि ३१ दिसम्बर १९३५ ई० तक अफीम का निर्यात सिवाय दवाइयों के शेष सब कामों के लिये बन्द कर दिया जायेगा। १९३६ से अफीम का निर्यात सिवाय भारत की फ्रान्सीसी तथा पुर्तगाली बस्तियों के, ब्रह्मा, अदन तथा संयुक्त राज्य (U. K.) के और दूसरे देशों को नहीं होता और इन सबसे भी भारत सरकार के इस सम्बन्ध में समझौते हैं। भारतवर्ष में भी अफीम उन्हीं दुकानों पर बिक सकती है जिनके पास अनुज्ञा पत्र (Licence) होता है और कोई भी आदमी उसको अफीम की दुकान पर नहीं खा सकता।

१९१०-११ के लगभग भारत को अफीम से ८ करोड़ रुपये से अधिक वास्तविक आय होती थी परन्तु १९२०-२१ में यह घट कर १ करोड़ ८३ लाख रुपये रह गई। उसके पश्चात भी यह आय कम ही होती रही। १९५३-५४ में अफीम से प्राप्त आय २०७ लाख रुपये थी।

रेलें (Railways)—भारतवर्ष में १८५३ ई० में रेलें बननी प्रारम्भ हुईं। १८५९ में आठ कम्पनियों को ५००० मील लम्बी रेलें बनाने का ठेका दिया गया। इन ठेकों की शर्तों के अनुसार सरकार ने कम्पनियों को बहुत सी सुविधायें दी और विशेषतः उनको ५ प्रतिशत लाभांश की गारन्टी दी जिसके फलस्वरूप कम्पनियों ने लापरवाही से काम किया और इससे भारत सरकार को १८६९ तक १६६६ लाख रुपये की हानि हुई। इसके पश्चात् १८६९ से लेकर १८७९ ई० तक भारत सरकार ने स्वयं रेलें बनाने का कार्य किया परन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण सरकार को फिर से कुछ नई शर्तों पर कम्पनियों को ठेके देने पड़े। इन शर्तों में ३½ प्रतिशत के लाभांश की गारन्टी दी गई थी। १८७९ से १९०० ई० तक भारत में बहुत सी महत्वपूर्ण रेलें बनी। परन्तु १८९९ तक रेलों से भारत सरकार को कोई लाभ प्राप्त न हुआ। इस बीच में भारत सरकार को ५८ करोड़ रुपये की हानि हुई। १९०० ई० में सबसे पहले भारत सरकार को रेलों से लाभ हुआ। कई वर्षों तक रेलों से लाभ होता रहा परन्तु फसलों के खराब होने तथा दूसरे कुछ कारणों से रेलों को कई वर्षों तक हानि होती रही। प्रथम महायुद्ध में रेलों को बहुत लाभ हुआ। परन्तु युद्ध समाप्त होने पर रेलों को फिर हानि होने लगी। इसलिये रेलों के सम्बन्ध में विचार करने के लिये एकवर्थ समिति (Acworth Committee) को नियुक्त किया गया। इस समिति के सुझावों के अनुसार रेलवे बजट को साधारण बजट से अलग कर दिया गया। ऐसा करते समय रेलों से एक समझौता किया गया जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि रेलवे, सरकार को प्रति वर्ष की लगी हुई कुल पूंजी का १ प्रतिशत तथा उस वर्ष में होने वाले लाभ का ⅕ भाग देगी। इसके अतिरिक्त रेलवे

को किसी अतिरिक्त बचत क तीन करोड रुपये के ऊपर की रकम पर एक तिहाई केन्द्रीय सरकार को ग्रौर देने की व्यवस्था की गई। इस सबके पश्चात जो शेष बचे वह रेलवे के सुरक्षित कोष मे जमा किया जाये।

१६२४ मे १६३०–३१ तक रेलो को लाभ होता रहा ग्रौर इस बीच मे रेलो ने ४,१६५ लाख रुपये साधारण बजट को दिये। परन्तु उसके पश्चात् रेलो को हानि होने लगी। १६३०–३१ मे यह हानि ५ ११ करोड रुपये १६३१–३२ में ६ २० करोड १६३२–३३ मे १० २३ करोड १६३३–३४ में ७ ६६ करोड १६३४–३५ में ५ ०६ करोड रुपये थी। इन हानियों के कारण रेलवे का सुरक्षित कोष समाप्त हो गया। परन्तु फिर भी साधारण बजट को दी जाने वाली रकम ग्रदा न की जा सकी। १६३७ ई० मे सरकार ने इस ऋण को चुकाने की अवधि तीन वर्ष रखी। फिर यह ग्रवधि १६४२ तक ग्रौर इसके पश्चात १६४३ तक बढादी गई। १६४३ मे सब ऋण चुका दिया गया।

युद्धकाल मे रेलो को बहुत लाभ हुग्रा। कुल यातायात ग्राय (Gross traffic receipts) जो १६३६–४० में १०२ ७३ करोड रुपये थी बढकर १६४५-४६ में २२५ करोड रुपयें हो गई। रेल की बचत भी जो १६३६–४० में ४ ३३ करोड रुपये थी बढकर १६४३–४४ मे ५० ८४ करोड रुपये हो गई। इस बढ़ी ग्राय के कारण रेलों ने साधारण बजट का ३५ ६१ करोड रुपया तथा ग्रवमूल्यन रक्षित कोष (Depreciation Reserere Fund) का ३० करोड रुपया चुका दिया। इसके अतिरिक्त साधारण बजट को १५८ ४३ करोड रुपये ग्रौर भी दिये।

१६४३ मे रेलो के साथ एक दूसरा समझौता किया गया जिसके ग्रनुसार यह तय हुग्रा कि रेलो ग्रौर साधारण बजट की ग्रावश्यकताग्रो का ग्रनुमान प्रति वर्ष लगाया जाये ग्रौर उसी के ग्रनुसार यह तय हो कि रेलें ग्रौर साधारण बजट रेलो के लाभ का कितना भाग लेंगे। १६४३ ई० के लिये यह ३ १ के ग्रनुपात मे तय हुग्रा। उसमें ग्रगले वर्ष यह तय हुग्रा कि रेलें १६४४–४५ ग्रौर १६४५–४६ में प्रति वर्ष ३२ करोड रुपये देंगी।

१६४६ ई० में रेलो से एक ग्रौर नया समझौता हुग्रा जिसके ग्रनुसार यह तय हुग्रा कि रेलें लगी हुई पूंजी पर १ प्रतिशत ब्याज देंगी। युद्ध कार्य के लिये बनाई गई रेलो पर होने वाली हानि को घटा दिया जायेगा। इसके पश्चात तीन करोड रुपये रेलवे उन्नति कोष में हस्तान्तर करके जो बचे उसका ग्राधा साधारण बजट को दिया जाये। इस योजना के ग्रनुसार १६४६—४७ मे साधारण बजट को ५ ६१ करोड रुपये मिले। इससे ग्रगले वर्ष रेलो को हानि होने के कारण वह साधारण बजट में कुछ न दे सकी।

१६४८ में श्री जी बी मावलन्कर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जिसने सिफारिश की कि रेलों को ४५० करोड़ रुपये साधारण बजट को, ०८४ करोड़ रुपये उन्नति कोष को, तथा ४५० करोड़ रुपये रेलवे रक्षित कोष को हस्तान्तर करने चाहियें। सरकार ने इन सिफारिशों को मान लिया। इसके होते हुए भी रेलों के साधारण बजट को ७ ३४ करोड़ रुपये दिये। १९४६–५० में उन्होंने ७ करोड़ रुपये दिए।

१९४६ में एक समिति को नियुक्त किया गया जिसने निम्नलिखित बातों की सिफारिश की —

(१) रेलों और साधारण बजट के सम्बन्धों को इस प्रकार बदला जाये जिससे कि वह साधारण बजट को ५ वर्षों तक ४ प्रतिशत लाभांश गारन्टी करें। इस समझौते पर पांच वर्ष पश्चात विचार किया जाये।

(२) ५ वर्षों तक वह अवमूल्यन कोष में १५ करोड़ रुपये प्रति वर्ष हस्तान्तर करें।

(३) *एक उन्नति कोष कायम किया जाये जिसमें रेलों की बचत हस्तान्तर की जाये।*

इसके अनुसार ही आजकल रेलें साधारण बजट को अपना लाभ हस्तान्तर करती हैं।

डाक और तार (Post and Telegraph)—१९१२ ई० तक डाक और तार विभाग अलग अलग थे। परन्तु उसके पश्चात १९१४ में भारत मन्त्री के आदेशानुसार वह मिला दिए गए। पहले डाक और तार विभाग भारत सरकार के व्यापार तथा उद्योग विभाग के आधीन था पर अब उसका एक अलग मंत्री होता है।

डाक और तार विभाग द्वारा सरकार को कई प्रकार से आय प्राप्त होती है जैसे खत व लिफाफे भेजने, *डाक द्वारा हल्का सामान इधर उधर भेजने,* छपे हुए विषय को डाक द्वारा भेजने, मूल्य के भाभार्थ सामान को डाक द्वारा भेजने, रुपये को डाक द्वारा भेजने, तार आदि देने आदि से आय प्राप्त होती है। *परन्तु यह आय* बहुत कम होती है और खत आदि के भेजने से तो सरकार को हानि रहती है। *१९५३–५४ का बजट पेश करते समय वित्त मन्त्री ने बताया कि* गावों में १६,००० से भी अधिक डाकखाने खोलने तथा वेतन आयोग (Pay Commission) की सिफारिशों के अनुसार छोटी श्रेणी के कर्मचारियों का वेतन बढ़ाने के कारण डाक सेवाओं को चलाने में मार्च १९५२ से पूर्व के चार वर्षों में सरकार को ३ ६१ करोड़ की हानि हुई। इस वर्ष और अगले वर्ष की हानि का अनुमान क्रमश २ २३ करोड़ तथा ० ६८ करोड़ रुपये से अधिक है। इस विभाग से सरकार को १९३८—३९ में लगभग ११ लाख रुपये की वास्तविक आय प्राप्त हुई थी। यह आय १९४४-४५

तथा १९४५-४६ में १०.२५ करोड़ रुपये तथा ११.३१ करोड़ रुपये हो गई। परन्तु उसके पश्चात् यह आय कम होती चली गई, जैसे १९५१-५२ में ३.८७ करोड़ रुपये थी तथा ५२-५३ में १.६० करोड़ थी। परन्तु १९५३-५४ में इसमें २,०२ लाख रुपये की आय हुई। इसीलिए बीमा और रजिस्ट्री आदि की दरों में वृद्धि की गई।

सिक्के और नोट (Coinage and Currency)—भारत सरकार को सिक्के बनाने से १८६८ ई० से लाभ होना प्रारम्भ हुआ। १९३५ ई० में रिजर्व बैंक की स्थापना पर यह लाभ बहुत बढ़ गया क्योंकि बैंक पर यह पाबन्दी थी कि वह अपने हिस्सेदारों को ३½ प्रतिशत से अधिक (१९४२-४३ से ४ प्रतिशत) लाभांश न देगा। इसके अतिरिक्त उस पर यह भी पाबन्दी थी कि जब तक उसका रक्षित कोष (Reserve Fund) ५ करोड़ न हो जाये तब तक यह लाभांश न दे। लाभांश देने के पश्चात् जो बचता था वह साधारण बजट में चला जाता था। १ जनवरी १९४९ से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया। इसलिए सरकार को इस स्रोत से आय बढ़ने की आशा है। १९३८-३९ में इस स्रोत से कुल आय लगभग ७८ लाख रुपये थी। परन्तु १९५१-५२ में यह बढ़कर ११.३१ करोड़ रुपये, १९५२-५३ में १०.७७ करोड़ रुपये, १९५३-५४ में १५.४१ करोड़ रुपये थी।

संघ सरकार का व्यय

रक्षा व्यय (Defence Expenditure)-भारतवर्ष में रक्षा व्यय सदा ही अधिक रहता आया है। १८९१ ई० में यह कुल व्यय का ६३.२६ प्रतिशत था। १९२१ में बढ़कर यह ८२.३१ प्रतिशत हो गया। उसके पश्चात् यह १९३९-४० में घट कर ५२.२ प्रतिशत रह गया। परन्तु द्वितीय महायुद्ध में यह फिर बढ़ने लगा, यहां तक कि १९४३-४४ में यह ८१.१ प्रतिशत हो गया। आजकल भी यह ६५ प्रतिशत के लगभग है।

अंग्रेजी शासन काल में रक्षा व्यय कई बातों के कारण अधिक था। पहली बात यह थी कि भारत सरकार को केवल भारत की रक्षा के लिए ही खर्च नहीं करना पड़ता था वरन् अपने आस पास के देशों में शान्ति रखने के लिए भी खर्च करना पड़ता था। भारत को बहुत बार अपनी फौज विदेशों में युद्ध लड़ने के लिए भेजनी पड़ी और सेना का साधारण खर्च भारत सरकार को करना पड़ा। दूसरी बात यह थी कि अंग्रेज सरकार इसलिए भी अधिक सेना रखती थी जिससे भारतवर्ष में खड़े होने वाले किसी भी विद्रोह को आसानी से दबा सके। तीसरी बात यह थी कि भारतीय सेना में भारतवासियों के अतिरिक्त गोरे सिपाही तथा बड़े २ अफसर बहुत थे जिनको भारतवासियों से कई गुना वेतन दिया जाता था। चौथी बात यह थी कि भारतवर्ष को अंग्रेजी युद्ध दफ्तर (British War Office) को भारत की

की सेना के लिए सिपाही रखने तथा उन्हें शिक्षा देने के लिए एक भारी रकम देनी पड़ती थी। परन्तु इनके रखने अथवा शिक्षा देने के सम्बन्ध में भारत सरकार कुछ भी नहीं कर सकती थी। इस भरती और शिक्षा पर भारत सरकार को १९११ ई० में १८८४ हजार पौंड और १९१० में ३०४१ हजार पौंड खर्च करना पड़ा। इनके अतिरिक्त १९२१-२२ से भारत सरकार को १ लाख पौंड वायु सेना के कर्मचारियों को जो भारतवर्ष में काम करते थे देना पड़ता था। भारत सरकार को अंग्रेजी अफसरों की अदला बदली का आधा व्यय भी सहन करना पड़ता था।

इन सब बातों के कारण भारत के रक्षा व्यय के विरुद्ध निम्नलिखित आलोचनायें की जाती थी—

(१) भारतीय सेना में अंग्रेजी सिपाहियों तथा अफसरों की अधिकता थी जिनको भारतीय सिपाहियों तथा अफसरों से ४-६ गुना वेतन तथा भत्ते देने पड़ते थे।

(२) भारतीय सेना भारत की रक्षा के हेतु इतनी नहीं रखी जाती जितनी कि वह अंग्रेजी शासन को बढ़ाने के लिए रखी जाती थी।

(३) बहुत सा ऐसा खर्च था जो भारतवर्ष से नहीं लिया जाना चाहिए था।

(४) भारतीय सेना तथा उससे सम्बन्धित नीति भारत सरकार के हाथ में नहीं थी वरन् अंग्रेजी युद्ध दफ्तर के हाथ में थी।

देश के स्वतन्त्र होने पर यह आशा की जाती थी कि भारत का रक्षा व्यय कई बातों के कारण कम हो जायेगा जैसे (१) युद्ध समाप्त हो चुका है और इसलिए अब रक्षा पर पहले जितना खर्च करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। (२) देश के विभाजन के कारण अब देश के ऊपर कम क्षेत्र की रक्षा का भार रह गया है। (३) अंग्रेजी शासनकाल में जो अनुचित खर्च भारतवर्ष से लिया जाता था वह समाप्त हो जायगा। परन्तु यह आशा पूरी नहीं हुई और हमारे देश का रक्षा व्यय बढ़ता जा रहा है।

इस व्यय के बढ़ने के निम्नलिखित कारण है—

(१) स्वतन्त्र होने पर भारतवर्ष को आवश्यकता के समय पहले के समान अंग्रेजी फौज से सहायता नहीं मिल सकती। इसलिए भारतवर्ष को अपने पास हर प्रकार की पूरी फौज रखनी पड़ती है।

(२) स्वतन्त्र होने पर भारत में इतनी उथल पुथल हो गई थी कि उसको ठीक करने के लिए एक बड़ी सेना रखनी आवश्यक थी।

(३) भारतवर्ष को काश्मीर के ऊपर भी लगभग ३० करोड़ रुपये खर्च करने पड़ते हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व हैदराबाद के दङ्गों को समाप्त करने में सरकार को कुछ खर्च करना पड़ा था।

(४) विभाजन के कारण भारतवर्ष की स्थल सीमा बहुत बढ़ गई है। यह सीमा पाकिस्तान से मिली हुई है। इस पर पाकिस्तान के सिपाही समय समय पर झगड़े करते रहते हैं। इन सब झगड़ों को शान्त करने के लिए तथा पाकिस्तान के सशस्त्र हमले को रोकने के लिए भारतवर्ष को बहुत सेना रखनी पड़ती है। आजकल ऐसी चर्चा चल रही है (और यह सत्य है, क्योंकि पाकिस्तान ने इसको मान लिया है) कि पाकिस्तान अमरीका को अपने देश में हवाई अड्डे देगा तथा बदले में उससे सब प्रकार के शस्त्र आदि लेगा जिससे कि वह भारत से काश्मीर को छीन सके। इस कारण हमारा रक्षा व्यय बढ़ना आवश्यक ही है।

(५) भारतवर्ष में ऊंची सैनिक शिक्षा देने के लिए कई केन्द्र खोले गए हैं जिन पर काफी खर्च होता है।

(६) भारतवर्ष में युद्ध का सामान बनाने के लिए भी कई कारखाने खोले गए हैं जिनमें बहुत सा धन खर्च होता है।

(७) सेना के रहने के लिए बैरक आदि के प्रबन्ध करने में भी सरकार का बहुत सा धन खर्च हुआ। यह खर्च इसलिए किया गया क्योंकि सेना के रहने के बहुत से स्थान पाकिस्तान में चले गए।

भारत का रक्षा व्यय पहले के समान आजकल भी चर्चा का विषय है। लोगों का कहना है कि जब कि संयुक्त राष्ट्र (U S A.) अपने कुल व्यय का २४ प्रतिशत संयुक्त राज्य (U K) १३ प्रतिशत और रूस १७ प्रतिशत खर्च करता है तो फिर भारतवर्ष रक्षा व्यय पर ४५ प्रतिशत के लगभग क्यों खर्च करता है। रक्षा पर इतना अधिक व्यय होने के कारण राष्ट्रीय उत्थान कार्यों में बहुत कम धन खर्च हो पाता है। परन्तु हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि भारत में रक्षा का भार केवल केन्द्र के ऊपर है और यदि हम केन्द्र और राज्यों के कुल व्यय के हिसाब से रक्षा पर हुए व्यय का अनुमान लगायें तो वह केवल २५ प्रतिशत के लगभग होगा। इसके अतिरिक्त भारत को स्वतन्त्रता मिले अभी थोड़ा ही समय हुआ है और उसके पास अभी तक युद्ध के नये प्रकार के साधन नहीं हैं जिनको वह प्राप्त कर रहा है। इनको प्राप्त करना इसलिए तो बुरा है कि हम किसी देश की आजादी को हड़प लें परन्तु इस युग में जब कि हर देश में हथियारों की दौड़ हो रही है यदि हम उनको प्राप्त न करेंगे तो हम अपनी आजादी को भी खो बैठेंगे। इसके अतिरिक्त जब तक पाकिस्तान भारत की तरफ से अपना रवैया न बदलेगा तब तक भारतवर्ष के लिए एक बड़ी सेना रखना आवश्यक हो जायेगा। हमारे लिए यह भी आवश्यक है कि हम अपने देश के नौजवानों को सैनिक शिक्षा दें। इन सब बातों के कारण निकट भविष्य में हमारा युद्ध-व्यय घटता दिखाई नहीं पड़ता, वह बढ़ सकता है।

जन व्यय (Civil Expenditure)

इसमे कई प्रकार का व्यय सम्मिलित है।

सामान्य प्रशासन (General Administration)—१९१९ ई० तक गवर्नर-जनरल तथा उसके कर्मचारीवर्ग का वेतन तथा भत्ते, प्रान्तों के गवर्नर तथा उनके कर्मचारीवर्ग का वेतन तथा भत्ते, बहुत से विभागों के खर्चे, विधान सभाओं के खर्चे, इङ्गलैण्ड में स्थित इण्डिया आफिस का व्यय, भारत मन्त्री का वेतन तथा उसके भत्ते आदि सम्मिलित थे। परन्तु १९१९ के सुधारों के पश्चात १९२१ ई० मे प्रान्तीय सरकारो का हिसाब अलग कर दिया गया और इसके पश्चात केवल केन्द्रीय सरकार का व्यय ही इस मद्द के अन्तर्गत दिखाया जाने लगा। १९३५ के सुधारो के पश्चात इस मद्द के अन्तर्गत निम्नलिखित व्यय सम्मिलित थे—

(१) सरकारी विभागो का वेतन, भत्ते तथा दूसरे व्यय।

(२) इण्डिया हाउस जो लन्दन में बना है उसमे सम्बन्धित सब व्यय।

(३) मन्त्री मण्डल का व्यय।

(४) केन्द्रीय विधान सभा का व्यय। इसमें गवर्नर जनरल का व्यय सम्मिलित नही था। इस पर कोई राय नही ली जाती थी। स्वतन्त्र होने के पश्चात इस मद्द के अन्तर्गत निम्नलिखित व्यय सम्मिलित है—

(अ) मन्त्री मण्डल का व्यय, (ब) लोक सभा का व्यय, (स) भारत सरकार के विभिन्न मन्त्रियों के दफ्तरों का व्यय।

इन सब खर्चों में से १५ अगस्त १९४७ से इण्डिया हाउस के समाप्त कर देने पर उसका व्यय कम हो गया है।

देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात यह आशा की जाती थी कि सामान्य प्रशासन पर व्यय कम हो जायेगा परन्तु कम होने के स्थान पर यह खर्च बढ गया है। १९३८-३९ में यह लगभग १८७ लाख रुपये था। विभाजन से पूर्व १९४६-४७ में यह बढ कर ६१९ लाख रुपये हो गया। विभाजन के पश्चात यह आशा की जाती थी कि इस मद्द पर व्यय बहुत मात्रा तक घट जायेगा। परन्तु घटने के स्थान पर वह बहुत अधिक बढ गया है और निरन्तर बढता ही जा रहा है। १९५१-५२ में यह व्यय बढकर ५,६६६ लाखरुपये, १९५२-५३ में ५,६२३ लाख रुपये, १९५३-५४ में ६८,५७ लाख रुपये थी। इस प्रकार व्यय बढने के कई कारण है—

(१) बहुत से नये नये मन्त्रालयों का स्थापित होना। पहले के दस मन्त्रालयों के स्थान पर आजकल लगभग १९ मन्त्रालय है। (२) बहुत से नये मन्त्री बढा दिये गये है। (३) लोक सभा का खर्च पहले की अपेक्षा बहुत बढ गया है। (४) केन्द्रीय वेतन आयोग (Central Pay Commission) के सुझावों के

अनुसार बहुत से अफसरों तथा कर्मचारियों का वेतन बढ़ गया है। (५) हर मंत्री के अन्तर्गत कार्य करने वाले अफसरों तथा कर्मचारियों की संख्या बहुत बढ़ गई है। इसका अनुमान निम्नलिखित आँकड़ों से लगाया जा सकता है[1]—

मंत्री-पद का नाम	अफसरों की संख्या		कर्मचारियों की संख्या	
	१९४६–४७	१९५०–५१	१९४६–४७	१९५०–५१
गृह-कार्य	७७	१५१	४४२	१९८३
सूचना तथा ब्राडकास्टिंग	१७	१०८	२५९	९५५
शिक्षा	२९	६०	१०८	११००
कृषि	३९	९७	२१३	५९०
विदेशी कार्य आदि	१९	७७	१३७	७१५
आवा-गमन	२८	८५	३०८	४३२
वित्त	१९४	२७५	१४३५	२२८९

उपर्युक्त तालिका में कुछ ही मंत्रियों के अफसरों तथा कर्मचारियों की संख्या दिखाई गई है। शेष में भी अफसरों और कर्मचारियों की संख्या इसी प्रकार बढ़ गई है। (६) दूतावासों की स्थापना तथा उनकी संख्या में वृद्धि। अब हमारे देश के दूतावास प्रायः सभी देशों में हैं। इन दूतावासों का खर्च भी बहुत अधिक है।

हिसाब की जांच (Audit of Accounts)—१९२१ ई० तक इस मद का व्यय सामान्य प्रशासन के अन्तर्गत दिखाया जाता था परन्तु उसके पश्चात यह अलग दिखाया जाने लगा। इसमें भारत के महालेखा परीक्षक का वेतन, भत्ते तथा दफ्तर का व्यय, लेखा तथा जाँच विभागों के कर्मचारियों का वेतन तथा भत्ते, खाद्य, उद्योग तथा प्रदाय के महालेखा पाल का वेतन, भत्ते तथा दफ्तर का व्यय आदि सम्मिलित है। इस मद पर भी पहले की अपेक्षा बहुत खर्च बढ़ गया है। इसके कई कारण है—(१) अफसरों की संख्या जो १९४६–४७ में १९४ थी वह बढ़ कर १९४८–४९ में २४२ हो गई, (२) दफ्तर का व्यय भी बढ़ गया है, (३) आने जाने के खर्चों तथा भत्तों में वृद्धि हो गई।

न्याय व्यवस्था (Administration of Justice)—१९२० ई० तक इस मद में दीवानी और फौजदारी के दफ्तरों का व्यय सम्मिलित किया जाता था। इसके अतिरिक्त इसमें जेलों का खर्च भी सम्मिलित किया जाता था। परन्तु १९२१ ई० से जेलों का खर्च इसमें से निकाल दिया गया है। प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना पर

1 Figures in the above table taken from Mehta and Agarwal—Public Finance— p. 245.

पुलिस व न्याय का भार प्रान्तों पर पड़ने लगा परन्तु भारत के संघीय न्यायालय का खर्च भारत सरकार पर ही रहा। इस प्रकार इस मद्द के अन्तर्गत निम्नलिखित व्यय सम्मिलित हैं—

(१) संघीय न्यायालय के न्यायाधीश तथा दूसरे अफसरों का वेतन, (२) दफ्तरों का खर्च (३) भारत के महाधिवक्ता (Advocate-General) का वेतन, (४) सफर खर्च तथा दूसरे भत्ते, (५) विशेष न्यायालयों की स्थापना का खर्च। भारत के नये विधान में संघीय न्यायालय को सर्वोच्च न्यायालय के नाम से पुकारा जाने लगा है।

पुलिस (Police)—१९२१ से पहले पुलिस केन्द्रीय शासन के आधीन थी। परन्तु १९१९ ई० के सुधारों के अनुसार यह एक प्रान्तीय मद्द कर दिया गया। इस लिये केन्द्रीय सरकार को आजकल बहुत कम खर्च करना पड़ता है। केन्द्रीय सरकार केवल उन्हीं क्षेत्रों के लिये पुलिस रखती है जो उसके द्वारा शासित हैं।

राजनीतिक (Political) – १९३७–३८ तक इसमें कई मद्द सम्मिलित थे, जैसे, [१] नीतिज्ञों तथा वाणिज्य दूतावासों का खर्च, [२] देशी रियासतों में रखे गये रेजिडेन्टों तथा राजनीतिक एजेन्टों का खर्च, [३] ताउन प्रतिनिधि का खर्च, [४] गणजाति क्षेत्रों का खर्च, [५] सीमा पर देख भाल करने के लिये रखी गई सेना। प्रान्तीय स्वशासन के स्थापित होने पर इस मद्द के अन्तर्गत किये गये खर्च को तीन भागों में बांटा गया— [१] ताउन प्रतिनिधि का खर्च, [२] गणजाति क्षेत्रों का खर्च तथा [३] विदेशी कार्य। इस खर्च के ऊपर विधान सभा में कोई राय नहीं ली जाती थी। भारत के स्वतन्त्र होने पर इनमें से पहले मद्द का खर्च समाप्त हो गया है। आजकल भारत के राष्ट्रपति का खर्च अलग दिखाया जाता है और यह भारत की संचित निधि में से निकाला जाता है। दूसरे, दोनों के ऊपर अब लोक सभा को राय देने का अधिकार है। १९४७ ई० से गणजाति क्षेत्रों का खर्च कम हो गया है क्योंकि वह पाकिस्तान में चले गये हैं। परन्तु भारत के दूतावासों का खर्च अब बहुत बढ़ गया है। शिक्षा चिकित्सा तथा स्वास्थ्य (Education, Medical and Health) इन तीनों के अलग अलग विभाग हैं। १९१९ के सुधारों से पहले यह तीनों मद्द केन्द्रीय सरकार के आधीन थे परन्तु उसके पश्चात यह प्रान्तों के हाथ में चले गये। फिर भी कुछ विश्वविद्यालय ऐसे हैं जिनको केन्द्रीय सरकार सहायता देती है। चिकित्सा और स्वास्थ्य पर भी सरकार सहायता रूप में तथा दूसरे ढंगों से खर्च करती है। परन्तु इन मद्दों पर जो खर्च होता है वह आवश्यकता से बहुत कम है। प्रान्तीय सरकार भी धन की कमी के कारण इन मद्दों पर कम खर्च करती है। इस लिये केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह इन मद्दों पर अपना व्यय बढ़ावे।

इन सबके अतिरिक्त सरकार कुछ धन उद्योगों, वायुयानों, ब्राडकास्टिंग प्रसार आदि पर भी खर्च करती है।

शरणार्थियों के फिर से बसाने का खर्च (Rehabilitation of Refugees)—देश के विभाजन से शरणार्थियों की समस्या भी भारत सरकार के सामने आकर उपस्थित हो गई। पाकिस्तान में स्थित हिन्दुओं को भारत में आना पड़ा। आने वालों में अधिकतर ऐसे थे जिनके पास न खाने के लिए अन्न था और न पहनने के लिये कपड़ा और न रहने के लिये घर। इन अभागे लोगों की सहायता भारत के लोगों, प्रान्तीय सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार ने बहुत सा धन खर्च करके की। १९४७ के मध्यवर्ती बजट में शरणार्थियों पर २२ करोड़ रुपए का प्रबन्ध किया गया था। १९४८-४९ में बहुत से लोगों के बस जाने पर इस मद पर कुछ कम धन खर्च होने की आशा थी पर ऐसा न हुआ और इस मद पर १६.४५ करोड़ रुपये खर्च हुए। १९५१-५२ में यह खर्च घट कर १३.८३ करोड़ रुपये रह गया। १९५२-५३ में यह घट कर केवल ११.३२ करोड़ रुपये ही रहा गया। परन्तु १९५३-५४ में यह बढ़ कर १२.६७ करोड़ रुपये हो गया।

खाद्य सामग्री पर अर्थ सहायता (Subsidy on Food Grains)—भारतवर्ष में अन्न का अभाव बहुत दिनों से प्रतीत किया जा रहा था। देश के विभाजन के पश्चात अन्न का अभाव और भी अधिक बढ़ गया। इस कारण भारतवर्ष को विदेशों से अन्न मंगवाना पड़ा। पर विदेशों से मंगवाया हुआ अन्न बहुत महंगा पड़ता था। उसको सस्ता बेचने के लिए भारत सरकार अर्थ सहायता दिया करती थी। इस सहायता का धन १९५१-५२ में ३८.६६ करोड़ रुपये था और १९५२-५३ में २१.११ करोड़ रुपये था। परन्तु इस वर्ष के पश्चात सरकार ने इस मद पर खर्च करना बिल्कुल बन्द कर दिया है।

भारत में नागरिक प्रशासन पर किया गया खर्च भी रक्षा व्यय के समान सदा ही आलोचना का विषय रहा है। अंग्रेजों के शासन काल में इस मद पर बहुत धन खर्च होता था। देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात यह आशा की जाती थी कि इस मद पर व्यय बहुत मात्रा में घट जायेगा। परन्तु ऐसा होने के बदले वह कई गुना बढ़ गया है। अब मन्त्रि मंडल में मन्त्रियों की संख्या पहले से लगभग दुगनी हो गई है। इन मन्त्रियों के नीचे काम करने वाले अफसरों तथा कर्मचारियों की संख्या भी बढ़ कर कई गुनी हो गई है। इसके अतिरिक्त विदेशों में दूतावासों पर भी बहुत सा खर्च बढ़ गया है। इस प्रकार चारों ओर खर्च बढ़ गया है और बढ़ता ही जा रहा है। इसमें से बहुत सा व्यय आसानी से कम हो सकता है। कर्मचारियों और अफसरों की संख्या कम की जा सकती है। दूतावासों का व्यय भी घटाया जा सकता है।

भत्ते और सफर खर्च कम किया जा सकता है। इस प्रकार इस मद का खर्च बहुत कम किया जा सकता है।

आय एकत्र करने पर खर्च (Cost of Collection of Revenue)—केन्द्रीय सरकार को आय कर, सीमा कर, अफीम कर, जूट-कर, आदि के एकत्र करने के लिए बहुत से व्यक्तियों को रखना पड़ता है। इन सब को सरकार वेतन देती है। यह व्यय भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। १९३८-३९ में इस मद पर ४७५ १३ लाख रुपये खर्च होते थे। १९४७-४८ में देश के विभाजन पर यह खर्च ५४५ १० लाख रुपये था। उसके पश्चात इस खर्च के घटने की आशा थी क्योंकि बहुत सा क्षेत्र भारत में निकल कर पाकिस्तान में चला गया। पर ऐसा न हुआ। विभाजन के अगले ही वर्ष में यह खर्च बढ़ कर ८६२ १४ लाख रुपये हो गया। उसके पश्चात भी यह खर्च बढ़ता ही रहा, यहाँ तक कि १९५१-५२ में यह १९६५ लाख और १९५२-५३ में ३१०५ लाख हो गया। १९५३-५४ में यह खर्च ३०,९२ लाख रुपये हो गया। दूसरे मदों के समान इस मद पर भी अफसरों तथा कर्मचारियों की संख्या तथा उनका वेतन तथा भत्ते बढ़ने के कारण खर्च बढ़ गया है। यह खर्च भी कम किया जा सकता है। सरकार अफसरों तथा कर्मचारियों की संख्या घटाई जा सकती है। उनके भत्ते तथा वेतन आदि कम कर सकती है। परन्तु अभी सरकार का इस ओर प्रयत्न नहीं हुआ है।

भारतीय कर पद्धति की कुछ विशेषतायें—भारतवर्ष की कर पद्धति की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) भारतवर्ष में करों के एकत्र करने का उद्देश्य आय प्राप्त करना है। करों के द्वारा धन की असमानता को कम करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। यह बात सत्य है कि भारतवर्ष में बड़ी बड़ी आयों पर वर्द्धमान कर लगाया जाता है परन्तु फिर भी गाँव और शहरों को करों का समान भार सहन नहीं करना पड़ता। गाँव वाले लोगों पर बहुत कम कर लगाया जाता है। परन्तु शहर में रहने वालों पर कर का एक बड़ा भार होता है। यही नहीं, यदि दो व्यक्ति एक सी ही आय प्राप्त कर रहे हों तो उनको समान कर देना पड़ेगा चाहे एक का परिवार छोटा हो और दूसरे का बड़ा। हमारे देश में इंगलैण्ड के समान पारिवारिक सहायता नहीं दी जाती।

(२) भारतवर्ष में मिश्रित कर पद्धति है। यहाँ पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के ही कर लगाए जाते हैं। मालगुजारी तथा आय-कर प्रत्यक्ष कर हैं तथा सीमा-कर, उत्पादन कर आदि अप्रत्यक्ष कर हैं।

(३) भारतवर्ष में द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अप्रत्यक्ष कर प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण थे। १९२४ ई० की कर जाँच समिति ने भी यह बात

मानी थी कि भारतवर्ष में करों का भार गरीबों पर अधिक और अमीरों पर कम है। १६३८-३६ तक भारत सरकार की कुल आय का २२ ६ प्रतिशत भाग प्रत्यक्ष करो के रूप में आता था। परन्तु द्वितीय महायुद्ध से प्रत्यक्ष करो का महत्व बढने लगा है। इसका अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है। यह तालिका यह बताती है कि भारत सरकार की कुल आय का कितने प्रतिशत प्रत्यक्ष करो मे प्राप्त होता था—

वर्ष	१६४१-४२	१६४२-४३	१६४३ ४४	१६४४ ४५	१६४५-४६	१६४६ ४७
प्रत्यक्ष कर का कुल आय से प्रतिशत	२६ ३	८२	४६ ३	४८ ३	४० ८	३७ ५

इस प्रकार हम देखते है कि प्रत्यक्ष करों का महत्व बढता जा रहा है। परन्तु द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर अप्रत्यक्ष कर फिर प्रत्यक्ष करो की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गए है। परन्तु इस बात के होते हुए भी यह बताना आवश्यक है कि भारतवर्ष में लोगो पर कर लगाने की गुन्जायश नही रही है। यदि सरकार कर लगाना चाहती है तो वह गाव के लोगो पर लगा सकती है। यदि सरकार ने नगर के लोगो पर और कर लगाए तो उसमे पूँजी एकत्र न हो सकेगी और उसके फल-स्वरूप उद्योग-धन्धो के चलाने में बडी बाधा उत्पन्न होगी।

(४) द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से अब तक भारतवर्ष मे साधारण-तया हीन बजट ही बनते है। यह बात केन्द्रीय तथा राज्य सरकार दोनो के लिए लागू होती है। इसका कारण यह है कि आय की अपेक्षा व्यय अधिक बढ गया है। केन्द्र में रक्षा तथा जानपद व्यय पहले से कम न होकर बढ गया है। इसी प्रकार अन्य मदो पर भी व्यय बढ गया है। परन्तु आय, व्यय के अनुपात से नहीं बढ रही है। इसी प्रकार राज्य सरकारो को शिक्षा, सडको, मद्य निषेध, जमीदारी उन्मूलन आदि योजनाओ पर बहुत अधिक धन खर्च करना पड रहा है परन्तु उनके आय के साधन साधारणतया बेलोच है। इसलिए उन्होने नए नए कर लगाए है। उनमें बिक्री-कर आमोद-कर, कृषि आय-कर मुख्य है। परन्तु इन करो से भी राज्य सरकारो को आवश्यकतानुसार आय प्राप्त नही होती।

(५) भारतवर्ष में दूसरे देशो की अपेक्षा प्रति व्यक्ति कर भार बहुत कम है। इसलिए कुछ लोगों का कहना है कि यहा और कर बढाने की गुजायश है। परन्तु यह बात सोचनी गलत है क्योकि भारतवर्ष में अधिकतर लोगों के रहन सहन का दरजा इतना कम है कि उन पर कोई कर नही लगाया जा सकता। इसके विपरीत अमरीका आदि देशो में सबसे निम्न जीवन-स्तर रखने वाले लोग भी कर दे सकते है।

(६) कुछ लोगों का यह भी कहना है कि भारतवर्ष में करों द्वारा प्राप्त आय कुल राष्ट्रीय आय की केवल ७ प्रतिशत है जब कि यह संयुक्त राज्य (U. K.) में ३५ प्रतिशत, आस्ट्रेलिया में २२ प्रतिशत, संयुक्त राष्ट्र (U. S. A) तथा जापान में २३ प्रतिशत, कनाडा में १६ प्रतिशत, श्री लंका में २० प्रतिशत, मिस्र में १६ प्रतिशत, क्यूबा में १५.५ प्रतिशत, चिली में १४.४ प्रतिशत तथा ब्राजील में १४.४ प्रतिशत है। इसलिये यहां पर करों द्वारा आय बढ़ाई जा सकती है। परन्तु यह बात सोचनी भी पहले के समान ही गलत मालूम पड़ती है क्योंकि भारतवर्ष में अधिकतर लोगों को दो समय भर पेट भोजन भी नहीं मिलता, यहां पर ३६ करोड़ लोगों में से केवल ८ लाख आदमी कर देते हैं, यहां की राष्ट्रीय बचत कुल बचत की ५ प्रतिशत है, इसलिये यहां पर कर द्वारा अधिक आय प्राप्त नहीं हो सकती। यहां पर पहले ही इतने कर लगे हुए हैं कि और कर बढ़ाने की कोई गुन्जायश नहीं है।

कर पद्धति में उन्नति करने के सुझाव—

(१) भारतवर्ष में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि करों को कर-दाताओं की कर क्षमता के अनुसार लगाया जाये। जिन लोगों को एक बड़े परिवार को पालना है उनको इङ्गलैंड के समान पारिवारिक सहायता दी जाये।

(२) भारतवर्ष में कृषि से कुल राष्ट्रीय आय का ५४ प्रतिशत प्राप्त होता है परन्तु कृषि से सरकारी खजाने को केवल १२ प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। इस लिये इस देश में कृषि-आय पर कर लगाया जा सकता है।

(३) कुछ लोगों का यह भी सुझाव है कि नमक कर फिर से लगा दिया जाये। इसका भार प्रति व्यक्ति पर कोई अधिक नहीं पड़ेगा क्योंकि नमक पर व्यक्ति की आय का एक छोटा सा भाग खर्च होता है परन्तु उससे सरकार को आय बहुत प्राप्त हो जायेगी।

(४) भारतवर्ष में आजकल कुल कर-आय का केवल ८ प्रतिशत ही माल-गुजारी के रूप में प्राप्त होता है जब कि १९३९ में २५ प्रतिशत प्राप्त होता था। इसलिये इस ओर कर बढ़ाने की गुन्जायश है।

(५) भारतवर्ष में इस बात की भी बड़ी आवश्यकता है कि रक्षा, जनपद तथा उन्नति-योजनाओं में किये गये व्यय में मितव्ययिता की जाये क्योंकि बहुत सी समितियों की खोज तथा भारत के महालेखा निरीक्षक की रिपोर्टों से यह बात साफ पता चलती है कि भारतवर्ष में इन सब ओर बहुत सा बेकार धन खर्च किया जा रहा है। इसके साथ साथ इस बात का भी प्रयत्न करना चाहिए कि कर दे सकने वाले कर से न बच सकें।

(६) भविष्य में सरकार अपनी आय सिंधरी के समान बहुत से ऐसे कारखाने खोल कर भी बढ़ा सकती है जहां पर कि व्यक्तिगत पूंजी नहीं लगाई जाती।

अध्याय ८

राज्य सरकारों की आय और व्यय

(Income and Expenditure of the State Governments)

आय के स्रोत (Sources of Revenue)

मालगुजारी (Land Revenue)—यह एक बहुत पुराना कर है। हिन्दू राजाओं के काल में यह वस्तुओं के रूप में एकत्र किया जाता था। उस समय इसकी दर कुल पैदावार की १/६ से लेकर १/१२ तक थी। युद्ध काल में इसको बढ़ा कर १/४ तक कर देते थे। मुसलमानों के काल में भी कुछ समय तक यह कृषि वस्तुओं के रूप में ही वसूल किया गया। परन्तु जब उनके राज्य का विस्तार होने लगा तो इसको द्रव्य के रूप में वसूल किया जाने लगा। अंग्रेजों ने भी द्रव्य में ही इसको वसूल किया। आरम्भ में वारन हेस्टिंग्स ने पच साला बन्दोबस्त किया। परन्तु १७९३ ई० में लार्ड कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त की नींव डाली जो बंगाल, बिहार, आसाम, मद्रास के उत्तरी सरकार के क्षेत्र तथा बनारस के आस पास पाया जाता है। इसके अनुसार जमींदारों को जमीन का स्वामी मान लिया गया और उन पर सदा के लिये मालगुजारी निश्चित कर दी गई। यह बढ़ाई नहीं जा सकती। परन्तु किसानों का लगान स्थायी रूप से निश्चित नहीं किया गया। इसलिये किसानों के ऊपर तो लगान बढ़ता रहा परन्तु जमींदारों की मालगुजारी वही रही। उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश आदि में अस्थायी बन्दोबस्त है। उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में यह ४० वर्ष में तथा मध्य प्रदेश में २० वर्ष में बदला जाता है। बम्बई में यह ३० वर्ष में बदला जाता है। इसके अतिरिक्त मालगुजारी निश्चित करने का ढङ्ग तथा उसकी दरें भी विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार भारत में मालगुजारी की निम्नलिखित विशेषताएं हैं —

(१) पहले मालगुजारी कुल उत्पादन पर ली जाती थी, परन्तु आजकल वह अशेष सम्पत्ति (Net assets) पर ली जाती है। अशेष सम्पत्ति निकालते समय कुल उत्पत्ति में से लागत खर्च घटा देते हैं। इस प्रकार मालगुजारी लेने का ढङ्ग पहले से अच्छा है परन्तु आजकल भी उसमें यह दोष है कि वह व्यक्ति पर कर न होकर वस्तु पर है और इसलिए प्रतिगामी है। भारतीय कर जांच समिति १९२४ ने इस सम्बन्ध में कहा है, " इससे आगे यह बात प्रत्यक्ष है कि मालगुजारी का कर की योजना के रूप में विचार करने पर यह वर्द्धमान तो नहीं है, परन्तु वास्तव में उसके विपरीत है"।

(२) भारत में मालगुजारी निश्चित करने का ढङ्ग सन्तोषजनक नहीं है। वास्तविक सम्पत्ति का भारत के सभी भागों में समान अर्थ नहीं है। इसका निश्चित करना मालगुजारी निश्चित करने वाले की इच्छा पर निर्भर होता है। साधारणतया मालगुजारी निश्चित करते समय वह भूमि, जलवायु, कृषि स्थिति, सिंचाई सुविधाओं आदि को ध्यान में रखता है। परन्तु फिर भी मालगुजारी लगाने का ढङ्ग बहुत अंशों में अनुचित तथा स्वेच्छाचारी है।

(३) अस्थायी बन्दोबस्त वाले भागों में सरकार अशेष सम्पत्ति का जो भाग मालगुजारी के रूप में लेती है उसको निरन्तर घटाती जा रही है। संयुक्त प्रान्त में १८१२ में यह भाग ९० प्रतिशत था १८५५ में ५० प्रतिशत तथा १९२५ में केवल ४० प्रतिशत था।

(४) परन्तु जहाँ जमींदारों की मालगुजारी घटती जा रही है किसानों पर लगान बढ़ता जा रहा है। इस कारण किसान भूमि पर किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता और उसके फलस्वरूप भूमि की उर्वरा शक्ति निरन्तर घटती जा रही है।

(५) उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक मालगुजारी भारत सरकार की आय का साधन था और उसकी कुल आय का एक बड़ा भाग इससे प्राप्त होता था जैसे १७९३-९४ में ६६ प्रतिशत, १८५०-५१ में ६६.१ ५ प्रतिशत, ८९-९२ में ४१ ३ प्रतिशत, परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इसका महत्व घटता जा रहा है, जैसे १९०१-२ में भारत सरकार की कुल आय का ४१ ८ प्रतिशत, १९१९-२० में २७ ८ प्रतिशत इस स्रोत से प्राप्त होता था। १९१९ ई० के सुधारों के पश्चात् मालगुजारी प्रान्तीय आय-स्रोत हो गया है और प्रान्तों की आय का एक बड़ा भाग इस स्रोत से प्राप्त होता है परन्तु अभी हाल ही में उसका महत्व घटता जा रहा है। यहाँ यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि सभी प्रान्तों के लिए इस आय के स्रोत का समान महत्व नहीं है इसका पता नीचे की तालिका से चल सकता है—

प्रान्तों का नाम	प्रान्त की कुल आय से मालगुजारी की आय का प्रतिशत (१९४०-४१ में
मद्रास	२७.६६
बंगाल	२६.४६
बम्बई	२३.८५
उत्तर प्रदेश (U. P.)	५५.२८
पंजाब	२२.९२

मध्य प्रदेश	४५.५५
बिहार	३१.३८
आसाम	२७.४६
उड़ीसा	२६.५८
सिंध	६.२२
उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त	१०.५३

(६) भूमि की आय का एक बड़ा भाग जमीदारों की जेबों में जाता है जैसे केवल बगाल में १२ करोड रुपए के लगभग जमीदार लोग अपने पास रख लेते है। अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तो का अनुमान सही आकडे न होने के कारण नही लगाया जा सकता परन्तु यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन प्रान्तो में भी जमीदारो के पास भूमि की आय का एक पर्याप्त भाग रह जाता है। जमीदारो की इस आय पर कोई कर नही लिया जाता। अभी कुछ ही वर्षों से कुछ प्रान्तो ने इस आय पर कर लगाना आरम्भ किया है।

मालगुजारी कर है अथवा लगान (Land Revenue a tax or rent)—इस सम्बन्ध मे बडा वाद रहा है कि मालगुजारी कर है अथवा लगान। जो लोग इसको लगान बताते है उनका कहना कि यह लगान इसलिए है कि सरकार इसकी दर को आवश्यकतानुसार नही बदल सकती। इसके अतिरिक्त किसानो को मकान बनाने के लिए मुफ्त भूमि दी जाती है तथा उनको सम्मिलित भूमि में पशु चराने का भी अधिकार है। इन सब बातो के कारण इसको लगान कहना ही उचित है। परन्तु यहा यह बात बताने योग्य है कि सरकार के ऊपर कोई ऐसी पाबन्दी नही है कि वह मालगुजारी को नही बढा सकती। वह उसको इसलिए नही बढाती क्योकि ऐसा करने मे उसको बडी कठिनाई उठानी पडती है और कही कही तो जमीन के पट्टे हर वर्ष बदले जाते है। रही मकान की भूमि आदि मुफ्त देने की बात, वह भी कोई विशेष महत्व की नही है क्योकि सरकार भूमि में अपना महत्व स्थापित किए बिना भी ऐसी सुविधायें किसानो को दे सकती है। मालगुजारी को लगान बताने वाले यह भी तर्क देते है कि चाहे आरम्भ मे जो स्थिति हो परन्तु आजकल तो मालगुजारी लगान ही है क्योकि भूमि के बार बार बेचे खरीदे जाने के कारण मालगुजारी के रूप में ली गई सरकारी माग का पूंजीकरण (Amortisation) हो गया है। इसलिए जिन लोगो के पास आजकल भूमि है उनके ऊपर मालगुजारी को कर नही माना जा सकता वरन् लगान ही माना जायेगा। परन्तु कर के पूंजीकरण का कभी भी यह अभिप्राय नही होता कि कर कभी नही बढाया जा सकता वरन् उसका केवल यह अभिप्राय है कि कर सम्पत्ति के बेचने वाले पर पडता है क्योकि उसको खरीदने वाला कर के धन कम करके उसका रुपया चुकाता है।

यदि इस प्रकार खरीदी गई सम्पत्ति के ऊपर कर लगाया जाता है तो उसको कर ही कहा जायेगा और कोई दूसरी चीज नहीं। इसके अतिरिक्त पूरे कर का पूंजीकरण बड़ा कठिन है क्योंकि सरकार की माग का पहले से ही अनुमान लगाना कठिन है।

इसके विपरीत भारतीय कर जांच समिति ने इसको कर माना है और अपने तर्क के पक्ष में निम्नलिखित बातें कही है —

(१) भारत में सरकार ने अपने आपको भूमि का स्वामि घोषित नहीं किया है।

(२) सरकार ने स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रो में जमीदार को भूमि का स्वामी माना है और रयतवारी क्षेत्रों में भी उसने भूमि की बेच पर कोई पाबन्दी नहीं लगा रखी है।

(३) भारत में लगान आर्थिक लगान से अधिक है तथा उसको कर के समान आवश्यक रूप से देना पड़ता है।

(४) लगान राष्ट्रीय आय का एक अङ्ग है।

वास्तव में देखा जाए तो यह कहना बड़ा कठिन है कि यह कर है अथवा लगान। इसलिए सरकार को चाहिए कि वह भूमि पर व्यक्तिगत अधिकारों को मान कर इस वाद विवाद को समाप्त कर दे।

मालगुजारी तथा कर सिद्धान्त (Land Revenue and Canons of Taxation)—मालगुजारी पर कर के निम्नलिखित सिद्धान्त लागू होते है—

(१) निश्चितता—जब बन्दोबस्त के समय मालगुजारी निश्चित कर दी जाती है तो वह दूसरे बन्दोबस्त तक ली जाती है। उसमें बीच में कोई बदल नहीं की जाती। इस प्रकार किसान को यह पता रहता है कि उसको क्या लगान देना है।

(२) सुविधा—किसान से लगान तब वसूल किया जाता है जब कि उसकी फसल पक कर तैयार हो जाती है। इस प्रकार उसको लगान देने में कोई कठिनाई नहीं होती।

परन्तु जो लगान एक बार निश्चित हो जाता है उसको उस समय भी नहीं घटाया जाता जब कि फसल खराब हो जाती है। इस प्रकार लगान में किसान की कर देने की योग्यता का कोई ध्यान नहीं रखा जाता।

(३) मितव्ययिता—भारत में मालगुजारी वसूल करने के लिए एक बहुत बड़ा कर्मचारीवर्ग रखा जाता है जिसके कारण मालगुजारी वसूल करने में मितव्ययिता नहीं होती। इसके वसूल करने के खर्च का अनुमान ५ से १० प्रतिशत तक लगाया गया है। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत में मालगुजारी वसूल करने वाले कर्मचारियों को कर वसूल करने के अतिरिक्त और बहुत से कार्य

करने पड़ते हैं जिनके कारण यह कहना कठिन है कि मालगुजारी वसूल करने का वास्तविक व्यय क्या है ?

(४) कर देने की योग्यता—भारत में लगान किसान की भूमि से आय पर नहीं लगाया जाता और न ही यह देखा जाता है वह आय किस प्रकार प्राप्त की गई है इसलिए यह कर काश्तकार की योग्यता के अनुसार नहीं होता और बहुधा प्रतिगामी होता है।

मालगुजारी में उन्नति करने के सुझाव—हमारे देश में मालगुजारी का बोझा प्रान्त, प्रान्त में भिन्न है। इसको सब स्थानों पर समान करने के लिए इसमें काफी परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

इस पद्धति को सुधारने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं —

(१) सब स्थानों पर मालगुजारी निश्चित करने का एकसा ही ढंग होना चाहिये। कर जाँच समिति का सुझाव था कि मालगुजारी का आधार वार्षिक मूल्य (Annual value) होना चाहिये। वार्षिक मूल्य से समिति का अभिप्राय था किसी खेत पर पैदा होने वाली कुल फसल का मूल्य उत्पादन-व्यय काटकर, (जिसमें किसान तथा उसके परिवार के श्रम का मूल्य भी सम्मिलित हो)। इस प्रकार प्राप्त किये गये वार्षिक मूल्य का २५ प्रतिशत मालगुजारी के रूप में लेना चाहिये।

(२) भूमि से प्राप्त आय पर आय-कर लगाना चाहिये। यह स्थायी तथा अस्थायी दोनों प्रकार के क्षेत्रों में लगाना चाहिये।

(३) सरकार को चाहिये कि वह किसानों के जमींदार द्वारा किये गये शोषण को रोके। कांग्रेस सरकार इस ओर पूरा प्रयत्न कर रही है। उसने बहुत से प्रांतों में जमींदार उन्मूलन एक्ट पास करके किसानों की बड़ी सहायता की है।

कृषि आय-कर (Agricultural Income-Tax)—भारतवर्ष में कृषि आय कर एक राज्य आय-स्रोत है। आजकल यह बिहार, आसाम, बंगाल, उड़ीसा, तथा उत्तर प्रदेश द्वारा लगाया जाता है। सब से पहले इसको बिहार ने १९३८–३९ में लगाया था। इसके एक वर्ष पश्चात इसको आसाम ने लगाया। बंगाल में यह १ अप्रैल १९४४ से लगाया जाता है तथा उड़ीसा द्वारा यह १९४७ ई० से लगाया जाता है। उत्तर प्रदेश ने इस कर को १९४८–४९ से लगाया। यद्यपि कृषि आय कर प्रांतों ने अभी कुछ ही वर्षों से लगाया है तो भी हमारे देश के लिये यह नया कर नहीं है। यह कर १८६०–६५ तथा १८६९–७३ के बीच लगाया जाता था। परन्तु कुछ राजनैतिक कारणों से इसको १८८६ ई० से लगाना बन्द कर दिया गया। उसके पश्चात १९३५ ई० के एक्ट ने प्रांतों को इस कर के लगाने का अधिकार दिया।

इस कर से सम्बन्धित कुछ बातें —

(१) यह कर केवल उसी आय पर लगाना चाहिए जो भूमि से प्राप्त हो। मकान आदि की आय इसमें सम्मिलित नहीं करनी चाहिए।

(२) कर की नीति सब राज्यों में समान होनी चाहिए। जहां तक हो कर आय के स्रोत के अनुसार लगाना चाहिए।

(३) भारतवर्ष के जिन राज्यों में यह कर लगाया जाता है उन सब में आय-कर के समान यह 'स्लैब दर' पर लगाया जाता है और छूट की सीमा को छोड़ कर करकी दर भी सभी राज्यों में प्राय: समान ही है।

उत्तर प्रदेश कृषि-आयकर की कुछ विशेषतायें—यह कर १ जौलाई १९४८ से लगाया गया है। इसमें छूट की सीमा ३००० रुपये रखी गई है। सहकारी समितियों के लिए छूट की सीमा इससे भी ऊंची रखी जा सकती है। यह कर स्लैब पद्धति पर लगाया जाता है। इसमें, मालगुजारी लगान, स्थानीय कर अथवा अबवाब, आबपाशी, कुए आदि की मरम्मत का व्यय, कृषि आय को बढ़ाने के लिए, लिए गये ऋण पर ब्याज, आय एकत्र करने का व्यय, आदि को कृषि आय में से घटाकर जो शेष बचता है उस पर कर लगाया जाता है। यह कर उन्हीं काश्तकारों पर लगाया जाता है जिनके पास ५० एकड़ अथवा उससे अधिक भूमि होती है। उससे कम भूमि रखने वालों की आय चाहे जो भी हो उन पर कर नहीं लगाया जाता। किसानों की सुविधा के लिए यह भी प्रबन्ध किया गया है कि वह करको चार किश्तों में दे सकते हैं।

इस स्रोत से अभी राज्यों को कोई विशेष आय नहीं होती जैसे १९४९-५० में इससे उत्तर प्रदेश को लगभग १ करोड़ रुपये तथा पश्चिमी बंगाल को लगभग ६० लाख रुपये की आय प्राप्त हुई। यह आय प्रांत की कुल आय का एक छोटा सा भाग ही है। भविष्य में जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् इस स्रोत से और भी कम आय होने की आशा है क्योंकि उस समय कृषि आय और भी कम हो जायेगी।

प्रांतीय उत्पादन-कर (Provincial Excise)—भारतवर्ष में राज्य सरकारों को भी उत्पादन कर लगाने का अधिकार है। यह कर देशी शराब, ताड़ी, चरस, गांजा, सुलफा आदि मादक वस्तुओं पर लगाया जाता है। इस कर का उद्देश्य आय प्राप्त करना नहीं वरन् मादक वस्तुओं के उपभोग को कम करना है। परन्तु अंग्रेजी शासन में प्रांतीय सरकारों का यह प्रयत्न रहता था कि वह इस स्रोत से अधिक से अधिक आय प्राप्त करें। इस लिए इस नीति की सदा ही आलोचना होती थी।

१९२१ ई० के महात्मा गाधी के असहयोग आन्दोलन के पश्चात प्रान्तीय सरकारो की इस स्रोत से आय में बडी कमी हो गई। उसके पश्चात ही बहुत से प्रान्तो ने यह निश्चय किया कि वे अपने प्रान्तो में मद्य निषेध की नीति को अपनायेंगे। इसके फलस्वरूप बहुत से प्रान्तो में नशीली चीजो की दुकानो की सख्या घटा दी गई तथा उन पर कई प्रकार की पाबन्दिया लगा दी गई।

१९३७ ई० में प्रान्तो का शासन कई स्थानो पर काग्रेस के हाथो में आ गया। काग्रेस सरकारो ने कई प्रातो जैसे मद्रास, बम्बई, मध्य प्रदेश, उडीसा आदि मे मद्य निषेध सम्बन्धी कानून पास किये। इसके कारण उनकी उस स्रोत से आय बहुत कम हो गई जैसे मद्रास की आय १९३६—३७ ३९६ लाख रुपये थी तथा बम्बई की ३२५ लाख रुपये थी। यह आय १९३९–४० में घट कर ३५५ लाख रुपये तथा १७७ लाख रुपये रह गई।

युद्ध में भाग लेने की नीति मे मतभेद होने के कारण काग्रेस प्रान्तीय सरकारो को इस्तीफा देना पडा। उनके चले जाने पर मद्य-निषेध की नीति को फिर से ढीला कर दिया गया। इसके कारण प्रान्तो की आय फिर से बढने लगी और १९४५–४६ में सब प्रान्तो की आय ४३१३ लाख रुपये से भी बढ गई।

१९४६ ई० मे काग्रेस सरकार फिर से सत्तारूढ हो गई और उसने फिर मद्य निषेध की नीति को अपनाया। इस प्रकार मद्रास मे १९४८ में तथा बम्बई में १९५० मे पूर्ण रूप से मद्य-निषेध हो गया है। उत्तर प्रदेश में १९४७ में मद्य-निषेध केवल एटा, मैनपुरी, फर्रुखाबाद, बदायू, प्रतापगढ, सुल्तानपुर तथा जौनपुर जिलो में ही लागू किया गया। १९४८ में यह कानपुर तथा उन्नाव मे भी लागू किया गया। १९४९ मे यह फतेहपुर तथा रायबरेली में किया गया। इस प्रकार उत्तर प्रदेश मद्य-निषेध के कार्य मे धीरे धीरे बढ रहा है। दूसरे प्रान्तो में भी मद्य-निषेध का कार्य धीरे धीरे चल रहा है। यही कारण है कि राज्यो की इस स्रोत से आय निरन्तर घटती जा रही है।

मद्य निषेध की नीति—राज्यो द्वारा अपनाई गई मद्य-निषेध की नीति की आर्थिक दृष्टिकोण से कडी आलोचना की गई है। इस प्रकार सोचने वाले लोगो का कहना है कि इससे प्रान्तीय सरकारो की आय बहुत घट जायेगी जैसे मद्रास को इस नीति के अपनाने से १४ करोड रुपये तथा बम्बई को ८ करोड रुपये हानि होने का अनुमान है। इस प्रकार आय के कम होने पर राज्य सरकारो की उन्नति की योजनाओ को कार्यान्वित करने में बडी बाधा उपस्थित होगी। इधर तो राज्यो की आय कम होगी उधर इस कार्य से कोई विशेष लाभ न होगा क्योकि लोग छुपे छुपे ताडी आदि बनाने लगेंगे। इस प्रकार के अपराधो को रोकने के लिए राज्यो को अधिक पुलिस रखनी पडेगी जिसके कारण उनका व्यय और भी अधिक बढ जायेगा।

परन्तु इन तर्कों के विरुद्ध हम कह सकते हैं कि हमको हर चीज को आर्थिक दृष्टिकोण से ही नहीं देखना चाहिए। कुछ चीजों को नैतिक दृष्टिकोण से भी देखा जाता है और मद्य निषेध को इसी दृष्टिकोण से देखना चाहिए। यह कुछ उचित नहीं जान पड़ता कि मद्य आदि के उपभोग को बढ़ाकर हमको जो आय प्राप्त हो उसको हम उन्नति के कार्यों में लगाये। क्योंकि ऐसा करनेमें हम एक ओर तो आर्थिक उन्नति करेंगे और दूसरी ओर (यह अधिक महत्व पूर्ण है) लोगों को चरित्र हीन बनायेंगे। जहां कहीं भी मद्य निषेध की नीति को अपनाया गया है वहां पर मजदूरों का जीवन स्तर ऊंचा हुआ है क्यों कि मजदूर लोग इस पर अपनी आय का लगभग २७ ३ प्रतिशत खर्च करते थे। यहां यह बात भी बताने योग्य है कि लोग छुपे हुए शराब वहीं बनाते हैं जहां वह कुछ जिलों में तो बनती है और कुछ में नहीं। हम समझते हैं कि राज्य सरकारों को इस नीति को अवश्य अपनाना चाहिए और इस मद्य से होने वाली हानि को दूसरे ढंग से पूरी करनी चाहिए।

बिक्री-कर (Sales Tax)—यह कोई नया कर नहीं है। कहते हैं कि इसको बहुत पुराने समय में मिश्र तथा रोम में लगाया गया था। हमारे देश में भी इसका चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में लगाया बताया जाता है। योरप के बहुत से देशों जैसे फ्रांस बेलजियम चैकोस्लोवेकिया, रूस आदि में यह प्रथम महायुद्ध के बीच लगाया गया। इगलैंड में इसको इस लिए पसन्द नहीं किया गया क्योंकि यह एक अच्छी कर पद्धति की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता को पूरा नहीं करता और वह है कर देने की योग्यता'। भारतवर्ष में इसको प्रान्तीय स्वशासन के पश्चात ही लगाया गया। इसको सब से पहले मध्य प्रदेश तथा बरार ने १९३८ ई० में लगाया था तथा १९३९ में यह मद्रास द्वारा लगाया गया। प्रारम्भ में भारत सरकार ने प्रान्तों के इस कर को लगाने के अधिकार को चुनौती दी परन्तु फैडरल कोर्ट ने प्रान्तों के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया। १९४८ ई० के पश्चात भारत के सभी प्रान्तों में इस कर को लगा दिया गया। भारत के नए विधान में यह प्रबन्ध किया गया है कि कोई राज्य एक राज्य से दूसरे राज्य में जाने वाले माल पर तथा विदेशों को निर्यात किए जाने वाले माल पर बिक्री कर न लगायगा। यह प्रबन्ध इस लिए किया गया है जिससे कि व्यापार में बाधा न पड़े। भारत में केवल वस्तुओं की बिक्री पर ही बिक्री कर लगाया जा सकता है सेवाओं की बिक्री पर यह कर नहीं लगाया जा सकता, अर्थात् यह कर उन लोगों पर नहीं लगाया जा सकता जो नौकरी करते हैं।

बिक्री क्या होती है—जब एक व्यक्ति दूसरे से किसी प्रतिफल के बदले कोई वस्तु लेता है तो उसको बिक्री कहते हैं। बिक्री के लिए वस्तु का भौतिक हस्तान्तरण आवश्यक नहीं है। केवल बेच और खरीद का सौदा तय हो जाना ही पर्याप्त है।

विक्री कर के प्रकार (Kinds of Sales Tax)

यह कर कई प्रकार का होता है —

(१) बिक्री अथवा समस्त क्रय विक्रय कर (Sales or Turnover Tax)—जब कर केवल वस्तुओं के क्रय विक्रय पर लगाया जाता है तो उसको बिक्री कर कहते हैं परन्तु जब वह वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय विक्रय पर लगाया जाता है तो उसको समस्त क्रय विक्रय कर कहते हैं।

(२) विशिष्ट वस्तु बिक्री कर अथवा सामान्य बिक्री कर (Selected commodity Tax or General Sales Tax)—जब कर कुछ ही वस्तुओं पर लगाया जाता है तो उसको विशिष्ट वस्तु बिक्री कर कहते हैं परन्तु जब यह प्राय सभी वस्तुओं पर लगाया जाता है तो उसको सामान्य बिक्री कर कहते हैं। हमारे देश के मद्रास उत्तर प्रदेश, बगाल आदि राज्यों मे सामान्य बिक्री कर ही है।

(३) फुटकर अथवा थोक बिक्री कर (Retail or Wholesale Sales Tax)—जब कर उस समय लगाया जाता है जबकि फुटकर व्यापारी द्वारा कोई वस्तु बेची जाती है तो उसको फुटकर बिक्री कर कहते हैं परन्तु यदि यह कर थोक व्यापारियों आयात कर्ताओं अथवा उत्पादकों से वसूल किया जाता है तो इसको थोक बिक्री कर कहते हैं।

एक बिन्दु अथवा बहु बिन्दु बिक्री कर (Single point or Multiple point Sales Tax)—जब कर या तो फुटकर बिक्री के समय या थोक बचते समय लगाया जाता है तब उसको एक बिन्दु कर कहते हैं परन्तु जब वह किसी वस्तु की बिक्री के हर बिन्दु पर लगाया जाता है अर्थात यदि कोई वस्तु दस बार बची जाए और कर दस बार ही लगाया जाए तब उसको बहु बिन्दु बिक्री कर कहते हैं।

बिक्री कर की प्रकृति (Nature of Sales Tax)—बिक्री कर सरकार दुकानदारों से वसूल करती है परन्तु दुकानदारों को यह अधिकार है कि वह कर का धन खरीदारों से वसूल कर ले। इस प्रकार यद्यपि कहने में तो यह बिक्री कर है परन्तु व्यवहार में यह खरीद कर है। यह एक अप्रत्यक्ष कर है क्योंकि दुकानदार कर का भार खरीदारों पर ढकेल सकते हैं। यदि यह कर जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर लगा दिया जाता है तो यह प्रतिगामी हो जाता है।

बिक्री कर वर्द्धमान कर नहीं होता (Sales Tax is not a progressive tax)—बिक्री अप्रत्यक्ष कर है इस लिए यह वर्द्धमान नहीं हो सकता। यह हर उस व्यक्ति को जो वस्तु खरीदता है देना पड़ता है। कर वसूल करते समय व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का कोई विचार नहीं किया जाता।

कर में छूट (Exemptions from the tax)–छोटे छोटे दुकानदारों को जिन की बिक्री एक निश्चित सीमा से कम होती है कोई कर नहीं देना पड़ता जैसे उत्तर प्रदेश में उन दुकानदारों को जिन की बिक्री १२००० रुपये वार्षिक से कम है कोई कर नहीं देना पड़ता। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुएं होती हैं जैसे जीवन सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएं जिन पर यह कर नहीं लगाया जाता। यह कर सरकारी प्रतिभूतियों (securities) पर भी नहीं लगाया जाता।

कर की दर (Rate of Tax)—

कर की दर बहुधा इस बात पर निर्भर होती है कि कर कितनी वस्तुओं पर लगाया जाता है। यदि वस्तुएं कम होती हैं तो कर की दर अधिक होनी है परन्तु यदि वस्तुयें अधिक होती हैं तो कर की दर कम होती है। इसके अतिरिक्त साधारणतया जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर कर की दर कम होती है और विलासिता की वस्तुओं पर अधिक। जहां तक हो कर की दर कम ही होनी चाहिये।

बिक्री कर का भार (Incidence of Sales Tax)–

इस का विचार हम दो प्रकार करेंगे। (१) एक विशिष्ट वस्तु पर बिक्री कर का भार, (२) सामान्य बिक्री कर का भार।

विशिष्ट वस्तु पर बिक्री कर का भार—

यह निम्नलिखित बातों पर निर्भर है—

(१) वस्तु की मांग की लचक—जिन वस्तुओं की मांग लोचदार होती है उनके कर का भार दुकानदारों पर पड़ता है। परन्तु बेलोच मांग वाली वस्तुओं का कर भार खरीदारों पर पड़ता है।

(२) पूर्ति की लचक–यदि वस्तु की पूर्ति लोचदार है तो कर का भार खरीदारों पर पड़ेगा परन्तु यदि वह बेलोच है तो कर का भार दुकानदारों पर पड़ेगा।

(३) उत्पत्ति के नियम—जो वस्तु क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती है उस पर लगाये गए कर का भार खरीदार पर पड़ता है। इसके विपरीत क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाने वाली वस्तु पर लगाए गए कर का भार दुकानदार पर पड़ता है। क्रमगत उत्पत्ति समानता नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाने वाली वस्तु का भार खरीदार और दुकानदार दोनों पर पड़ता है।

(४ प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार—यदि कोई वस्तु पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में बेची जाती है तो उस वस्तु का कर भार आसानी से पता चलाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में कर भार दुकानदार के ऊपर होता है। परन्तु एकाधिकार की स्थिति में दुकानदार उसको खरीदार पर भी ढकेल सकता है और स्वयं भी उस को सहन कर सकता है।

(५) कम मूल्य वाली वस्तु का कर भार खरीदार पर बड़ी कठिनाई से ढकेला जा सकता है। परन्तु अधिक मूल्य वाली वस्तु का कर भार आसानी से ढकेला जा सकता है। ऐसी वस्तुएं जिनका मूल्य निश्चित होता है उनका मूल्य खरीदारों पर ढकेलने में बड़ी कठिनाई होती है। खरीदारों पर कर भार तेजी के समय तो ढकेला जा सकता है परन्तु मन्दी के समय ऐसा करना बड़ा कठिन है।

उपर्युक्त कठिनाइयाँ कुछ ही समय तक रहती हैं। दीर्घकाल में बिक्री कर खरीदारों पर ही पड़ता है।

सामान्य बिक्री कर (General Sales Tax)—

(१) यदि किसी वस्तु का एक बड़ा भाग उन छोटे छोटे व्यापारियों द्वारा बेचा जाता है जो कर नहीं देते तो यह कर बड़े दुकानदारों पर ही पड़ेगा। परन्तु यदि छोटे दुकानदार वस्तु का एक छोटा सा भाग ही बेचते हैं तो यह कर खरीदारों पर पड़ेगा।

(२) यदि सहकारी बिक्री समितियां बिक्री कर से बरी हैं। और वह केवल अपने सदस्यों को ही बेचती हैं तो कर भार दूसरे खरीदारों पर ढकेला जा सकेगा परन्तु यदि यह समितियां सब को सामान बेचती हैं तो कर भार दुकानदारों पर पड़ेगा।

(३) यदि बिक्री कर वर्द्धमान है तो उसका भार साधारणतया दुकानदारों पर ही पड़ता है।

(४) यदि छोटे छोटे दुकानदारों को एक निश्चित मात्रा में कर देना पड़े तो कर को खरीदारों पर ढकेलना बड़ा कठिन हो जाता है।

(५) यदि कर बिक्री के हर बिन्दु पर लगाया जाता है तो इससे बचने के लिए उदग्र गुट (vertical combination) बन जाते हैं और इसके कारण छोटे दुकानदारों की हानि होती है।

(६) यदि कोई व्यक्ति कई चीजें बेच रहा है तो वह कर का भार उन वस्तुओं के खरीदारों पर भी ढकेल सकता है जिन पर कर नहीं लगा हुआ है। यह बात थोक व्यापार में भले ही सम्भव न हो परन्तु फुटकर व्यापार में तो ऐसा होता ही है।

बिक्री कर के दोष (Defects of Sales Tax)—

बिक्री कर के निम्नलिखित दोष हैं —

(१) यह एक प्रतिगामी कर है और इस का भार छोटी आय वाले व्यक्तियों पर पड़ता है।

(२) इस कर में मनुष्य की कर देने की योग्यता का विचार नहीं किया जाता। जिन लोगों को बड़े परिवारों का पालन पोषण करना पड़ता है उनकी कर देने की योग्यता कम होती है परन्तु उनको अधिक कर देना पड़ता है क्योंकि उनके परिवार में उपभोग अधिक होता है।

(३) इस कर में इस बात का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता कि आय मनुष्य के शारीरिक परिश्रम द्वारा कमाई गई है अथवा नहीं। सब को समान कर देना पड़ता है।

(४) यह कर सेवाओं तथा लोकोपयोगी सेवाओं पर नहीं लगाया जाता। यदि यह उन पर भी लगाया जाता तो उसका अधिक भार अमीर आदमियों पर पड़ता क्योंकि इन चीजों का उपभोग अधिकतर वही करते हैं।

(५) बहुत सी दशाओं में दोहरा कर लग सकता है। जैसे ईन्धन पर लगाया गया कर एक बार तो ईंधन के खरीदते समय देना पड़ता है और दूसरे उस समय देना पड़ता है जब कि कोई वह वस्तु जिसके तैयार करने में वह ईन्धन काम में आता है। यदि समस्त बिक्री पर कर लगाया जाता है तो एक ही वस्तु पर कई बार कर लग सकता है।

(६) इस कर की व्यवस्था करनी बड़ी कठिन है क्योंकि यह हर खरीदार से वसूल किया जाता है। दुकानदार को हर खरीदार का हिसाब रखना पड़ता है। इस सब हिसाब की सही जाँच होनी बड़ी कठिन है।

(७) इस कर को एकत्र करने का खर्च भी बहुत अधिक होता है।

(८) इस कर से बचने में भी दुकानदार बहुधा सफल हो जाते हैं।

(९) कभी कभी इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है जैसे यदि यह कर मोटर के तेल पर लगाया जाता है तो इससे मोटर यातायात में बड़ी बाधा होती है।

इन सब दोषों के होते हुए भी यह कर कई बातों के कारण लगाया जाता है—
१—इस कर से पर्याप्त आय प्राप्त हो जाती है। २—इसकी व्यवस्था करने में सरकार को कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। ३—इस कर का भार खरीदार को अधिक महसूस नहीं होता। ४—सरकार के बढ़ते हुए खर्च के कारण बहुत से देशों में इसको लगाया गया है।

भारत में बिक्री कर (Sales Tax in India)—

भारतवर्ष में दो प्रकार का कर लगा हुआ है—

१—विशिष्ट वस्तुओं पर बिक्री कर, २—बहुत सी वस्तुओं पर सामान्य बिक्री कर। विशिष्ट वस्तु बिक्री कर साधारणतया मोटर के तेल, बिना साफ किए

हुए तेल, तम्बाकू (बना हुआ) आदि पर लगाया जाता है। दूसरा कर बहुत सी वस्तुओं पर लगाया जाता है और उसके लिए सब राज्यों में विस्तारपूर्वक कानून बने हुए हैं। इन कानूनों में बिक्री की परिभाषा, न्यूनतम छूट सीमा कर की दर, वह वस्तुएं जिन पर कर लगाया गया है आदि बातें दी हुई हैं। इन कानूनों में कुछ वस्तुएं ऐसी भी छोड़ दी गई हैं जिन पर कर नहीं लगाया जाता। ऐसी वस्तुओं में जीवन की आवश्यक वस्तुएं जैसे खाद्य पदार्थ, नमक, पानी, दूध आदि तथा और दूसरी आवश्यक वस्तुएं जैसे किताबें, ईन्धन की लकड़ी, खाद, खेती के औजार आदि सम्मिलित हैं।

बिक्री कर राज्य सरकारों की आय का एक मुख्य साधन हो गया है। इस का पता नीचे की तालिका से चलता है—

(लाख रुपयों में)

वर्ष	मद्रास	बम्बई	पश्चिमी बंगाल	उत्तरप्रदेश	पंजाब	बिहार	मध्यप्रदेश	आसाम	उड़ीसा
१९४६-४७	६६०	१००	३६०		१२	७८	.	..	.
१९४७-४८	८३१	४६६	४११		४१	१०६	६०	...	६
१९४८-४९	१३०३	६७०	४२२	४२७	७३	२३३	१४३	२४	३०
१९४९-५०	१५५२	१३९४	४३०	६००	१२०	३७४	१८७	३८	७५
१९५०-५१	१५८७	१४५८	५२०	४९२	१ ८	४४०	२३५	५४	८०
१९५१-५२	१५५९	११८८	५६२	४८०	१६८	४०६	२३०	७६	१११
१९५२-५३	१६००	१०६०	५५८	६३५	१६७	३२१	२२५	८१	१००
१९५३-५४ (बजट)	१४००	१६००	५५८	५२४	१३८	४७०	२१२	७१	१००

इस तालिका के देखने से पता चलता है कि बिक्री कर से आय निरन्तर बढ़ती जाती है। १९५०-५१ में आय घटने का कारण यह था कि नये विधान में कुछ ऐसी वस्तुयें बताई गई थीं जिन पर कर नहीं लगाया जा सकता था। इस स्रोत से आय प्राप्त होने के कारण राज्य सरकारों की उन्नति की योजनाओं पर धन खर्च करने में सहायता मिल जायगी। इसके अतिरिक्त मद्रास तथा बम्बई प्रान्तों को जो हानि मद्य निषेध की नीति अपनाने से हो गई है वह इस स्रोत से प्राप्त आय से पूरी गई है।

मनोरंजन तथा बाजी कर

(Amusement and Betting Taxes)

मनोरंजन तथा बाजी करों का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इस कर को एक अच्छा कर माना जाता है क्योंकि यह विलासिता कर है और इस का भार अमीर लोगों पर पड़ता है। यह कर सब से पहले बंगाल में १९२२ ई० में लगाया गया था। उसके पश्चात् बम्बई और सिंध ने इस कर को १९२३ ई० में लगाया। पंजाब में यह कर १९३६–३७ में लगाया गया तथा उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश बिहार आदि राज्यों में १९३७–३८ में, मद्रास ने इस कर को १९३९–४० में लगाया और आसाम ने भी लगभग उसी समय इस कर को लगाया।

यह कर उस समय लगाया जाता है जब कि सिनेमा, थ्येटर सर्कस, घुड़दौड़ आदि का टिकट खरीदा जाता है। परन्तु यदि कोई मनोरंजन शिक्षा प्रसार अथवा दान एवं खेती के प्रसार आदि के लिये होता है तो उस पर कोई कर नहीं लिया जाता।

कर की दर—इस कर की दर प्रारम्भ में १२½ प्रतिशत थी। परन्तु धीरे धीरे यह दर बढ़ा दी गई है। अब यह दर कहीं २५ प्रतिशत कहीं ३३⅓ प्रतिशत और कहीं ५० प्रतिशत तक है। उत्तर प्रदेश और मद्रास में कर की दर एक ही है परन्तु कुछ राज्यों में यह दर विभिन्न चीजों के लिये भिन्न है।

मनोरञ्जन कर यद्यपि एक अप्रत्यक्ष कर है तो भी यह प्रतिगामी नहीं है। यह सत्य है कि जब गरीब आदमी सिनेमा आदि का टिकट खरीदता है तो उसके ऊपर कर का भार पड़ता है। इस भार से गरीबों को बचाने के लिए कुछ राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश तथा बङ्गाल में क्रमशः दो और तीन आने के टिकटों पर कोई मनोरंजन कर नहीं लगाया जाता। और यदि इस प्रकार की छूट न भी दी जाये तो कोई हर्ज नहीं है क्योंकि सिनेमा आदि विलासिता की वस्तुएं हैं और जो कोई भी उनका उपभोग करे उसको कर देना ही चाहिये। मनोरंजन कर अब प्रायः सभी राज्यों में एक महत्वपूर्ण आय का स्रोत है और इससे आय निरन्तर बढ़ती जा रही है, जैसे उत्तर प्रदेश में इस स्रोत से १९४८–४९ में लगभग ६० लाख रुपये की आय हुई और १९५०–५१ में यह बढ़कर ६८ लाख रुपये होगयी। इसी बीच बम्बई में यह आय १३४ लाखसे बढ़कर १५५ लाख होगई तथा मद्रास में १०२ ६९ लाख से बढ़कर १०८ ३५ लाख रुपये होगयी।

बाजी कर (Betting Tax)—

भारतवर्ष में आजकल केवल घुड़दौड़ के ऊपर ही जुआ खेलने की आज्ञा है। घुड़दौड़ के ऊपर कर बङ्गाल में १९२२ में, बम्बई में १९२५ में, उत्तर प्रदेश में

१९३७ में, मिश्र में १९३८ में तथा आसाम में १९३९ में लगाया गया।

भारतवर्ष में यह कर जीतने वाले से तथा घुड़दौड़ के लिए लगाए गए कुल धन में से लिया जाता है। इस कर की दर विभिन्न राज्यों में विभिन्न है जैसे बङ्गाल में यह १५ प्रतिशत है तथा मद्रास म १२½ प्रतिशत।

यह कर उचित है क्योंकि इस मे जुआ कम खेला जाता है। जुए से प्राप्त धन के लिए जीतने वाले को कोई परिश्रम नही करना पड़ता इसलिए सरकार उस धन में से यदि कुछ धन कर के रूप मे ले ले तो कोई अनुचित बात नही है। यह कर सरल तथा मितव्ययी निश्चित तथा सुविधाजनक है। इस कारण यह अच्छा कर कहा जा सकता है।

१९५०-५१ मे इस कर से मद्रास से २८ लाख, उत्तर प्रदेश में ११ लाख, पश्चिमी बङ्गाल में ६० लाख तथा बम्बई में १३० लाख रुपये की आय हुई।

मुद्रांक-कर (Stamp Duty)

मुद्राक कर दो प्रकार का होता है-(१) न्यायिक (Judicial) तथा (२) व्यापारिक। न्यायिक कर दीवानी, माल तथा फौजदारी के मुकदमो को लड़ाने के सिलसिले में लिया जाता है तथा व्यापारिक कर सम्पत्ति को हस्तान्तर करने वाले विलेखो (Instruments) जैसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सम्पत्ति के विलेखे पर, व्यापारिक सौदो से सम्बन्धित विलेखो जैसे बिल आफ एक्सचेंज प्रतिज्ञा पत्र पर तथा दूसरे प्रकार के विलेखो जैसे प्रसंविदा-पत्र (Contract Note)पर, लिया जाता है।

१९१९ ई० के सुधारो के द्वारा उपर्युक्त दोनो प्रकार के कर प्रान्तो के आधीन थे। परन्तु १९३५ के सुधारो के द्वारा मुद्राक-कर सघीय तथा समामी दोनों तालिकाओं में सम्मिलित कर दिया गया। सघीय तालिका में बिल आफ एक्सचेञ्ज, प्रतिज्ञा-पत्र, चैक, माल पत्र, बीमा पालिसियो आदि का कर सम्मिलित है। परन्तु सघीय सरकार इस कर को निश्चित ही करती है। इसकी आय राज्य सरकारो को ही प्राप्त होती है।

इस कर के विरुद्ध आलोचनाएं (Criticisms against this tax)—(१) इस कर के विरुद्ध निम्नलिखित आलोचनाए की गई है—यह कर व्यापार में बाधक है। परन्तु यदि विचार किया जाये तो ऐसा नहीं है। बहुत से व्यापारिक सौदे बिना मुद्राक-कर के तय हो जाते है। केवल उन्ही सौदो पर मुद्राक-कर लगाया जाता है जिनको हम अदालत द्वारा मजबूत बनाना चाहते है। इसलिए इस कर को व्यापार पर कर नही कहना चाहिए।

(२) आदम स्मिथ के विचार में यह कर इसलिए अनुचित है क्योकि इसका भार सब पर समान नही पड़ता। जो सम्पत्ति कई बार हस्तान्तर की जाती है उस

पर इसका भार अधिक पड़ता है और जो एक, दो बार हस्तान्तर की जाती है उस पर कम भार पड़ता है।

(३) बेनहम का मत है कि सम्पत्ति को दुर्दिनों के कारण बेचना पड़ता है। ऐसे समय में सम्पत्ति पर कर लगा कर सरकार मनुष्य के दुर्भाग्य पर कर लगाती है।

परन्तु भारतवर्ष में निम्नलिखित बातों के कारण इस कर का बड़ा प्रचार है—

(१) यह बहुत पुरातन काल से लगाया जाता है। (२) इसको एकत्र करना तथा इसकी देख भाल करना सरल है। (३) इस कर का भार भी देने वाले को अधिक मालूम नहीं होता। (४) इसको सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार लगाया जा सकता है।

मुद्रांक-कर और कर-सिद्धान्त (Stamp duty and canons of taxation)—यह कर मितव्ययी है क्योंकि मुद्रांक के छापने का खर्च तथा इस कर के एकत्र करने का खर्च बहुत कम होता है। इस कर में निश्चितता का गुण भी पाया जाता है क्योंकि कर देने वाला यह जानता है कि उसको कितना कब और कैसे कर देना है। परन्तु यह कर 'कर देने की योग्यता' के अनुसार नहीं लगाया जाता।

राज्य सरकारों को इस कर से बहुत आय प्राप्त होती है जैसे १९४८–४९ में पश्चिमी बंगाल को २३६.७१ लाख। उत्तर प्रदेश को २३३.७५ लाख, बम्बई को ३४२.९२ लाख तथा मद्रास को ३३५.९७ लाख रुपये प्राप्त हुए। १९५३–५४ में इन राज्यों को क्रमशः २९७ लाख, २५५ लाख, ४२० लाख तथा ५४८ लाख रुपए की आय प्राप्त होने की आशा थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस स्रोत से आय बढ़ रही है।

रजिस्ट्री फीस (Registration Fee)—भारत में कुछ ऐसे प्रलेख हैं जिनकी रजिस्ट्री करानी आवश्यक होती है। ऐसा करना इसलिए आवश्यक नहीं है कि कानून किसी को प्रलेखों की रजिस्ट्री कराने के लिए बाध्य करता है वरन् इसलिए आवश्यक है कि यदि उनकी रजिस्ट्री न कराई जाए तो अदालत उनको मंजूर नहीं करती। इसलिये प्रलेखों की सब रजिस्ट्री करा लेते हैं।

रजिस्ट्री फीस सरकार द्वारा की गई सेवा के अनुसार नहीं ली जाती वरन् प्रलेखों के मूल्य के अनुसार ली जाती है। इस प्रकार यह कर योग्यतानुसार होता है।

भारतवर्ष में रजिस्ट्री फीस समय समय पर इतनी बढ़ाई जा चुकी है कि उसको और अधिक बढ़ाना उचित न होगा।

भारत के कुछ राज्यों को १९४९–५० में इस कर से इस प्रकार आय थी—

मध्य प्रदेश १८.४८ लाख, पश्चिमी बंगाल ३८.२४, उत्तर प्रदेश २१.७२, बम्बई २१.८० लाख तथा मद्रास ८६.३६ लाख रुपए।

परन्तु इस कर के धन का सरकार निश्चित रूप से पता नहीं लगा सकती। इसलिए वह इस आय पर अधिक निर्भर नहीं रह सकती।

मोटर गाड़ियों पर कर (Tax on Motor Vehicles)—भारतवर्ष में प्राय सभी राज्यों में मोटर गाड़ियों पर कई प्रकार के कर लगे हुए हैं। यह कर मोटर गाड़ियों पर, उनकी रजिस्ट्री कराने उनके चलाने का अनुज्ञा पत्र जारी करने, उनके सवाहकों के लिए बिल्ले देन, उनका निरीक्षण करने आदि पर लिया जाता है। मोटर गाड़ियों में मोटर लारी, मोटर साइकिल टैक्सी व्यक्तिगत कार आदि सम्मिलित की जाती हैं।

कर का आधार—टैक्सी और बसों का किराया उनकी बैठने की गुञ्जाइश पर निर्भर होता है। मोटर लारियों का किराया उनके बिना लदे वजन पर होता है। मोटर साइकिलों पर भी इस आधार पर कर लगाया जाता है व्यक्तिगत कारों पर कई प्रकार से कर लिया जाता है। कहीं तो वह उनकी बैठने की गुञ्जायश पर लिया जाता है जैसे पंजाब में, कहीं उनके बिना लदे वजन पर जैसे मद्रास और बम्बई में। उत्तर प्रदेश में अ, ब, स तीन प्रकार के मार्ग निश्चित किए गये हैं। इनमें से 'अ' मार्ग का कर सबसे अधिक है और 'स' मार्ग का सबसे कम। इसके अतिरिक्त कर इस बात पर भी निर्भर होता है कि गाड़ी में किस प्रकार के पहियों का प्रयोग किया गया है। जिन गाड़ियों के पहिये सड़क को अधिक खराब करते हैं उनसे अधिक कर लिया जाता है और दूसरी गाड़ियों से कम।

कर की दर—कर की दर प्रत्येक राज्य में प्राय भिन्न है। पर सार्वजनिक गाड़ी को कहीं भी ५०० रुपये से अधिक कर नहीं देना पड़ता। व्यक्तिगत कारों पर कर प्राय कम होता है।

कर की न्याय संगतता—यह कर बिल्कुल न्याय सगत है क्योंकि जब मोटर गाड़िया सड़कों का प्रयोग करती हैं जिनके कायम रखने तथा बनाने में राज्य सरकारों को इतना धन खर्च करना पड़ता है तब फिर उनको उन सड़कों के कायम रखने का खर्च भी सहन करना चाहिये। परन्तु हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि भारतवर्ष में यह कर बहुत अधिक है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में एक मोटर गाड़ी पर कर २४० रुपये के लगभग है परन्तु भारतवर्ष में यह लगभग ११०० रुपये है। इतने अधिक कर के कारण मोटर यातायात की उन्नति में बड़ी बाधा होती है।

कर-भार—व्यक्तिगत गाड़ियों का कर भार उनके मालिकों पर पड़ता है; परन्तु सार्वजनिक गाड़ियों के कर भार के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह यात्रियों की मोटर यातायात की माग की लचक तथा मालिकों की पूर्ति की लचक पर निर्भर होता है।

मोटर गाड़ी कर से कुछ राज्यों को काफी आय होती है जैसे १६५०-५१ में मद्रास में २६५ लाख रुपए तथा बम्बई में १५० लाख रुपये की आय का अनुमान था। इसके विपरीत कुछ राज्यों में इससे प्राप्त आय बहुत कम है जैसे १६५०-५१ में ही पंजाब में १३.३२ लाख, पश्चिमी बंगाल में ४७.०३ लाख तथा उत्तर प्रदेश में ५२.८३ लाख रुपये का अनुमान था।

मोटर गाड़ियों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न—भारत सरकार के रोड ट्रान्सपोर्ट कार्पोरेशन एक्ट पास हो जाने के पश्चात राज्य सरकारों ने सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण प्रारम्भ कर दिया है। सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की बात किसी न किसी रूप में प्राय सभी राज्यों में चल रही है। उत्तर प्रदेश में तो सरकार का यह निश्चय है कि वह सारे राज्य की सड़क यातायात को अपने अधिकार में ले लेगी। इस दृष्टि से उसने बहुत से प्रमुख मार्गों पर अपनी बसें चालू की हैं और प्रति वर्ष नए नए मार्गों को अपने अधिकार में लेती जा रही है। इसी प्रकार मद्रास, बम्बई, बंगाल आदि राज्यों में इस ओर प्रयत्न किया जा रहा है।

सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण से जनता को बहुत लाभ हुआ है जैसे अब मोटरें समय पर चलती हैं, उनमें पहले जितनी भीड़ नहीं रहती, उनमें आराम देने वाली सीटें हैं। परन्तु उत्तर प्रदेश के अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि इन सरकारी बसों में किराया व्यक्तिगत बसों से कम तो है ही नहीं कहीं कहीं अधिक है। इस प्रकार जनता के यातायात का खर्च कम नहीं हुआ। हमारे देश की जनता के सामने मुख्य प्रश्न सुविधा का नहीं है वरन् पैसे का है। यदि सरकारी बसें अपना किराया नहीं घटाती तो गरीब जनता को कोई विशेष सुख अनुभव नहीं होगा। इतना किराया होते हुए भी राज्यों को इनसे कोई विशेष आय नहीं हुई है। जैसे १६५०-५१ में पश्चिमी बङ्गाल को केवल ३.६६ लाख, उड़ीसा को १.१ लाख रुपये की आय होने का अनुमान था। इसका कारण यह है कि इन बसों के ऊपर बहुत अधिक खर्च हो जाता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इनके ऊपर का खर्च कम किया जाए तथा इनका किराया घटाया जाए। यदि यह बातें न की गईं तो इनके राष्ट्रीयकरण से कोई लाभ न होगा।

रोजगार, पेशे तथा व्यापार पर कर

(Tax on Employment, Profession and Trade)

प्रान्तों में स्वशासन की स्थापना के पश्चात इस कर को सबसे पहले मध्य प्रदेश ने लगाया था। इसके पश्चात बङ्गाल में यह कर १६३६ ई० में लगाया गया। मध्य प्रदेश में इस कर की दर ५० रुपये प्रति वर्ष तथा बङ्गाल में ३० रुपये प्रति वर्ष थी। उत्तर प्रदेश में भी इस कर को लगाने की एक बड़ी योजना तैयार की गई परन्तु उसको भारत सरकार ने न माना और १६३५

के एक्ट में किए गए एक संशोधन के अनुसार यह निश्चित कर दिया गया कोई भी प्रान्त ५० रुपये वार्षिक से अधिक कर न लगा सकेगा। इसलिए उत्तर प्रदेश में यह कर न लग सका।

यह कर केवल उन्हीं व्यक्तियों पर लगता है जो अपने शारीरिक परिश्रम द्वारा आय प्राप्त करते हैं इसलिए यह अनुचित है। इसके अतिरिक्त इस में मनुष्य की आर्थिक स्थिति का कोई स्थान नहीं रखा जाता इसलिए यह प्रतिगामी है। फिर इस बात में भेद करना कि अमुक आय शारीरिक परिश्रम द्वारा प्राप्त की गई है और अमुक ऐसे नहीं की गई, गलत है। इसलिए यह कर अनुचित मालूम पड़ता है।

सिंचाई (Irrigation)—१६१६ ई० के सुधारों के पश्चात सिंचाई प्रान्तीय आय का स्रोत बन गया है। प्रान्तीय सरकार कृषकों को नहर तथा बिजली के ट्यूबों से पानी देती है। इस पानी का मूल्य किसानों से लिया जाता है। यह दर भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न है। यह भूमि के क्षेत्र फसल के प्रकार आदि के आधार पर लिया जाता है। परन्तु यह मूल्य किसान की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रख कर नहीं लिया जाता। इसलिए इसका बोझा गरीब किसानों पर बहुत पड़ता है। राज्य सरकारों को इस स्रोत से बहुत कम आय प्राप्त होती है।

जङ्गल (Forests)—१६१६ के सुधारों के पश्चात जङ्गलों को प्रान्तीय सरकारों के हाथ में दे दिया गया है। प्रान्तीय (जिनको अब राज्य कहते हैं) सरकारों को जङ्गलों से इमारती तथा जलाने की लकड़ी की बिक्री, चराई की फीस तथा अन्य कुछ छोटी छोटी वस्तुओं की बिक्री द्वारा आय प्राप्त होती है। राज्य सरकारों को जङ्गलों से लगभग ३ करोड़ रुपये सालाना की आय होती है। यह बहुत कम है। यदि जङ्गलों में अच्छी पूँजी लगाई जाए तथा उनकी अच्छी व्यवस्था की जाये तो उनसे अच्छी आय प्राप्त हो सकती है।

राज्य सरकारों का व्यय
(Expenditure of State Governments)

प्रान्तों में स्वशासन की स्थापना के पूर्व सरकार की नीति सन्तुलित बजट बनाने की थी। उस समय सरकार अधिकतर धन पुलिस, जेल, न्याय आदि पर खर्च करती थी और राष्ट्र निर्माण कार्यों पर बहुत कम खर्च करती थी। परन्तु स्वशासन की स्थापना के पश्चात प्रान्तीय सरकारों की व्यय करने की नीति में काफी परिवर्तन होता जा रहा है। इसके फलस्वरूप बहुत से प्रान्तों में हीन बजट बनने लगे हैं।

राज्यों के व्यय को हम तीन भागों में बाट सकते है—(१) प्रजातन्त्र को चलाने का व्यय, (२) देश में शान्ति व व्यवस्था रखने का व्यय, (३) राष्ट्रीय निर्माण कार्यों पर व्यय।

(१) प्रजातंत्र को चलाने का व्यय—इस व्यय में राज्यपालों तथा उनके कर्मचारियों का वेतन, मन्त्रियों तथा ससद सचिवों का वेतन तथा राज्यों की विधान सभाओं का व्यय सम्मिलित है। इन सब मदो में से राज्यपालों का वेतन कुछ राज्यो में घट गया है। अब सब राज्यपालों को ५५०० रुपये मासिक वेतन मिलता है। वेतन के अतिरिक्त उनको कई प्रकार के भत्ते भी मिलते हैं। इन सब को मिलाकर राज्यपालों का व्यय ब्रिटिश काल की अपेक्षा कुछ कम हो गया है। परन्तु मन्त्रियों तथा ससद सचिवों तथा विधान सभाओं का खर्च निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इसका पता नीचे की तालिका से चलता है—

(हजार रुपयों में)

मद	प० बगाल			बम्बई			मद्रास			उत्तर प्रदेश		
	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१
मन्त्री	५४५	५५०	५५२	५६६	७११	६१३	६३६	७०७	५४६	४७८	४०२	४६१
विधान सभा	५०२	५०३	५७८	५२६	६६७	७४२	६६१	७०५	६८६	१०७४	११८४	१२०८

मन्त्रियों तथा विधान सभाओं के व्यय में इस प्रकार की वृद्धि चिन्ता का विषय है। यह आवश्यक है कि इस व्यय को कम किया जावे। यह व्यय मन्त्रियों के वेतन तथा भत्तों में कमी करने से कम हो सकता है। इस समय जब कि देश इतनी बुरी आर्थिक परिस्थिति से होकर गुजर रहा है और देश में इतनी आर्थिक समस्यायें मुहू बाये खड़ी हैं ऐसे समय हमारे मन्त्रियों का कर्तव्य है कि वह त्याग का आदर्श रख कर दूसरों का मार्ग दर्शन करें। इसी प्रकार विधान सभाओं का व्यय भी सदस्यों के भत्तों आदि में कमी करने से कम हो सकता है।

(२) *देश में शान्ति और व्यवस्था रखने का व्यय*—इस व्यय के अन्तर्गत न्याय, पुलिस तथा जेल आदि आते हैं। इन सब मदों पर भी व्यय निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है। विभाजन के पश्चात देश में इतनी अशान्ति हो गई तथा इस प्रकार की विनाशकारी शक्तियों का जन्म हो गया कि उसके लिए एक बडी सेना रखनी आवश्यक हो गई। इसलिए शान्ति और व्यवस्था व्यय बहुत अधिक बढ़ गया। उदाहरण के लिए १९४५-४६ में मद्रास अपने कुल व्यय का ६ प्रतिशत, बम्बई ८.१ प्रतिशत पुलिस पर खर्च करता था परन्तु १९४८-४९ में यह खर्च बढ़ कर मद्रास में १८.६ प्रतिशत, बम्बई में १३.५ प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में १४.६ प्रतिशत, मध्य प्रदेश मे १३.२ प्रतिशत तथा पश्चिमी बङ्गाल में १३.१ प्रतिशत हो गया।

यदि अशान्ति काल में पुलिस पर खर्च बढ जाए तो कोई आपत्ति नहीं है परन्तु अब जब कि प्राय सभी राज्यों में शान्ति है और कोई गडबड होने की सम्भावना भी नहीं है तो राज्य सरकारों का यह कर्तव्य है कि वह इस खर्च को घटायें। पुलिस के अतिरिक्त राज्य सरकारों को न्याय आदि की व्यवस्था पर भी बहुत खर्च करना पडता है। इस खर्च को भी कम करना आवश्यक है।

(३) राष्ट्रीय निर्माण कार्यों पर व्यय—हमारे देश में निर्माण कार्यों को राज्य सरकारों को सौंपा गया है। इन कार्यों में शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, ग्राम सुधार, सडकें, उद्योग-धन्धे, सहकारी आन्दोलन आदि सम्मिलित हैं। भारतवर्ष में इन सब बातों मे उन्नति करने की बडी आवश्यकता है। ब्रिटिश शासन काल में इन सब मदों पर बहुत कम खर्च होता था परन्तु जब से देश स्वतन्त्र हुआ है तब से इन सब मदों पर बहुत खर्च बढ गया है। शिक्षा के प्रसार के लिए स्थान स्थान पर प्रारम्भिक पाठशालायें खोली गई हैं। इसके अतिरिक्त प्रौढ लोगों की शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया है। कहीं कहीं सैनिक शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया है। इसके फलस्वरूप प्राय सभी राज्यों मे शिक्षा व्यय दो, तीन गुना हो गया है।

सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा चिकित्सा पर किया गया व्यय भी पहले से डेढ दो गुना हो गया है। इसका कारण यह है कि बहुत से नए स्थानों पर चिकित्सालय खोले गए हैं। बहुत से राज्यों मे चिकित्सकों को ग्रामों में बसने के लिए भी आर्थिक सहायता दी जाती है। इसके अतिरिक्त शहरों में भी नई २ बीमारियों के लिए हस्पताल खोले जा रहे हैं।

कृषि की उन्नति के लिए भी राज्य सरकारे बहुत प्रयत्नशील हैं। बहुत से स्थानों पर उन्होंने नई भूमि प्राप्त की है। सिंचाई के लिए नहरो तथा नल-कुओं का प्रबन्ध किया है। पशुओं की उन्नति के लिए प्रयत्न किया है। इसी प्रकार खेती को उन्नत करने का प्रयत्न किया गया है।

इसके अतिरिक्त राज्य सरकारे बहुत सा धन सडकों, सहकारी आन्दोलन की उन्नति तथा ग्राम सुधार के ऊपर भी खर्च कर रही हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यों का राष्ट्र निर्माण कार्य पर व्यय बढता जा रहा है।

राज्य सरकारों की आय और व्यय को देखने से हम कई परिणाम निकाल सकते हैं—

(१) राज्यों की आय निरन्तर बढती जा रही है और देश के विभाजन के हो जाने पर भी यह आय पहले लगभग तीन गुनी बढ गई है। १९५३–५४ के बजट अनुमान के अनुसार 'अ' और 'ब' भागों के सब राज्यों की आय ४५८.४२ करोड रुपये थी।

(२) राज्यों में करों द्वारा प्राप्त आय का प्रतिशत पहले से कम होता जा रहा है। उदाहरण के लिये १९३८-३९ में कुल आय का ७४ ५ प्रतिशत करों द्वारा प्राप्त होता था। परन्तु १९५२-५३ में करों की आय का प्रतिशत घट कर ६६ ५ रह गया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अब राज्यों को केन्द्र से बहुत सी आय अनुदान तथा सहायता के रूप में प्राप्त होती है।

(३) राज्यों के लिए पुराने कर के स्रोतों और जैसे मालगुजारी, मुद्रांक-कर रजिस्ट्री फीस आदि का महत्व कम होता जा रहा है और नए कर-स्रोतों जैसे बिक्री कर, कृषि आय-कर, मनोरंजन कर आदि का महत्व बढ़ता जा रहा है।

(४) यद्यपि राज्यों का खर्च पुलिस, जेल, न्याय आदि मदों पर काफी बढ़ गया है परन्तु इन सब मदों पर व्यय में इतनी वृद्धि नहीं हुई है जितनी की राष्ट्रीय निर्माण कार्यों में हुई है।

(५) राज्य सरकारें अब बहुत सा धन उन्नति योजनाओं पर खर्च कर रही है। वह बहुत सा धन 'अधिक अन्न उपजाओ योजना', सिंचाई, उद्योग धन्धों की उन्नति आदि पर खर्च कर रही है। १९५०-५१ में 'अ' भाग के सब राज्यों का इस मद पर खर्च ११० ७३ लाख रुपये था। १९५३-५४ का अनुमान १४१ ७५ लाख रुपये है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि यद्यपि राज्यों की आय निरन्तर बढ़ रही है परन्तु उनका व्यय और भी तेजी से बढ़ रहा है। इस बढ़ते हुए व्यय को पूरा करने के लिए राज्य सरकारों ने नये नये कर लगाये हैं परन्तु इन करों की आय भी व्यय को पूरा नहीं कर सकती। इस कारण उनको निरन्तर हीन बजट बनाने पड़ रहे हैं। 'अ' और 'ब' भाग के सब राज्यों का बजट का घाटा १६५२-५३ में १६ ६५ करोड़ था तथा १९५३-५४ के बजट अनुमान के अनुसार यह घाटा २३ १३ करोड़ रुपये था। यह घाटा आगे आने वाले कुछ वर्षों में बढ़ने की सम्भावना है क्योंकि राज्यों को भविष्य में बहुत सा धन शिक्षा स्वास्थ्य चिकित्सा सड़कों, मद्य निषेध, जमींदारी उन्मूलन, आदि पर खर्च करना है। पर इस प्रकार की स्थिति बहुत समय तक चलनी उचित नहीं जान पड़ती। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि राज्य सरकारों की आय बढ़े। अभी कुछ वर्षों में उनको केन्द्र से बहुत सी उन्नति योजनाओं के लिये सहायता मिलने लगी और अब आय-कर में से उनको ५० प्रतिशत के स्थान पर ५५ प्रतिशत मिलने लगा है परन्तु इतनी आय की वृद्धि पर्याप्त नहीं है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि राज्य सरकारें अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न करें। यह निम्नलिखित ढङ्ग से हो सकता है—

(१) राज्यों को आय कर में से कम से कम ६० प्रतिशत दिया जाये।

(२) राज्यों को इस बात का अधिकार दिया जाये कि वे आय कर पर १० या १५ प्रतिशत अधिभार लगालें। इस अधिभार का धन उनको खर्च करने दिया जाये।

(३) उन राज्यों को जहां से उत्पादन कर प्राप्त किया जाता है उत्पादन कर में से कुछ भाग दिया जाये क्योंकि उनको उद्योगों की उन्नति पर खर्च करना पड़ता है।

(४) बिक्री कर की उचित व्यवस्था करके उससे आय बढ़ाई जा सकती है।

(५) राज्यों को कृषि आय कर से भी आय बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(६) राज्यों को चाहिये कि वे व्यापारिक उद्योगों तथा सेवाओं को अपने हाथ में लेकर उनसे आय बढ़ाने का प्रयत्न करें।

अध्याय ६

स्थानीय राजस्व (Local Finance)

भारत में बहुत पुराने काल से स्थानीय स्वशासन चला आ रहा है। हिन्दू राजाओं के काल में गावों में पचायतें पाई जाती थी जो गाँव की सफाई, सड़कों, शिक्षा आदि का प्रबन्ध करती थी तथा दीवानी व फौजदारी के छोटे मोटे केस भी निबटा देती थी। इस प्रकार की व्यवस्था अंग्रेजों के आने तक रही। अंग्रेजों ने इस व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट करके एक केन्द्रीय शासन की नीव डाली। परन्तु कुछ समय पश्चात् उनको अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने फिर से स्थानीय स्वशासन की नीव डाली। इसके फलस्वरूप हमारे देश में नगर पालिकाओं की स्थापना हुई। इनकी स्थापना के इतिहास को हम तीन भागों में बाट सकते है—(१) १८८२ तक, (२) १८८२ से १९१९ तक, (३) १९१९ ई० के पश्चात।

(१) १८८२ तक का काल—इस काल में स्थानीय संस्थाओं को कोई विशेष अधिकार प्राप्त न थे। आर्थिक मामलों में जैसे कर लगाने, बजट बनाने, ऋण लेन तथा धन खर्च के विभिन्न मदों पर बटवारा करने में उनके ऊपर इतना सरकारी नियत्रण था कि उनकी स्थानीय स्वतत्रता केवल कहने मात्र की थी। ग्रामों में स्थानीय समितियो के अतिरिक्त कोई स्थानीय शासन न था। स्थानीय समितियो का केवल यह कार्य था कि वे जिलाधीश को प्रान्तीय बजट को सन्तुलन करने के लिये धन एकत्र करने में सहायता करती थी।

(२) १८८२ से १९१९ तक—इस काल में स्थानीय स्वशासन को कोई विशेष प्रगति तो नही हुई परन्तु इस काल में स्थानीय लोग यह जान गये कि स्थानीय स्वशासन क्या होता है। इस काल में कुछ महत्व पूर्ण बातें हुई जिनका उल्लेख करना आवश्यक है जैसे पुलिस प्रबन्ध का स्थानीय स्वशासन के हाथ में से निकल कर प्रान्तों के हाथों में चला गया। इस काल में स्थानीय अर्थ व्यवस्था में अनुदान का महत्व बहुत बढ गया। इस काल में उत्तर प्रदेश में इस बात का भी प्रयत्न किया गया कि चुंगी के स्थान पर कोई दूसरी प्रकार का आय का साधन तलाश किया जाये। इस काल में स्थानीय संस्थाओं की आय और व्यय पहले से और भी अधिक बढ गए। परन्तु आय और व्यय के स्रोत प्राय: पहले के समान ही रहे।

(३) १९१९ के पश्चात—इस काल में इस बात का प्रयत्न किया गया कि लोगो को यह बताया जाए कि स्थानीय स्वशासन वास्तव मे क्या चीज होती है। इस

में आय और व्यय के साधन तो पहले जैसे ही रहे परन्तु सहायक अनुदानों का महत्व पहले से और भी अधिक बढ गया। इस काल में स्थानीय संस्थाओं ने सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा, सड़कें आदि पर बहुत सा धन खर्च किया परन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है।

परन्तु हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं के पास साधनों की तो कमी है पर उनको कार्य बहुत करना पड़ता है। यहां पर स्थानीय संस्थायें दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत कम खर्च करती है। इसका पता निम्नलिखित तालिका से चलता है—

विभिन्न सरकारों द्वारा किये गये व्यय का प्रतिशत

देश	केन्द्र	प्रान्त अथवा राज्य	स्थानीय
संयुक्त राष्ट्र	३०	१५	५५
जापान	५१	१२	३७
जर्मनी	४०	२०	४०
भारतवर्ष (१९३७–३८)	४९	३२	१९

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं को उतना उच्च स्थान प्राप्त नहीं है जितना कि उनको दूसरे देशों में है। खेद का विषय है कि भारत के नये विधान में भी उनको वही स्थान दिया गया है जो उनको पहले था।

हमारे देश में आजकल दो प्रकार की स्थानीय संस्थायें कार्य कर रही है-(१) वह जो नगरों का कार्य देखती है। (२) वह जो ग्रामों का कार्य देखती है। नगरों का कार्य देखने वाली संस्थाओं में कार्पोरेशन, नगर-पालिकायें, टाऊन एरिया तथा नोटिफाइड एरिया सम्मिलित है। ग्रामों का कार्य देखने वाली संस्थाओं में जिला बोर्ड अथवा स्थानीय तालुका बोर्ड, यूनियन बोर्ड तथा पंचायतें सम्मिलित है। भारतवर्ष में ७८६ नगर पालिकायें, २७० जिला बोर्ड, ५८४ तालुका बोर्ड तथा ४५५ यूनियन बोर्ड हैं।

नगर पालिकाओं की आय और व्यय

(Income and Expenditure of Municipalities)

आय (Income)—नगर पालिकाओं की आय के स्रोतों को हम चार भागों में बांट सकते है—(१) प्रत्यक्ष कर, (२) अप्रत्यक्ष कर, (३) व्यापारिक कार्यों से प्राप्त आय, (४) राज्य सरकारों से प्राप्त सहायक अनुदान।

प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes)

मकानों तथा भूमि पर कर अथवा सम्पत्ति कर (Taxes on houses lands or property tax)—यह चार प्रकार से लिए जाते है। (१) मकानो तथा मकानो की स्थिति पर कर, (२) भूमिपर उपकर (cess), (३) अनर्जित आय (unearned income) पर कर (४) सम्पत्ति का हस्तान्तरण करते समय लगाया गया मुद्राङ्क-कर।

हमारे देश में मकानो तथा उनकी स्थिति पर कर नगरपालिकाओं की आय का एक मुख्य साधन है। उन राज्यों में जैसे मद्रास बम्बई, बङ्गाल, आसाम तथा बिहार में जहा चुङ्गी आय का एक अच्छा साधन नही है उनमे यही आय का एक मुख्य साधन है। उदाहरण के लिए बगाल में इस साधन से कुल कर आय का ८२ में प्रतिशत, बम्बई ४६ प्रतिशत, मद्रास में ४७ प्रतिशत, आसाम मे ७८ प्रतिशत तथा बिहार उडीसा मे ७७ प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। हमारे देश की प्राय सब नगरपालिकायें इस कर को लगाती है। यह कर मकान अथवा जमीन की वार्षिक किराए की आय पर लगाया जाता है जो मकान अथवा भूमि किराये पर नही दी जाती उस पर भी यह कर लगाया जाता है। इस कर की दर स्थान स्थान पर भिन्न है जैसे मद्रास में ६ प्रतिशत, बगाल में ५ प्रतिशत, और बम्बई मे ४ प्रतिशत।

इगलैंड में इस कर को किरायेदार से लिया जाता है परन्तु हमारे देश में मालिक मकान इसको देता है। यदि किसी कारण मालिक मकान का पता न चल सके तो इसको किराएदार से भी वसूल किया जा सकता है। यदि कोई मकान ६० दिनो से अधिक खाली रहता है और उसकी सूचना नगर पालिका को कर दी जाती है तो उस मकान के कर में खाली रहने के समय की छूट दे दी जाती है।

सम्पत्ति पर कर निश्चित करने में कार्य के लिए बडी योग्यता की आवश्यकता है। हमारे देश में यह कार्य विशेषज्ञो द्वारा नही किया जाता। पहले इस कार्य को स्थानीय शासन के कर्मचारी किया करते थे परन्तु आजकल चेयरमैन तथा नगर पालिका के कुछ सदस्यो की समिति इस कार्य को करती है। यह समिति साधारणतया बडे पक्षपात से काम लेती है क्योकि उसको दूसरे चुनाव मे मत न मिलने का भय रहता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इस कर को ऐसे व्यक्ति निश्चित करें जिनका मतदाताओं से कोई सम्बन्ध न हो।

प्रत्यक्ष कर होने के कारण मकान अथवा सम्पत्ति कर बहुत अच्छा है। इसको लगाने तथा एकत्र करने में कोई विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। यह इस दृष्टि से लोचदार भी कहा जा सकता है कि जब मकानो की किराये की आय बढती है तब यह बढ जाता है। इसको बडी २ सम्पत्तियो पर अधिक कर लगाकर बर्द्धमान भी बनाया जा सकता है।

परन्तु इस कर से आय बहुत कम प्राप्त होती है क्योंकि नगर पालिकाओं के सदस्य दूसरे चुनाव में मत न मिलने के डर के कारण कर न देने वालों पर कोई विशेष सख्ती नहीं करते। कर लगाते समय वह पक्षपात से काम लेते हैं। वह बहुत से लोगों का कर माफ भी कर देते हैं। बहुत से लोगों पर वह कर लगाते ही नहीं। कर एकत्र करने का भी उचित प्रबन्ध नहीं है जिसके कारण बहुत सा कर एकत्र हुए बिना ही रह जाता है। उत्तर प्रदेश में यह अनुमान किया जाता है कि लगाये गए कर का केवल ७८ प्रतिशत ही एकत्र हो पाता है।

इन बातों के अतिरिक्त सम्पत्ति कर के विरुद्ध दो आपत्तियां और की जाती है —(१) यह इस लिए अनुचित है क्योंकि सम्पत्ति कर दाता की कर देने की योग्यता की उचित कसौटी नहीं है। (२) यह कर इस लिए भी अनुचित है क्योंकि इसके कारण पूंजी की गतिशीलता में बड़ी बाधा उत्पन्न होती है तथा मनुष्य की वास्तविक सम्पत्ति का पता लगाना बड़ा कठिन है। प्रो० सैलिगमैन ने तो सामान्य सम्पत्ति कर को एतिहासिक, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टियों से अनुचित बताया है। उनका कहना है कि एतिहासिक दृष्टि से जब तक यह कर कृषि सम्पत्ति पर लगाया जाता रहा तब तक तो कोई कठिनाई उत्पन्न न हुई। परन्तु व्यापार तथा उद्योग धन्धों की उन्नति होने पर इसको न्याय-सगत रखना कठिन हो गया। सैद्धान्तिक दृष्टि से उनका कहना है कि एक प्रकार की सम्पत्ति को दूसरी से भिन्न करना कठिन है। इसलिए यह निश्चित करना बड़ा कठिन है कि कर कौनसी सम्पत्ति पर लगाया जाए। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति से मनुष्य की कर देने की योग्यता का पता लगाना कठिन हो जाता है। व्यवहार में यह कर इस लिए अनुचित है कि यह केवल उन्हीं लोगों पर लगता है जिनके पास मकान आदि की सम्पत्ति होती है और जिनके पास ऐसी सम्पत्ति नहीं होती उन पर कोई कर नहीं लगता। इस लिए कई बार यह प्रतिगामी भी हो जाता है।

व्यापार, पेशे, कार्यों आदि पर कर
(Taxes on trades, professions, callings etc.)

यह कर भारत की प्राय सभी नगर पालिकाओं में लगाया जाता है परन्तु मद्रास, मध्य प्रदेश तथा बंगाल के अतिरिक्त इसका कहीं भी विशेष महत्व नहीं है। इस कर को लगाते समय सब व्यापारों को श्रेणियों में बांट दिया जाता है। हर श्रेणी के व्यापारियों की प्राय समान आय होती है। एक श्रेणी के सब व्यापारियों पर एकसा कर होता है। यह कर व्यक्तियों के अतिरिक्त कम्पनियों पर भी लगाया जाता है। कम्पनियों पर कर उनकी प्राप्त हुई पूंजी के अनुसार लगाया जाता है परन्तु दूसरे व्यापारों पर उनके द्वारा दिए गए दुकान के किराये के अनुसार लगाया

जाता है। यह कर मामूली ढग से वर्द्धमान कहा जा सकता है। परन्तु कुछ दशाओं में यह अनुपातिक भी होता है।

इस कर को लगाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इसके कारण व्यापार पर बुरा प्रभाव न पड़े। साथही साथ केवल उन ही उद्योगों पर यह कर लगाना चाहिए जिनको नगर पालिकाओं से लाभ होता है।

व्यक्तियों पर कर अथवा हैसियत कर
(Taxes on persons or Haisyat tax)--

यह कर व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति तथा सम्पत्ति अथवा हैसियत पर लगाया जाता है। कर लगाते समय व्यक्ति की आय ही नहीं देखी जाती वरन् यह भी देखा जाता है कि व्यक्ति का सामाजिक स्तर कैसा है तथा उसके परिवार में कितने व्यक्ति हैं।

हैसियत कर पंजाब में जिला बोर्डों द्वारा तथा मध्य प्रदेश की कुछ नगर पालिकाओं द्वारा लगाया जाता है। व्यक्तियों पर कर बंगाल, उत्तर प्रदेश, आसाम, बिहार और उड़ीसा राज्यों की नगर पालिकाओं द्वारा लगाया जाता है तथा उत्तर प्रदेश में जिला बोर्डों द्वारा भी यह कर लगाया जाता है। जिला बोर्डों का इस कर को लगाने का उद्देश्य यह है कि खेती न करने वाले व्यक्तियों से कर वसूल किया जा सके।

यह कर साधारणतया छोटी छोटी नगर पालिकाओं में लगाया जाता है और मकान कर का विकल्प (alternative) है। नगर पालिका का विस्तार बढ़ने पर इसको हटाकर मकान कर लगा दिया जाता है।

इस कर के विरुद्ध कर दाताओं को बड़ी शिकायत रहती है क्योंकि यह उचित प्रकार से नहीं लगाया जाता। इसको लगाने में बड़े पक्षपात से काम लिया जाता है और यदि पक्षपात से भी काम न लिया जाए तो भी व्यापार करने वालों की हैसियत का ठीक अनुमान लगाना बड़ा कठिन हो जाता है। इस कर का भार अधिकतर नौकरी करने वाले लोगों पर पड़ता है क्योंकि वह अपनी आय को छुपा नहीं सकते। इसी कारण इन लोगों को इस कर से बड़ी शिकायत रहती है। जैसे ही नगर पालिका का विस्तार बढ़ जाए वैसे ही मकान कर लगा देना चाहिए क्योंकि हैसियत कर का विषय व्यक्ति होता है जो कभी भी नगर पालिका को छोड़कर जा सकता है परन्तु मकान कर का विषय अचल सम्पत्ति होती है जिससे कभी भी कर वसूल किया जा सकता है। इसी लिए बड़ी बड़ी नगर पालिकाओं में मकान कर को लगाया जाता है क्योंकि उनमें छोटी नगर पालिकाओं की अपेक्षा व्यक्तियों की हैसियत जानना बड़ा कठिन होता है।

मल वाहन, रोशनी तथा अग्नि कर

(Conservency, lighting and fire taxes)

वास्तव में इनको कर न कहकर दर कहना चाहिए क्योंकि इनको व्यक्ति की कर देने की योग्यता के अनुसार नहीं लिया जाता वरन् उसकी नगर पालिका जो सेवा करती है उसके अनुसार लिया जाता है। कहीं कहीं तो इस कर का इतना धन व्यक्तियों से लिया जाता है कि नगर पालिका का इन सेवाओं पर किया गया खर्च पूरा हो जाए।

क्योंकि यह निश्चित करना बड़ा कठिन होता है कि नगर पालिका ने किसी व्यक्ति की कितनी सेवा की है इसलिए इस कर को साधारणतया व्यक्ति की सम्पत्ति के वार्षिक मूल्य के अनुसार लगाया जाता है। परन्तु इस प्रकार कर लगाना अनुचित है क्योंकि किसी व्यक्ति की सेवा उसके मकान के मूल्य के अनुसार नहीं की जाती। इसलिए उस आधार पर कर लेना भी उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की सेवा करना तो प्रत्येक नगर पालिका का कर्तव्य है। यदि नगर पालिका की आय कम हो और उसको अपना खर्च पूरा करने के लिए धन की आवश्यकता हो तो वह इसके स्थान पर मकान कर पर थोड़ा सा अधिभार लगा सकती है।

दूसरे छोटे कर (Other minor taxes)—

इन करों के अतिरिक्त बहुत से छोटे छोटे कर भी नगर पालिकाओं द्वारा लगाए जाते हैं। उदाहरण के लिए सम्पत्ति के हस्तान्तर करने का कर मद्रास सिटी कार्पोरेशन तथा कलकत्ता डेवलपमैंट ट्रस्ट लगाते हैं। मध्य प्रदेश में बाजार कर लगाया जाता है। यह कर बिक्री कर के समान होता है। क्योंकि बिक्री कर राज्य सरकारें लगाती हैं इसलिए नगर पालिकाएं इस कर को नहीं लगा सकती। मध्य प्रदेश में पशुओं की रजिस्ट्री कराने पर भी कर लगाया जाता है। बहुत से राज्यों में नौकरों तथा कुत्तों पर भी कर लगाया जाता है। यद्यपि यह विलासिता पर कर है परन्तु इस कर से इतनी कम आय होती है कि साधारणतया इस कर को नहीं लगाया जाता। उत्तर प्रदेश में मकान के भील के सामने होने, नाव तथा मिल किराये पर भी कर लगाया जाता है, बम्बई तथा उत्तर प्रदेश में धोबियों पर भी कर लगाया जाता है। यह कर इसलिए उचित है कि धोबी पानी को गन्दा करते हैं और उसके साफ करने में धन खर्च होता है। बहुत से राज्यों में इक्कों, तांगों, साइकिलों, रिक्शाओं, बैल गाड़ियों आदि पर भी कर लगाया जाता है। यह कर सवारी के प्रकार पर निर्भर होता है। तांगे आदि पर यह सब से अधिक होता है और साइकिलों पर सब से कम। इस कर को इस लिए लगाया जाता है क्योंकि गाड़ियां नगर पालिका की सड़कों को तोड़ती है और उनकी मरम्मत में नगर पालिका को धन खर्च करना पड़ता है। उत्तर प्रदेश में नगर पालिकाएं दो प्रकार का कर

लेती है। एक तो नगर पालिका की सड़कों को काम में लाने की आज्ञा देने का कर और दूसरा हाकने वालों पर कर। गाडियों आदि से मद्रास और बम्बई में अच्छी आय प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ नगर पालिकाओं में यात्रियों के ऊपर भी कर लगाया जाता है परन्तु यह वही नगर पालिकाएं हैं जो १६३५ के विधान से पहले इसको लगा रही थीं क्योंकि १६३५ के विधान तथा नए विधान में यात्रियों पर कर लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। कुछ राज्यों, जैसे मध्य प्रदेश, बम्बई कलकत्ता तथा उत्तर प्रदेश में तीर्थ क्षेत्रों पर जाने वाले लोगों से भी कर लिया जाता है। परन्तु इस मद से सब से अधिक आय उत्तर प्रदेश में ही प्राप्त होती है। बगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, बम्बई, उड़ीसा आदि में खानों पर भी कर लगाया जाता है।

नये करों के सुझाव (Suggestion for new taxes)—

उपर्युक्त करों के अतिरिक्त नगर पालिकायें कुछ ऐसे कर भी लगा सकती हैं जो उन्होंने अभी तक नहीं लगाए हैं। इनमें विशेष कर अधिकार (special assessments), अनर्जित आय कर (unearned increment tax), शादी पर कर (Marriage tax) आदि मुख्य हैं। विशेष कर-अधिकार इसलिए लगाना उचित है क्योंकि मकान या सम्पत्ति के मूल्य में जो वृद्धि नगर पालिका के किसी स्थान पर सड़क निकालने, सड़क को चौड़ा करने अथवा किसी स्थान पर बाजार लगाने के कारण हुई है वह उस समय न होती जब कि नगर पालिका इन कार्यों को न करती। इस लिए नगर पालिका को भूमि या मकान के मूल्य में जो वृद्धि हुई है उस पर कर लगाने का अधिकार है और नगर-पालिकाओं को उस अधिकार को काम में लाना चाहिए। अनर्जित आय भी सम्पत्ति के स्वामी के परिश्रम के कारण प्राप्त नहीं होती वरन् वह उस स्थान की सामान्य उन्नति अथवा सारे समाज की उन्नति के कारण होती है। इसलिए उस व्यक्ति की इस आय पर कर लगाया जा सकता है। शादी कर का सुझाव उत्तर प्रदेश में स्थानीय सस्थाओं को सहायक अनुदान देने के सम्बन्ध में नियुक्त की गई समिति (जो अक्टूबर १६४८ में नियुक्त हुई और जिसकी रिपोर्ट १६५० में छपी) ने दिया है। इस समिति का कहना है कि शादी में लड़के वाला लड़की वाले से लेकर बहुत सा धन खर्च कर देता है। इसलिए लड़के वाले से शादी कर लेना चाहिए। यह कर लड़की के रहने वाले मकान के वार्षिक किराये का १० प्रतिशत होना चाहिए। लड़की का मकान कर का आधार इसलिए रखा गया है क्योंकि बहुत से विवाह बड़े बड़े मकानों में किए जाते हैं परन्तु यह मकान अस्थायी रूप से लिए जाते हैं। यदि लड़की का मकान नगर पालिका की सीमा से बाहर हो अथवा उस पर किसी दूसरे कारण से कर न लिया जा सकता हो तो समिति ने प्रति शादी २५ रुपये कर वसूल करने का सुझाव दिया है। इस

समिति का यह भी सुझाव है कि लड़की के पिता को भी शादी की रजिस्ट्री कराने का एक रुपया देना चाहिए। मकान कर के सम्बन्ध मे इस समिति का विचार है कि यह ११२ नगर पालिकाओ में से केवल ३३ द्वारा लगाया जाता है और बहुत सी दशाओं में यह बहुत कम है। इस लिए सभी नगर पालिकाओं में इस कर को लगाना चाहिए तथा इसकी दर सब स्थानो पर समान होनी चाहिए। समिति का सुझाव है कि इस कर का आधार किराया होना चाहिए। सम्पत्ति कर के सम्बन्ध में समिति का सुझाव है कि इसको वर्द्धमान बनाना चाहिए जिससे कि यह कर-दाता की कर देने की योग्यता के अनुसार हो जाए। समिति का कहना है कि कर से छूट केवल स्वीकृत शिक्षा संस्थाओ, सरकारी अस्पतालो, धार्मिक स्थानो आदि को देनी चाहिए। समिति का यह भी सुझाव है कि व्यापार, पेशे आदि के कर से अभी तक बहुत कम लाभ उठाया गया है। इस कर से आय बढ़ानी चाहिए और डाक्टरो तथा वकीलो पर भी इस कर को लगाना चाहिए। समिति का एक सुझाव यह भी है कि सड़क से यात्रा करने वाले लोगो पर रेल के तीसरे दर्जे के किराये की दर पर कर लगाना चाहिए। समिति ने एक यह भी सुझाव दिया है कि मकान के किराये पर २ प्रतिशत का शिक्षा उपकर लगाया जाना चाहिए।

निम्नलिखित तालिका से भारतवर्ष की नगर पालिकाओ की प्रत्यक्ष करो की आय का अनुमान लगाया जा सकता है —

(लाख रुपयो में)

आय के मद	१९३५-३६	१९३६-३७	१९३७-३८
मकान तथा भूमि पर कर	५००	४९६	५०२
पेशो, व्यापार आदि पर कर	३२०	३२१	३३५
मलवाहन कर	९०	९३	९६
रोशनी कर	२९	३४	३६
गाड़ियो आदि पर कर	१६	१५५	१५१
सड़क तथा घाटो पर कर	२४१	२५७	२८६
भूमि की बिक्री पर उपकर	२६.५	२५	२६.३

अप्रत्यक्ष कर (Indirect taxes)—

हमारे देश में अप्रत्यक्ष करो द्वारा नगर पालिकाओ को बहुत अधिक आय प्राप्त होती है। अब से कुछ वर्ष पूर्व यह कर बम्बई (सिंध सहित) में बहुत महत्वपूर्ण थे जहाँ इनसे कुल आय की ३६ प्रतिशत आय प्राप्त होती थी। पंजाब में इन से ६२ प्रतिशत, उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त में ६५ प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में ६२ प्रतिशत तथा मध्य प्रदेश में ४९ प्रतिशत आय होती थी। इन करो में चुंगी

(Octroi), सीमा-कर (Terminal Tax) तथा मार्ग शुल्क (Toll Tax) सम्मिलित है।

चुङ्गी (Octroi)—

यह भारतवर्ष की नगर पालिकाओं का सब से महत्वपूर्ण आय का साधन है। यह कर बहुत पुराना है और कहते हैं कि इसको बहुत पुराने समय में भी लगाया गया था। भारतवर्ष में अंग्रेजों ने इसको फिर से चालू किया क्योंकि यह एक पुराना कर था और पुरानी कहावत के अनुसार पुराना कर कोई कर नहीं होता'।

जब नगर पालिका की सीमा में बाहर से कोई खाने पीने अथवा दूसरे उपभोग की वस्तु लाई जाती है, चाहे वह सड़क से, रेल से अथवा जल मार्ग से लाई जाती है, तो उस पर उसके मूल्यानुसार कर वसूल किया जाता है। जब किसी बाहर से लाई हुई वस्तु को फिर से बाहर भेजा जाता है तो उसकी चुङ्गी लौटा दी जाती है।

चुङ्गी साधारणतया निम्नलिखित वस्तुओं पर ली जाती है—

मनुष्य अथवा पशुओं की खाने पीने की वस्तुओं पर, मारे जाने वाले पशुओं पर, रोशनी, लकड़ी तथा सफाई करने वाली वस्तुओं पर, मकान बनाने व सजाने वाले सामान पर, रसायनिक वस्तुओं, दवाइयों, मसालों, गोंद, गुग्गुल, रंग, चमड़ा रंगने के सामान पर, तम्बाकू, कपड़ा, धातु तथा धातुओं से बने सामान पर।

परन्तु कुछ चीजों पर चुङ्गी नहीं ली जाती, जैसे वह वस्तुएं जिन पर सीमा कर (custom) अथवा उत्पादन-कर लग गया हो जैसे अफीम, धातुएं, नमक आदि, बहुमूल्य पत्थर तथा धातुएं जैसे सोना, चाँदी, हीरे आदि, सरकारी माल, गुड़ अथवा शीरा जो देशी शराब बनाने के काम में आता हो, यात्री के घर में काम आने वाला सामान, डाक के पासल, हथियार, मशीनें तथा पुर्जे, कोयला, गाड़ियां, किताबें, अखबार आदि।

१९३९—४० में चुङ्गी से उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त को ६४ प्रतिशत, सिंध को ६६ प्रतिशत, पंजाब व उत्तर प्रदेश को ६२ प्रतिशत तथा मध्य प्रदेश को ४६ प्रतिशत आय प्राप्त हुई थी।

कर की आलोचनाएं—

इस कर के विरुद्ध निम्नलिखित आलोचनाएं की गई हैं—

(१) इससे व्यापार की उन्नति में बड़ी बाधा पड़ती है। इसलिए व्यापारी इसका बड़ा विरोध करते हैं। इस कर के लगाने में नगर पालिका केवल अपनी आय का ही ध्यान रखती है परन्तु सारे देश का हित भूल जाती है।

(२) जिन स्थानों में चुङ्गी होती है वहा पर जो बाहर से आया हुआ माल नगर के बाहर फिर भेजा जाता है उस पर चुङ्गी लौटा दी जाती है। यह पद्धति बडी खराब है। इसके कारण नगर पालिका की बडी हानि होती है। इसका कारण यह है कि चुङ्गी के मुशी लोग व्यापारियों से मिलकर एक रसीद पर कई बार बहुनी कर देते हैं।

(३) चुङ्गी एकत्र करने का व्यय बहुत अधिक होता है। इस प्रकार नगर के लोगो को चुङ्गी तो बहुत देनी पडती है परन्तु नगर पालिका को आय बहुत कम होती है। नगर पालिका कर समिति, उत्तर प्रदेश के अनुसार १९०७–८ मे यह व्यय १८.२ प्रतिशत था। अब यह और भी बढ गया होगा।

(४) इस कर को लगाने में वैज्ञानिक रीति से काम नही लिया जाता जिसके कारण बेईमानी, चोरी आदि होती रहती है। चुगी वसूल करने के लिए नगर पालिका को सब सडकों पर रोक लगानी पडती है और वहा पर २४ घटे आदमियो को रखना पडता है। क्योंकि इन आदमियो को कम वेतन मिलता है इस कारण वह बडी बेईमानी से काम लेते है। यदि कोई व्यापारी इनको घूस नही देता है तो यह उसको तग करते है। यही कारण है कि उत्तर प्रदेश नगर पालिका कर समिति ने १९०९ में कहा था, 'इस पद्धति की बहुत सी बुराइयो की जड पर कर्मचारियो का गुण (quality) है'। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना उचित होगा। मेरठ शहर नगर पालिका की प्रतिदिन की चुगी का औसत ५०० रुपये से भी कम था। परन्तु जब से वहा पर नए चुनाव होकर सदस्य तथा अध्यक्ष बदले है तब से उनकी कडी निगरानी के कारण यह दैनिक औसत ३००० रुपये पर पहुच गया है। इससे पता चलता है कि यह २५०० रुपये रोज चुगी के मुशियो, नगर पालिका के सदस्यों आदि की जेबा में जाता रहा होगा।

(५) जिन तालिकाओ के अनुसार चुगी ली जाती है वह तालिकायें वैज्ञानिक रीति से नही बनाई जाती। यह तालिकायें नगर पालिकाओ के सदस्यों की इच्छाओ पर निर्भर होती है। जैसे मेरठ नगर पालिका में खरबूजे पर जो चुगी ली जाती है, आम पर उससे कई गुनी ली जाती है।

(६) चुगी कर के प्राय सभी सिद्धान्तो के विरुद्ध है। यह अनिश्चित है। यह लोगो के लिए सुविधाजनक भी नही है। इसका कर भार निश्चित करना कठिन है। यह नागरिको में कर्तव्य की भावना भी जाग्रत नही करती। इसके एकत्र करने का खर्च बहुत है। इसके कारण चुगी के मुशी आदि बेईमान हो जाते है।

इन सब बातों के कारण चुगी को एक घृणास्पद कर कहा गया है। सर जोशिया स्टाम्प ने चुगी के सम्बन्ध में कहा है, "मेरे विचार में, सैद्धान्तिक दृष्टि से तथा अनुभव के आधार पर, कोई भी देश उन्नतिशील नही हो सकता जो कि किसी भी प्रकार चुगी पर निर्भर रहता है जिसमें रोश

अवगुण है"। इसी कारण उत्तर प्रदेश नगर पालिका कर समिति १९०९ में इस कर को एक दम समाप्त करने का सुझाव दिया था और इसके स्थान पर सीमा-कर (Terminal tax) लगाने का सुझाव दिया था। परन्तु इस सब विरोध के होते हुए भी चुंगी अभी तक कायम है। इसके दो कारण हो सकते हैं—(१) यह नगर पालिकाओं की आय का एक अच्छा साधन है। (२) नगर पालिकाओं का प्रबन्ध अमीर लोगों के हाथों में होता है जिनको अप्रत्यक्ष कर कम और प्रत्यक्ष कर अधिक देने पड सकते हैं १९३५ ई० से इसका महत्व और भी बढ़ गया है क्योंकि अब सीमा-कर राष्ट्रपति की आज्ञा बिना नहीं लगाया जा सकता।

सीमा-कर (Terminal tax)—

१९०८–९ की यू० पी० नगर पालिका कर समिति का सुझाव था कि चुंगी के स्थान पर सीमा-कर लगाया जाए। भारत सरकार ने इस सुझाव को मान लिया और नगर पालिकाओं को आदेश दिया कि वह चुंगी के स्थान पर सीमा कर लगाए। १९१७ ई० में कुछ नगर पालिकाओं ने इस कर को लगाया, पर कुछ समय पश्चात, अर्थात १९२९–३० ई० में उनको अपनी नीति में बदल करनी पड़ी और चुंगी फिर से लगा दी गई इस प्रकार १९२९–३० में लगभग ५३ प्रतिशत नगर पालिकाएं इस कर को लगाती थी, परन्तु १९३९–४० में उनकी सख्या केवल ४७ प्रतिशत रह गई।

१९३५ तथा नए विधान के अनुसार रेल तथा वायु से जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमा कर लगाने का अधिकार सघीय सरकार को है। इस लिए नगर पालिकायें अब इस कर को नहीं लगा सकती। परन्तु विधान में यह भी दिया हुआ है कि जो नगर पालिकाएं इस कर को प्रान्तीय स्वशासन के आरम्भ होने से पहले लगा रही थी उनको इस कर के चालू रखने का अधिकार हो। इस प्रकार नयी नगर पालिकाएं इस कर को नहीं लगा सकती।

सीमा कर रेलो द्वारा एकत्र किया जाता है। इस कार्य के लिए रेलें, एकत्र किए गए कर का ३ से ५ प्रतिशत तक कमीशन के रूप में लेती हैं। चुंगी के समान यह भी उपभोग की वस्तुओं पर ही लगाया जाता है परन्तु इस चुंगीके समान कर का लौटाया नही जाता। यह कर मूल्यानुसार न लिया जा कर वजन के हिसाब से लिया जाता है। इस कर को लगाने के लिए जो तालिकायें बनाई जाती है वह रेलवे तालिकाओं के समान होती है।

सीमा कर सरल तथा सुविधा जनक है और इसके एकत्र करने का व्यय भी कम है। इस कर के एकत्र करने में नगर पालिकाओं को कोई कठिनाई नहीं होती। व्यापारी लोग भी सन्तुष्ट रहते है क्योंकि यहाँ पर उनको चुंगी के मुंशियों के समान कोई तग नहीं करता। इस कर से बचना भी कठिन है क्योंकि पार्सल क्लर्क इस कर

को उसी समय वसूल कर लेता है जब कि माल रेलवे गोदाम से छुड़ाया जाता है। यह कर मितव्ययी भी है क्योंकि इसके एकत्र करने का खर्च ३ से ५ प्रतिशत तक है।

परन्तु इस करके कुछ दोष भी हैं। पहला दोष तो यह है कि राज्य की सब नगर पालिकाओं की कर की दर समान न होने के कारण व्यापार में बड़ी बाधा पड़ती है। दूसरे रेल का व्यापार भी कुछ कम हो जाता है क्योंकि कर से बचने के लिए लोग माल सड़क से लाने लगते हैं। तीसरे इस कर में समता (equality) नहीं पाई जाती। इसका भार गरीबों पर पड़ता है क्योंकि जिन वस्तुओं का उपयोग गरीब लोग करते हैं साधारणतया वही भारी होती है।

इस कर को लगाते समय यह देख लेना चाहिए कि इसका भार ग्रामवासियों पर न पड़े जो कच्चा माल उगाते हैं।

सीमा मार्गशुल्क (Terminal tolls)—जिन नगर पालिकाओं में सीमा कर लगाया जाता है उनमें सीमा मार्ग-शुल्क भी लगाया जाता है। यदि ऐसा न किया जाये तो माल सड़क अथवा नाव से आने लगे। परन्तु लखनऊ तथा मुर्जा की नगर पालिकायें केवल सीमा-कर ही लगाती हैं।

यह कर सवारी के प्रकार के ऊपर होती है। जिस सामान को व्यक्ति अपने आप से जा सकता है उस पर सबसे कम कर लगता है। बैलगाड़ी, मोटर, साइकिल, खच्चर, आदि की अलग अलग दर होती है। इस कर को साधारणतया इसलिए लिया जाता है क्योंकि नगर पालिका के बाहर से आने वाली गाड़ियों को नगरपालिका की सीमा में चलने वाली गाड़ियों के समान कोई अनुज्ञा-पत्र-शुल्क (Licence fee) नहीं देना पड़ता, परन्तु वह नगर पालिका की सड़कों का उपयोग करके उनको तोड़ती फोड़ती रहती है। इसलिए उनसे सड़कों को प्रयोग में लाने का शुल्क लेना आवश्यक है। परन्तु साधारणतया हम यह कह सकते हैं कि यह व्यापार पर ही कर है।

इस कर का सबसे अधिक महत्व मद्रास में है जहा इससे बहुत सी आय प्राप्त होती है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से इसका महत्व घटता जा रहा है और मद्रास की नगर पालिकाओं तथा बम्बई के जिला बोर्डों को इस कर को छोड़ना पड़ा। उनके इस कर का घाटा मोटर गाड़ी कर से पूरा किया गया।

श्री सी बी कोटरेल (C B. Cotterell) ने स्थानीय स्वशासन विभाग की ओर से कर जाँच समिति के समक्ष अपने बयान देते समय कहा था कि भारतवर्ष को सभ्यता के पैमाने पर पहुँचा हुआ माना जाने के लिए मार्ग शुल्क को हटाना पड़ेगा। परन्तु मार्ग शुल्क का सभ्यता से कोई सम्बन्ध हो या न हो परन्तु यह अवश्य कहना पड़ेगा कि मार्गशुल्क व्यापार में बड़ी बाधायें डालती है और उनको दूर करना चाहिये।

व्यापारिक कार्यों से प्राप्त आय (Income from Commercial Undertakings)—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष आय के अतिरिक्त नगर पालिकाओं को कुछ आय व्यापारिक कार्यों से भी होती है। यह कार्य ऐसे होते हैं जो कि नगर के लोगों के लिए आवश्यक है। इन कार्यों में पानी बिजली, गैस, आवागमन के साधनों का प्रबन्ध करना सम्मिलित है।

पानी—नगर पालिकायें नगर में नलों द्वारा पानी पहुँचाती है। इस पानी पर नगर पालिका को बहुत सा खर्च करना पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह इस पानी का खर्च नगर के उन लोगों से लें जो पानी का उपभोग करते हैं। परन्तु उपभोग करने वालों में केवल वह लोग ही सम्मिलित है जो पानी के नल अपने घरों में लगवाते हैं। इन नलों के अतिरिक्त जन साधारण के लाभ के लिए सड़कों के किनारे स्थान स्थान पर भी नल लगवा दिए जाते है। इन सब नलों को वह सब लोग जो अपने घरों में नल नहीं लगवा सकते खूब काम में लाते हैं। पानी के नलों पर दो प्रकार से कर वसूल किया जाता है—(१) सबसे सामान्य कर लेना (Flat rate) (२) पानी के उपभोग के अनुसार कर लेना (*Meter system*)। पहली दशा में सब लोगों से चाहे वह कितने ही पानी का उपभोग करें एक निश्चित कर लिया जाता है। जैसे मेरठ नगर पालिका में पहले एक टोंटी पर ८ आने और अब २ रुपये कर लिया जाता है। इस प्रकार से कर लेने में क्योंकि पानी के उपभोग का कोई विशेष ध्यान नहीं रखा जाता इसलिए बहुत सा पानी बर्बाद किया जाता है। यही कारण है बड़े २ शहरों में नलों पर मीटर लगा दिए जाते हैं जिनसे पानी का उपभोग नाप कर उसके अनुसार कर वसूल किया जाता है। पहली पद्धति की अपेक्षा दूसरी ही उचित जान पड़ती है।

भारतवर्ष की नगर पालिकाओं के कानूनों में साधारणतया यह दिया रहता है कि वह वाटर वर्क्स के बनाने कायम रखने तथा उनका विस्तार करने में जितना धन खर्च करें वही नगर के लोगों से वसूल करें परन्तु व्यवहार में हमारे देश की नगर पालिकायें पानी से लाभ उठाती हैं, जैसे १९३९–४० में कुछ प्रान्तों की नगर पालिकाओं का आय और व्यय इस प्रकार था—[1]

	लाख रुपयों में	
प्रान्त	आय	व्यय
बंगाल	१०.४५	१२.८०
यू० पी०	३२.६०	२४.३५

1 Figures in the above table taken from Dr Gyan Chand's 'Local Finance in India' —P 168

पजाब	११·३३	१६·८२
मध्य प्रदेश	७·४८	८·४६
आसाम	१·७१	१·७१
बम्बई प्रान्त	३७·६५	२०·१६
मद्रास प्रान्त	२३·२७	२०·५६

इस प्रकार हम देखते है कि कुछ ही प्रान्तो की नगर पालिकाओं को छोड कर प्राय सभी को पानी मे लाभ होता है। परन्तु नगरपालिका के बढते हुए खर्च के कारण इस लाभ को कम नही करना चाहिए।

बिजली—कुछ नगरपालिकायें जिनमें शिमला एक है अपनी बिजली बनाकर नगर मे पहुचाती है। इस मद से भारत की नगरपालिकाओ को १९३५-३६ में लगभग २९ लाख १९३६-३७ में लगभग ३४ लाख तथा १९३७-३८ मे लगभग ४० लाख रुपए की आय हुई।

किराया—नगरपालिकायें अपनी सराय, मकान, दुकान आदि भी बनवाकर नगर के लोगो को किराये पर उठा देती है। इसके अतिरिक्त वह अपनी जमीन को एक लम्बे पट्टे पर भी नगर के लोगो को दे देती है। १९३५-३६ में इस प्रकार की आय लगभग ४७ लाख, १९३६-३७ मे लगभग ५० लाख ७३ हजार तथा १९३७-३८ मे लगभग ४६ लाख ८४ हजार थी।

कसाई घर—नगरपालिकायें अपने कसाई घर भी रखती है केवल जिनमे पशुओ की बली हो सकती है। इन कसाई घरो के प्रयोग के लिये वह कुछ किराये लेती है।

आवागमन के साधन—बड़े बड़े नगरो जैसे कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि मे स्थानीय सस्थायें अपनी बसें अथवा ट्राम गाडिया भी चला देती है। इनसे नगर के लोगो को बडा लाभ होता है। इस प्रकार की सेवाओ की मूल्य के आधार पर न देकर लाभ के आधार पर दिया जाता है।

सहायक अनुदान (Grants-in aid)—स्थानीय सस्थाओ को बहुत से कार्य करने पडते है जिन पर उनका बहुत सा धन खर्च होता है। परन्तु उनको इतनी आय नही होती। इसलिए उनको राज्य सरकारें सहायक अनुदान देती है। यह कई ढङ्गो से दिया जाता है। इसका एक ढङ्ग तो यह है कि किसी सेवा पर नगरपालिका का जो व्यय होता है उसकी एक निश्चित प्रतिशत उनको अनुदान के रूप में दे दी जाती है। दूसरे ढङ्ग के अनुसार एक अमुक सेवा के लिये एक निश्चित धन राशि दे दी जाती है चाहे उस सेवा पर कुछ भी खर्च हो। तीसरे ढङ्ग के अनुसार इकाई के अनुसार सहायता दी जाती है जैसे शिक्षा के लिये सहायता प्रति शिक्षा सस्था अथवा विद्यार्थी के अनुसार दी जाती है। इन तीनो ढङ्गो मे अपने अपने कुछ गुण

अथवा दाय है। वास्तव में सहायक अनुदान देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नगरपालिका की आय क्या है। वह कितना धन खर्च कर रही है, उसको किस मद पर कितना धन खर्च करना चाहिए आदि। परन्तु हमारे देश में इन सब बातों का कोई विशेष ध्यान नहीं रखा जाता। हमारे देश में अनुदान को प्राप्त करने में नगर पालिकाओं के सदस्यों अथवा अध्यक्षों के व्यक्तिगत प्रभाव बहुत काम करते हैं। यह अनुचित है।

हमारे देश की राज्य सरकारें नगर पालिकाओं को दो प्रकार की सहायता देती हैं—(१) आवर्ती अनुदान (Recurring grant) तथा (२) समवरुद्ध अनुदान (Block grant)। पहले प्रकार का अनुदान प्रति वर्ष दिया जाता है। तथा दूसरे प्रकार एक बार ही दे दिया जाता है उसको फिर नहीं दिया जाता। यह अनुदान विद्या, स्वास्थ्य चिकित्सा तथा आवागमन के साधनों के लिये दिया जाता है। इनमें से शिक्षा का अनुदान सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि नगर पालिकाओं को शिक्षा का प्रबन्ध आवश्यक तथा निःशुल्क करना पड़ता है।

१९३९–४० में हमारे देश के कुछ राज्यों की नगर पालिकाओं को अपनी कुल आय का निम्नलिखित प्रतिशत अनुदान के रूप में प्राप्त होता था—

बंगाल ६, बम्बई ६, मद्रास १०, उत्तर प्रदेश ५, पंजाब ५, मध्य प्रदेश ४, आसाम १६, बिहार १६ तथा उड़ीसा १७।

स्थानीय ऋण (Local Loans)

स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था में ऋणों का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। और न ही उनको ऋण लेने की अधिक शक्ति प्रदान करनी चाहिए।

हमारे देश में स्थानीय संस्थायें सदा ही सरकारी नियन्त्रण में रही हैं। उन पर १८७१, १८७९ तथा १९१४ के स्थानीय संस्था ऋण एक्ट (Local Authorities Loans Act) लागू रहे हैं। इस नियन्त्रण के कारण स्थानीय संस्थायें इतना ऋण नहीं ले सकीं जितना कि वह दूसरे देशों में लेती हैं।

हमारे देश में स्थानीय संस्थायें निम्नलिखित कार्यों के लिये ऋण ले सकती हैं—

(१) कर्मशालायें (Works) बनाने के लिए, (२) अकाल अथवा कमी के समय सहायता देने तथा सहायता केन्द्रों के चालू करने तथा उनको कायम रखने के लिए, (३) किसी भयंकर रोग को रोकने तथा उसके न फैलने देने के लिए, (४) भूमि प्राप्त करने के लिये, (५) पुराने ऋण को चुकाने के लिये।

हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं की स्थिति इतनी खराब है कि उनको सार्वजनिक ऋण प्राप्त करने में सफलता मिलनी कठिन है। थोड़ा बहुत ऋण इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों ने अवश्य लिया है। यह संस्थायें साधारणतया पानी की कर्मशालाओं

तथा नगर से गन्दा पानी बाहर निकालने के लिये व नालियों का प्रबंध करने के लिए ही ऋण लेती रही है। परन्तु अभी कुछ वर्षों पूर्व उन्होंने बाजार, कसाई खाने बनाने तथा बिजली की योजनाओं को पूरा करने के लिए भी ऋण लिए हैं। इनको कुछ ऋण दफ्तर की इमारत स्कूल तथा हस्पतालों के बनाने के लिए भी दिए गए हैं।

हमारे देश में स्थानीय संस्थायें ऋण को वार्षिक वृत्ति (Annuities) या शोधन कोष (Sinking Fund) द्वारा चुकाती हैं।

सरकार का स्थानीय संस्थाओं को सार्वजनिक ऋण लेने की आज्ञा न देना कड़ी आलोचना का विषय रहा है। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाए तो केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों द्वारा सार्वजनिक ऋण लेकर उनको नगर पालिकाओं को दे देना अच्छा है क्योंकि ऐसा करने से राष्ट्रीय साधनों का पूरा उपयोग हो सकता है जो कि स्थानीय संस्था के ऋण लेने पर नहीं हो सकता।

नगरपालिकाओं का व्यय

(Expenditure of the Municipalities)

नगरपालिकायें निम्नलिखित कामों पर धन का व्यय करती हैं—

(१) मलवाहन (Conservancy)—नगर की सड़कों की सफाई कराना, कूड़ा करकट नगर के बाहर फिकवाना नालियों की सफाई कराना, पाखाना नगर के बाहर पहुंचाना आदि कार्य नगर पालिकाओं के मुख्य कार्य है और इन पर ही उनका सबसे अधिक व्यय होता है। १६३७-३८ में इस मद पर २३८७५ लाख रुपए खर्च हुए।

(२) स्वास्थ्य सेवायें (Health Services)—इसके पश्चात नगर पालिकाओं की स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवायें भी महत्वपूर्ण हैं। नगर पालिकायें नगर में हस्पतालों, दवाखानों आदि का प्रबन्ध करती हैं तथा बच्चों के चेचक के टीके लगवाती हैं। बरसात से पहले तथा उसके बीच में कुओं में लाल दवाई डलवाकर उनकी सफाई कराती हैं। इसके अतिरिक्त वह एक स्वास्थ्य अफसर भी रखती है जो देखता है कि नगर में कोई ऐसी वस्तु न बिके जिससे रोग फैलने का भय रहता है। इस प्रकार वह गली, सड़ी सब्जी, मिठाई आदि को फिकवा देता है तथा मिलावट की चीजें आदि नहीं बेचने देता। इस प्रकार नगर पालिकायें यह ध्यान रखती हैं कि नगर में बीमारी

न फैले। अभी हाल ही में हस्पतालों को राज्य सरकारें अपने हाथ में ले रही है। यह एक अच्छी बात है क्योंकि नगर पालिकायें अपने सीमित साधनों से हस्पतालों को ठीक प्रकार से नहीं चला सकती। १९३७-३८ में इस मद पर लगभग १ करोड़ रुपए खर्च किये गये।

(३) शिक्षा (Education)—हमारे देश की नगर पालिकाओं के ऊपर यह भार है कि वह प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क दें। इस प्रकार से शिक्षा बहुत सी नगर पालिकाओं में दी जाती है। जो लोग अपने छोटे बच्चों को स्कूलों में नहीं भेजते उनको दण्ड दिया जाता है। परन्तु ऐसा देखने में आया है कि इस प्रकार से शिक्षा कम बच्चों को मिल पाती है क्योंकि नगर पालिकाओं के द्वारा संचालित स्कूलों में शिक्षा का उचित प्रबन्ध न होने के कारण अमीर आदमी तो अपने बच्चों को भेजते नहीं और गरीब आदमी अपने बच्चों से काम कराने के कारण नहीं भेजते।

प्रारम्भिक शिक्षा के अतिरिक्त कुछ नगर पालिकायें अपने माध्यम शिक्षा स्कूल भी चलाती हैं पर ऐसी नगरपालिकायें कम हैं। १९३७-३८ में शिक्षा व्यय २३५.१५ लाख रुपए था।

विविध व्यय (Miscellaneous Expenditure)—इन कार्यों के अतिरिक्त नगर पालिकायें अपने क्षेत्र में सड़कें, इमारतें, कमाई खाने, खेलने के मैदान आदि भी बनवाती हैं। १९३७-३८ में सड़कों पर १५२.१३ लाख, इमारतों पर ३३.८६ लाख खर्च किया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नगर पालिकाओं को ऐसी सेवायें सौंपी गई हैं जिन पर की राष्ट्र का जीवन निर्भर है। इन सेवाओं पर खर्च करने की बहुत अधिक आवश्यकता है परन्तु हमारे देश की नगर पालिकाओं के साधन सीमित हैं। ऐसा अनुमान है कि आजकल नगर पालिकाओं को अधिक से अधिक ६ रु० १२ आ० ३ पाई प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष कर के रूप में प्राप्त होता है और औसत केवल ४ रु० का है। जिला बोर्डों की अधिकतम आय तो केवल १ रु० ४ आ० ९ पाई तथा औसत आय केवल ८ आ० ही है। १९२९-३० से उनकी आय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। भारत के कुछ बड़े बड़े राज्यों की औसत आय इस प्रकार है—

बंगाल ४ आ० ९ पा०, उड़ीसा ५ आ० ३ पा०, उत्तर प्रदेश ६ आ० ११ पा० तथा आसाम ७ आ०। इतनी कम आय से हम कैसे आशा कर सकते हैं कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि का उचित प्रबन्ध कर सकती हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि या तो उनको आय के कुछ और साधन दिए जायें या उनसे कुछ कार्य ले लिये जायें और उनका भार राज्य सरकारों पर डाला जाए।

जिला बोर्डों की आय और व्यय

(Income and Expenditure of District Boards)

आय

भूमि पर उपकर (Land cess)—जिला बोर्डों की आय का मुख्य साधन भूमि पर उपकर है। इसके द्वारा उनकी आय का ६७ से ६६ प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। इसका पता नीचे की तालिका से चल सकता है[1] —

राज्य	भूमि पर उपकर द्वारा प्राप्त आय का कुल आय में प्रतिशत	
	१६२६–३०	१६३६–४०
बंगाल	८६	६८
बम्बई	७७	६५
मद्रास	६५	६७
उत्तर प्रदेश	८१	६२
पंजाब	६३	८७
मध्य प्रदेश	६०	८०
आसाम	८८	६४
बिहार	६०	६७
उड़ीसा	—	६६

यह कर अस्थायी बन्दोबस्त वाले राज्यों में भूमि के वार्षिक मूल्य (Annual Value) पर तथा स्थायी बन्दोबस्त वाले राज्यों में जोती हुई भूमि के क्षेत्रफल पर लगाया जाता है। वार्षिक मूल्य का सब राज्यों में एक ही अभिप्राय नहीं है। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में इसका अभिप्राय उस लगान से है जो किसान जमींदार को देता है, परन्तु उत्तर प्रदेश और पंजाब में इसका अभिप्राय भूमि की मालगुजारी के दुगने से है। बम्बई, मध्य प्रदेश आसाम तथा मद्रास के स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में वार्षिक मूल्य का अभिप्राय उस मालगुजारी से है जो भूमि पर ली जाती है। यही नहीं इस कर की दर भी स्थान स्थान पर भिन्न है। उत्तर प्रदेश में यह कर वार्षिक मूल्य पर ६¼ प्रतिशत अथवा सरकार को दी जाने वाली मालगुजारी पर १२६ प्रतिशत लगाया जा सकता है। यदि कर क्षेत्रफल के अनुसार लगाया जाता है तो कर की दर २½ आने प्रति एकड़ हो सकती है। परन्तु १६०६ से यह कर वार्षिक मूल्य पर ५ प्रतिशत तथा शेष पर २ आने प्रति एकड़ की दर से लिया जाता है। पंजाब, बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश में इस कर की दर वार्षिक मूल्य की ६¼ प्रतिशत

1. Table taken from Mehta and Agarwala's 'Public Finance, P. 565

है। इन राज्यों में कर की दर समान होते हुए भी उसका भार भिन्न है क्यों कि कर का आधार सब स्थानों पर समान नहीं है।

इस कर को लगान के साथ वसूल किया जाता है। इसके एकत्र करने के लिए जिला बोर्डों से कुछ कमीशन नहीं लिया जाता। यह कर जमींदारों से लिया जाता है परन्तु कुछ राज्यों में जमींदार इसको किसानों से भी वसूल कर सकते हैं, जैसे उत्तर प्रदेश में यदि कर की दर ५ प्रतिशत से बढा दी जाय तो अधिक कर के ½ तक को किसानों से वसूल किया जा सकता है। मध्य प्रदेश में ६¼ प्रतिशत से अधिक का ½ वसूल किया जा सकता है। बगाल, बिहार, उडीसा तथा मद्रास के स्थायी बन्दोबस्त वाले भागों में आधा कर किसानों से तथा आधा जमींदारों से वसूल किया जाता है।

क्योंकि यह कर मालगुजारी के साथ वसूल किया जाता है इसलिए इसकी आय साधारणतया कम घटती, बढती है। इसमे प्राप्त आय १९२९–३० में ४६४'१८ लाख रुपए, १९३४–३५ में ५३८'६४ लाख रुपए तथा १९३९–४० में ४७८'३८ लाख रुपए थी।

सम्पत्ति तथा परिस्थिति पर कर (Tax on Circumstances and Porperty)—इस कर का दूसरा नाम हैसियत कर भी है। यह कर मनुष्य की कुल आय पर लगाया जाता है। इसलिए १९३५ के विधान में सिवाय उन जिला बोर्डों के जो इस कर को प्रान्तीय स्वशासन से पहले ही लगा रहे थे कर लगाने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार यह कर पजाब, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के जिला बोर्डों द्वारा अब भी लगाया जाता है। यह कर उन लोगों से ही लिया जाता है जो ग्रामों में रहते हैं। जो लोग नगर पालिकाओं तथा नोटीफाइड एरिया की सीमा में रहते है उनसे नहीं लिया जाता। इस कर में एक न्यूनतम छूट भी दी जाती है। इस कर की दर ४ पाई प्रति रुपए से अधिक नहीं हो सकती।

यह कर प्रत्यक्ष कर है और वर्द्धमान रीति से लगाया जा सकता है। परन्तु इसमें छूट की न्यूनतम सीमा उत्तर प्रदेश में २०० रुपए तक है। इसलिए इसका भार गरीबों पर भी पडता है। इसके अतिरिक्त इसके लगाने का ढङ्ग भी सन्तोष जनक नहीं है। इसके अतिरिक्त इससे प्राप्त आय भी बहुत है जैसे उत्तर प्रदेश में १९२९–३० में १९७'१४ लाख रुपए में से केवल २ ९६ लाख रुपए इस कर की आय थी। इन सब बातों के कारण बहुत से राज्यों में इसको छोडा जा रहा है।

मार्ग शुल्क (Tolls)—

जिला बोर्ड अपने क्षेत्र में पडने वाली नदियों के घाटों का ठेका देकर मार्ग शुल्क वसूल करते हैं। यह ठेका नीलाम किया जाता है। जिसकी बोली सबसे अधिक

होनी है उसको ठेका छोड़ दिया जाता है। उसके पश्चात ठकेदार घाट पर से उतरने वाले से कर वसूल करता रहता है। इस कर से सिवाय मद्रास राज्य के कहीं भी विशेष आय नहीं है। मद्रास में १६२६–३० में इससे प्राप्त आय ८८.३६ लाख रुपय थी परन्तु उत्तर प्रदेश में ६.४२ लाख, बंगाल में ६.३६ लाख, बम्बई में ६.३६ लाख तथा पंजाब में २.६७ लाख थी। मद्रास में आय इसलिए अधिक थी क्योंकि वहां पर यह व्यापार पर कर के रूप में वसूल किया जाता है। पर इस प्रकार कर लगाने से किसानों को बहुत हानि होती है। वह कर से बचने के लिए फसल को मंडी में न लेजाकर गांव के महाजन को ही बेच देते हैं और बड़ी हानि उठाते हैं। घाटों के ठेके देने की पद्धति भी उचित नहीं जान पड़ती क्योंकि ठेकेदार गांव वालों को बहुत तंग करते हैं।

कांजी हौस (Cattle pounds) इनके अतिरिक्त जिला बोर्डों को कांजी हौस, से भी कुछ आय प्राप्त हो जाती है। कांजी हौस में आवारा फिरने वाले पशुओं को बन्द कर दिया जाता है और उनका मालिक पशुओं को कर देकर छुड़ा सकता है। कहीं कहीं इस प्रकार के कर वसूल करने का ठेका भी दे दिया जाता है।

शुल्क (Fees)—जिला बोर्ड गांव में प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए स्कूल भी खोलते हैं। इन स्कूलों में नगर पालिकाओं के समान निशुल्क शिक्षा नहीं दी जाती वरन् बच्चों से थोड़ी फीस ली जाती है।

किराया (Rent) जिला बोर्डों को कुछ आय सराय तथा दूसरी प्रकार की इमारतों के किराये से भी हो जाती है। पर यह आय बहुत कम होती है।

मेले (Fairs)—जिन जिला बोर्डों के क्षेत्र में मेले लगते हैं उनको उन मेलों से भी आय प्राप्त होती है। मेरठ जिले में गढ़मुक्तेश्वर पर गंगा स्नान का मेला तथा मेरठ नगर में नौचन्दी का मेला लगता है। इसी प्रकार जहां कहीं इस प्रकार के मेले लगते हैं वहां पर जिला बोर्डों को उनसे आय होती है।

सहायक अनुदान (Grants-in-aid)—यह जिला बोर्डों की आय का एक मुख्य साधन है और इससे १६३६–४० में जिला बोर्डों की कुल आय का बंगाल में २८ प्रतिशत, बम्बई में २० प्रतिशत, मद्रास में १४ प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में ४२ प्रतिशत तथा पंजाब में ४५ प्रतिशत आय प्राप्त हुई।

यह अनुदान शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क, चिकित्सा आदि के लिए दिया जाता है। जिला बोर्डों को इतनी आय सहायता द्वारा प्राप्त होने के कारण राज्य सरकारों का उनके कार्य में बड़ा हस्तक्षेप रहता है।

जिला बोर्डों का व्यय

Expenditure of the District Boards—

जिला बोर्ड साधारणतया निम्नलिखित कार्यों पर खर्च करते हैं :—

शिक्षा (Education)— जिला बोर्डों का मद में अधिक खर्च शिक्षा पर होता है। यह केवल प्रारम्भिक शिक्षा ही देते हैं। शिक्षा के लिए इनको बहुत सी सहायता राज्य सरकारों से मिलती है। १९२८–२९ में जिला बोर्डों का शिक्षा पर व्यय ५९०.८२ लाख रुपये १९३१–३२ में ६२४.५३ लाख रुपये तथा १९३६–३७ में ५२६.६६ लाख रुपये था।

सड़कों तथा इमारतों पर खर्च (Expenditure on roads and buildings)–

इस मद पर इनका लगभग ३ प्रतिशत व्यय होता है। परन्तु इनके अधिकार में इतना बड़ा क्षेत्र है और इनकी आय कम है इसलिए इनकी सड़कें प्रायः खराब ही मिलती हैं।

हस्पताल तथा सफाई (*Hospitals* and sanitation)—

जिला बोर्ड स्थान स्थान पर हस्पताल भी रखते हैं जिनमें गांव के लोगों को प्रायः निःशुल्क दवाई दी जाती है। इसके अतिरिक्त यह गांव में चेचक के टीके भी लगवाते हैं। इन सब पर भी उनको बहुत खर्च करना पड़ता है।

इन सब के अतिरिक्त उनको कर्मचारियों, पशुओं के हस्पतालों, मेलों, नुमायशों आदि पर भी खर्च करना पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिला बोर्डों के हाथ में जो मद हैं उन पर बहुत अधिक धन खर्च करने की आवश्यकता है परन्तु उनकी आय बहुत ही कम है। सब जिला बोर्डों की प्रति व्यक्ति आय का औसत ८ आने है। इतनी कम आय से यह कैसे शिक्षा, सड़क, स्वास्थ्य आदि विषयों पर अधिक खर्च कर सकते हैं। यही कारण है कि हमारे देश के ग्रामों की स्थिति इन सब बातों में शोचनीय है। जब तक जिला बोर्डों की आय में वृद्धि न होगी तब तक वह इन सब कार्यों को कैसे कर सकते हैं।

ग्राम पचायत की आय और व्यय

Income and Expenditure of the Village Panchayats—

आय

उत्तर प्रदेश में ग्राम पचायतों को निम्नलिखित मदों से आय प्राप्त होती है —

(१) कर—गांव सभा निम्नलिखित कर लगा सकती है —

(अ) जो लगान आसामी देते हों उस पर एक आना प्रति रुपया। यदि आसामी सीर या किसी अमल आसामी का शिकमी है तो इस कर में से ½ शिकमी आसामी देगा और ½ अमल आसामी या सीरदार देगा।

(ब) जमींदारों पर २ पैसे प्रति रुपये की दर से उस लगान पर जो वे वसूल करते हैं।

(ग) यदि जमींदार जमीन को खुद जोता है तो उसकी जमीन का लगान मालूम करके उस पर एक आना प्रति रुपया लगाया जा सकता है।

(ङ) कारबार, व्यापार और ग्राम पेशा करने वालों पर भी कर उस दर पर लगाया जा सकता है जो राज्य सरकार निश्चित करेगी।

(च) मकानों व ऐसे मालिकों पर भी जिन पर उपर्युक्त वर्ग में कोई कर नहीं लगाया जा सकता।

(२) राजीनामों के रूप में दी गई रकम।

(३) गाँव-पंचायत के कर्मचारियों द्वारा एकत्र किया हुआ कूड़ा करकट घर गोबर, या मरे हुए जानवरों की लाशों इत्यादि के बेचने से जो आय हो।

(४) राज्य सरकार द्वारा गाँव-सभा को सौंपा हुआ धन।

(५) ऐसा धन जो गाँव कोष के लिए कोई जिला बोर्ड या दूसरा स्थानीय अधिकारी दे।

(६) ऐसा धन जो राज्य सरकार की किसी साधारण या विशेष आज्ञा द्वारा गाँव-कोष में दी जावे।

(७) जुर्माने से प्राप्त धन।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्राम-पंचायतों की आय का मुख्य स्रोत भूमि पर उपकर तथा हैसियत कर है। इन करों से प्राप्त आय बहुत कम होती है। यही कारण है कि वे कोई विशेष कार्य नहीं कर सकती।

व्यय

प्रत्येक ग्राम पंचायत, जहाँ तक उसका कोष आज्ञा दे, निम्नलिखित कार्य कर सकती है —

रास्ते बनवाना तथा उनकी मरम्मत करना, संक्रामक रोगों को दूर करने तथा उनका फैलने से रोकने के लिए चिकित्सा सम्बन्धी और रोक थाम के उपायों को काम में लाना, सफाई तथा रोशनी का प्रबन्ध करना गाँव सभा के अधिकार में में जो सम्पत्ति हो उसकी मरम्मत करना मनुष्यों और पशुओं की लाशों और दूसरे दुर्गन्ध वाले पदार्थों का ठीक प्रबन्ध करने के लिए स्थान की व्यवस्था करना प्रारंभिक शिक्षा का प्रबन्ध करना कुओं तालाबों, पोखरों को बनवाना, सुधारना तथा उनको अच्छी तरह बनाये रखना, खेती बाड़ी व्यापार और उद्योग धन्धों की उन्नति में सहायता करना, आग बुझाने का प्रबन्ध करना पशु गणना जन गणना आदि के लिए आँकड़ा का एकत्र करना, सूति का और शिशु का हित करना।

इनके अतिरिक्त ग्राम-पंचायतें कुछ कार्य अपनी इच्छा से भी कर सकती है, जैसे सड़कों के दोनों ओर पेड़ लगवाना, पशुओं की नस्ल सुधारना, उनकी चिकित्सा और उनके रोगों की रोक थाम करना, गन्दे गड्ढों को भरवाना, गाँवकी रक्षा का प्रबन्ध

२- और औजारों के गोदाम स्थापित करना, अकाल आदि में सहायता
...र्य और वाचनालय स्थापित करना, खेलों और मनोरंजन के लिए आदि बनवाना खाद और कूड़ा हटाने का प्रबन्ध करना, सार्वजनिक रेडियो सेट और ग्रामोफोन का प्रबन्ध करना।

उपर्युक्त सब कार्यों पर इतना धन खर्च करने की आवश्यकता है कि वह करना ग्राम पंचायतों की शक्ति के बाहर है। यदि राज्य सरकार चाहती है कि ग्राम पंचायतें यह सब कार्य करें तो उनको आय के कुछ नए साधन सौंपने पड़ेंगे, नहीं तो पंचायत कोई कार्य न कर सकेगी।

स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक स्थिति पर एक दृष्टि—

इस प्रकार हम देखते है कि हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं के जिम्मे ऐसे कार्य रखे गए हैं जिन पर हमारे राष्ट्र का जीवन निर्भर है। इन सब कार्यों पर बहुत सा धन खर्च करने की आवश्यकता है पर इन संस्थाओं की आय सीमित है। साईमन कमीशन ने इनकी आय के सम्बन्ध में कहा था, "सब प्रकार की स्थानीय दरों नगर तथा ग्राम की, से १६२७–२८ में १२५ लाख($2\frac{1}{2}$ million) पौंड की आय हुई, जो कि उस वर्ष में केवल लन्दन काउन्टी कौंसिल की दरों की आय से कुछ ही अधिक है"।

इसके विपरीत उनका कार्य भार १६१६ के पश्चात से बढता जा रहा है और नए विधान में वह और भी बढ गया है। इन सब कार्यों को करने के लिए उनको अधिकाधिक धन की आवश्यकता है।

भारतीय कर जाच समिति ने उनकी आय बढाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए —

(१) मालगुजारी का उचित कर दिया जाना जिससे कि स्थानीय संस्थायें ऊची दर (rate) पर भूमि उपकर लगा सकें।

(२) प्रान्तीय सरकारों द्वारा एकत्र किए गए भूमि के किराए तथा गैर-कृषि भूमि की बढी हुई आय में से स्थानीय संस्थाओं को एक अंश दिया जाए।

(३) नगर पालिकाओं को विज्ञापनों पर कर लगाने का अधिकार दिया जाए।

(४) मनोरंजन तथा बाजी करों को बढाया जाए तथा उनसे प्राप्त आय का एक बडा भाग इन संस्थाओं को दिया जाए।

(५) स्थिति, पेशों तथा सम्पत्ति करों की व्यवस्था को सुधारा जाए।

(६) मोटर करों पर प्रान्तीय करों को घटाया जाए जिससे कि प्रान्तीय सरकारें उन पर कर लगा सकें और उसको स्थानीय संस्थाओं में बांट सकें।

(७) चुने हुए क्षेत्रों में स्थानीय संस्थाओं को शादी की रजिस्ट्री करने का अधिकार दिया जाए।

(८) प्रान्तीय सरकारों को स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी जाए।

बम्बई तथा उत्तर प्रदेश की स्थानीय स्वशासन जाँच समिति ने इन सुझावों का अनुमोदन किया और उत्तर प्रदेश की समिति ने कुछ और सुझाव भी दिए जो निम्नलिखित है —

(१) नगर और ग्रामों में महाजनों पर कर लगाया जाए।

(२) प्रान्तीय कोर्ट फीस का कुछ भाग इनको दिया जाए।

(३) मुद्राक कर के १/६ के बराबर अधिकर लगाकर उससे प्राप्त आय इनको बाँटी जाए।

(४) पंचायतों के लिए इस समिति के निम्नलिखित सुझाव थे —

(१) जमींदारी के लगान पर लाए गए कर का ५ से ७½ प्रतिशत पंचायतों को दिया जावे।

(२) प्रान्तीय सरकारों को मिलने वाली मालगुजारी का ५ प्रतिशत इनको दिया जाए।

(३) भूमि उपकर का २५ प्रतिशत जिला बोर्डों द्वारा इनको दिया जाए।

(४) यदि आवश्यक हो तो श्रम दर (Labour rates) के बदले श्रम कर (Labour tax) लगाया जाए।

इनके अतिरिक्त राज्य सरकारों को आवश्यकता पड़ने पर इन संस्थाओं को सहायक अनुदान भी देने चाहियें।

स्थानीय संस्थायें अपनी आय बढ़ाने के लिए बिजली, पानी, सिनेमा आदि अपने हाथ में ले सकती है। वह बाजार, हाट, इमारतें आदि बनवा सकती है। इस प्रकार वह अपनी आय बढ़ा सकती है।

बिना आय बढ़े यह संस्थायें वास्तविक कार्य नहीं कर सकती। इस लिए उनकी आय बढ़ाना आवश्यक है।

अध्याय १०

भारत का सार्वजनिक ऋण

(Public Debt of India)

सार्वजनिक ऋण का रिवाज अभी लगभग डेढ़ सौ वर्ष से हुआ है। उससे पहले राजा अथवा बादशाह एक खजाना रखते थे जिसमें से धन खर्च होता था। युद्ध काल में यह खजाना खाली हो जाता था। उस समय शासक किसी बड़े सेठ से ऋण ले लिया करता था। परन्तु वह व्यक्तिगत ऋण था, सार्वजनिक नहीं।

हमारे देश में सार्वजनिक ऋण लेने का आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने किया जिसको बहुत से युद्ध लड़ने थे। इस प्रकार जब १७६५ ई० में कम्पनी के हाथ में बङ्गाल का शासन आया तो वह ऋण ले चुकी थी। १७९३ ई० में यह ७० लाख पौण्ड हो गया। १८१४ ई० में जब कम्पनी इङ्गलैण्ड के बादशाह के लिए भारत पर शासन करने लगी तो उसने दो प्रकार के खाते रखने आरम्भ किए। पहला राजनैतिक खाता तथा दूसरा व्यापारिक खाता। इन खाता के अलग होने पर भी बहुत सा व्यापारिक व्यय राजनैतिक खाते में लिखाया जाने लगा। इस प्रकार १८३४ तक जब कि कम्पनी का व्यापारिक कार्य बिल्कुल समाप्त हो गया तब कुल ऋण का अनुमान तीन करोड़ सत्तर लाख पौण्ड था। यह सब ऋण श्री लङ्का, ब्रह्मा, मलाया में युद्ध लड़ने में एकत्र हुआ था। इसके अतिरिक्त इस ऋण में बहुत सी ऐसी चीजें सम्मिलित थीं जिनका वास्तव में भारतवर्ष से कोई सम्बन्ध न था।

१८३४ ई० में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का कम्पनी से एक समझौता हुआ जिसमें कम्पनी की सब सम्पत्ति बादशाह ने भारत सरकार के नाम में लेली। इसके बदले कम्पनी का राजनैतिक तथा व्यापारिक ऋण सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। कम्पनी को उसके सामान के बदले १०½ प्रतिशत लाभांश अथवा ६,३०,००० पौण्ड देने का वचन दिया गया। इसको भारत में से दिया जाता था। १८३४ के पश्चात इस लाभांश के बदले सरकार ने कम्पनी के हर १०० पौण्ड के हिस्से के बदले २०० पौण्ड देने का वचन दिया। कम्पनी के अफसरों को भी उचित क्षति पूर्ति देने का वचन दिया गया। इस प्रकार भारतवर्ष के ऊपर कम्पनी का लगभग तीन करोड़ चालीस लाख पौण्ड का ऋण आ पड़ा।

इस समझौते के होते ही एक ऋण निष्क्रयण कोष (Debt Redemption Fund) कायम किया गया जिसके फलस्वरूप ऋण में कुछ कमी होने लगी। परन्तु

सरकार को ऋण भी लेना पडा। प्रान्तों का ऋण बढने का कारण यह था कि उन को बहुत सा धन उन्नति की योजनाओं पर खर्च करना पडा। इसके अतिरिक्त उन्होंने केन्द्रीय सरकार का भी ऋण चुकाया।

भारत के सार्वजनिक ऋण का अनुमान निम्नलिखित तालिका से हो सकता है—*

(करोड रुपए में)

	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४
रुपया ऋण	१४७८ ३१	१४५२ १५	१४३८ ४६	१४०२ १०	१४०५ ५८	१३८९ ५८
कोषागार-विपत्र						
तथा मार्गोपाय अग्रिम	३७३·३३	३६१·४८	३७३ २०	३३५ ०१	३१९ १९	४२९ ०४
अल्प बचतें	२७१ ७३	२९३ ८०	३२६ २५	३७२ ५७	४१७ ६४	४६२ ५७
अवमूल्यन सचित						
कोष	११६ ७७	१२६ १५	१५५ ५६	१७१ ४७	१७० १८	१५६ ४०
अन्य	१७२·७४	२२२ ७५	२०७ २६	१९३ ०२	१८९ १४	१९४ १३
स्टर्लिङ्ग ऋण	४२·८४	३९ ८३	३६ १७	३३ ४८	३० २३	२८ ९९
डालर ऋण	—	१६·७७	२४ ६०	११२ ०४	११३ ७४	११२ ७६
योग	२४५५·८०	२५१२·९३	२५६१ ५०	२६१९ ६९	२६४५ ७०	२७७६ ३७

इस ऋण को निम्नलिखित ढङ्ग से लगाया गया है—

(करोड़ रुपयों में)

	१९४८–४९	१९४९–५०	१९५०–५१	१९५१–५२	१९५२–५३	१९५३–५४
१ रेलें	६९२ ४७	७२३ ८०	८१४ १३	८३३ ६३	८६४ २३	८८३ २०
२ दूसरे व्यापारिक विभाग	४८ ८५	६८ १७	९० ११	११२ ९५	८१ २५	९० ३४
३ राज्यों आदि को दिया गया ऋण	११० ४८	१५८ ९२	२१६ ९७	३४१ २९	३७७ ४७	४७२ ७९
४ ब्रह्मा तथा पाकिस्तान पर ऋण	३४८ १५	३४८ १५	३४८ १५	३०८ १५	३४८ १५	३४८ १५
५ ब्रिटिश सरकार के पास रेलों की वार्षिकी चुकाने के लिए जमा किया धन	१५ ५३	१३ २६	१० ९६	८ ५३	५ ४४	४ ११
६ ब्रिटिश पेन्शनों के लिये खरीदी गई वार्षिकी	२१५ ६८	२०८ २६	२०० ८९	१९३ ५८	१८६ ३२	१७९ १६
योग	१४३१ १२	१५२१ ३९	१६८१ २१	१८३८ २३	१८६२ ८६	१९७८ ९७
७ द्रव्य तथा प्रतिभूति	२३५ ८१	१७२ ९९	१४१ ९७	१९८ ७०	१३६ १८	१०६ ५३
८ शेष	७८८ ८७	८१८ ५५	७३८ ३२	५८२ ७६	६४४ ६६	६८८ ८७
उपर्युक्त ऋण में ब्याज देने वाले ऋण का प्रतिशत	५८ २	६० ५	६५ ६	७० २	७० ४	७१ ३

द्वितीय महायुद्ध का भारत के सार्वजनिक ऋण पर प्रभाव—

१९३८–३९ में द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से पूर्व भारतवर्ष का कुल सार्वजनिक ऋण १२०५ ७६ करोड़ रुपए था। इसमें से ७३६ ६४ करोड़ रुपए का ऋण रुपए के तथा ४६९ १२ करोड़ रुपए का ऋण स्टर्लिंग के रूप में था। इस

1. Tables taken from Commerce - Annual Number—1953—P. 92.

प्रकार कुल ऋण का ६१.२ प्रतिशत भारतीय तथा शेष ३८.८ प्रतिशत विदेशी था। इस ऋण के विषय में एक मुख्य बात यह था कि इसमें से अधिकतर उत्पादक था अर्थात् ऐसे स्थानों पर लगाया गया था जहां से सरकार को आय प्राप्त होती थी। इस कुल ऋण में से ७४ ३८ करोड़ रुपए अर्थात् ७८.४ प्रतिशत उत्पादक था और केवल २२६ ०८ करोड़ रुपए अर्थात् १८.२ प्रतिशत अनुत्पादक था। शेष द्रव्य तथा प्रतिभूतियों के रूप में था।

युद्ध के कारण हमारा विदेशी ऋण प्राय चुका दिया गया है और उसके स्थान पर भारत का आन्तरिक ऋण बढ़ गया है। युद्ध छिड़ जाने पर भारतवर्ष ने अंग्रेजी सरकार को बहुत सी युद्ध सामग्री दी। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का व्यापारिक आधिक्य भी बहुत ही अधिक बनता रहा भारतवर्ष न रिजर्व बैंक द्वारा बहुत सी चांदी इंग्लैंड को बेची। इन सब बातों के कारण रिजर्व बैंक के पास स्टर्लिंग का स्टाक बढ़ता चला गया। इसी बीच हमारा गृह व्यय (Home charges) का खर्च निरन्तर घटता जा रहा था। १९३८–३९ में भारत सरकार को ३ करोड़ ६० लाख पौंड की देनदारी थी परन्तु यह कम होती चली गई यहां तक कि १९४१–४२ में भारतवर्ष को भारत मंत्री से कुछ मिलने की आशा थी।

स्टर्लिंग ऋण का चुकाया जाना (Repatriation of Sterling Debt)—स्टर्लिंग ऋण के चुकाने का काय १९३७ में ही आरम्भ हो गया था जब कि भारत सरकार ने रिजर्व बैंक को लदन में ३ तथा ३½ प्रतिशत की असमावधि स्टर्लिंग प्रतिभूतियां (Non terminable sterling securities) खरीदने की आज्ञा दे दी थी। इसके पश्चात् यह काम निरन्तर चलता रहा। ऐसा करते करते प्राय सभी स्टर्लिंग ऋण चुका दिया। थोड़ा बहुत जो रह गया वह कुछ विशेष कठिनाइयों के कारण न चुकाया जा सका। १९३६–३७ के अन्त में ३५ ६०५ करोड़ पौंड का स्टर्लिंग ऋण था। इसमें से १९४५ ४६ तक ३२ ३१२ करोड़ पौंड चुका दिया गया। इसके बदले ७७३ ५७ करोड़ रुपए का भारतीय ऋण उत्पन्न किया गया। इस प्रकार स्टर्लिंग ऋण जो मार्च १९३९ में ४६६ १० करोड़ रुपए था घटकर मार्च १९४५ में ६७ ५६ करोड़ रुपए रह गया और १९५३–५४ के बजट के अनुसार यह २८ ९९ करोड़ रुपए है। इसके विपरीत १९४५ में भारतीय ऋण ७०९ ९६ करोड़ रुपये से बढ़कर १५७१ ४२ करोड़ रुपए हो गया और १९५३–५४ के बजट के अनुसार यह २६३४ ७१ करोड़ था। इस प्रकार युद्ध के कारण भारतवर्ष कुछ ही वर्षों में ऋणी देश से ऋण दाता देश बन गया। इसके फलस्वरूप भारत की विदेशों में साख बढ़ गई। उसके ऊपर प्रतिवर्ष जो ब्याज का भार था वह समाप्त हो गया। अपनी इस बचत से भारत विदेशों से किए गए आयात का भुगतान कर सका। इसके कारण रुपया ऋण उत्पन्न हो गया